प्रत्यभिज्ञा दर्शन और माया

PHILOSOPHY OF RECOGNITION AND MĀYĀ

कथंचिदासाद्य महेश्वरस्य
दास्यं जनस्याप्युपकारमिच्छन् ।
समस्तसंपत्समवाप्ति हेतुं
तत्प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि ॥

विशालप्रसाद त्रिपाठी

प्रत्यभिज्ञा दर्शन और माया

प्रत्यभिज्ञा दर्शन और माया

काश्मीर शैव दर्शन के परिप्रेक्ष्य में विश्व-रचना-प्रक्रिया की समीक्षा

विशालप्रसाद त्रिपाठी
एम०ए०, दर्शनाचार्य, पीएच०डी०

पेनमैन पब्लिशर्स, दिल्ली

पेनमैन पब्लिशर्स
24/30, शक्ति नगर
दिल्ली-110007

प्रथम संस्करण 1990

आवरण : चन्द्रप्रकाश

मुद्रक : रविन्द्रा प्रिंटिंग प्रेस, मौजपुर, दिल्ली-110053 (भारत)
प्रकाशक : पेनमैन पब्लिशर्स, दिल्ली

PRATYABHIJNA DARSHANA AUR MAYA
by Tripathi, V. P.
(Philosophy, Sanskrit, Aesthetics, Hindi Literature)

निखिल संस्कृत वाङ्मय

के

असाधारण अधिकारी

तथा

वेद एवं वेदान्त

के

मर्मज्ञ विद्वान्

महामनीषी

गुरुकल्प

प्रो० त्र्यम्बक गोविन्द माईणकर

की

पुण्यस्मृति

में

पुरोवाक्

डॉ० विशालप्रसाद त्रिपाठी की शोध-कृति 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन और माया' से सामान्य रूप से संस्कृत-जगत् तथा विशेष रूप से भारतीय धर्म एवं दर्शन के प्राध्यापकों, छात्रों तथा जिज्ञासुओं को परिचित कराने के लिए इन पंक्तियों को लिखने में मुझे अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। विक्रम की उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में संस्कृत-वाङ्मय की विविध विधाओं को लेकर पर्याप्त शोध-कार्य सम्पन्न हुए हैं। किन्तु काश्मीर शैव दर्शन के क्षेत्र में शोध-कार्य उस अनुपात में नहीं हो पाया है। यहां तक कि इस क्षेत्र के अनेक मूल-ग्रन्थों का भी समुचित रूप से प्रकाशन भी नहीं हो सका है। इसका एक प्रमुख कारण इस विधा की दुरूहता एवं उसका साधनागम्य होना है। डॉ० त्रिपाठी ने इन कठिनाइयों के बावजूद इस विषय पर शोध-कार्य करने का जो साहस दिखाया उसका भी रहस्य है और वह यह कि लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रो० कान्तिचन्द्र पाण्डेय का आशीर्वाद इन्हें प्राप्त था जिन्होंने अपना सारा जीवन इसी विधा की साधना में विनियोजित कर दिया।

डॉ० त्रिपाठी के दिल्ली विश्वविद्यालय में पी-एच० डी० के पंजीकरण से लेकर सामग्री-संकलनादि कार्यों में मेरा योग रहा है। अन्ततोगत्वा प्रबन्ध की प्रस्तुति भी मेरे ही निर्देशन में हुई जिसके फलस्वरूप मैं आदि से अन्त तक इस कार्य से सर्वथा संलग्न रहा। डॉ० त्रिपाठी की सारी कठिनाइयाँ एवं उनके समाधान के लिए किए गए अथक प्रयास से मैं पूर्ण परिचित हूँ। इन्होंने इस कार्य को पूरा करने में जिस निष्ठा और धैर्य का परिचय दिया वह सर्वथा अभ्यर्हणीय है।

भारतीय दर्शन में माया की अवधारणा को समीक्षक अद्वैत वेदान्त की दुर्बलता मानते रहे हैं। उनका कहना है कि वेदान्त ने अद्वैत तत्त्व को युक्ति और तर्क से प्रमाणित करने में असमर्थ होकर माया का आश्रय लिया है। अन्यथा अमूर्त चैतन्य तत्त्व का मूर्तिमान् इस जगत् के रूप में प्रतिभासित होने की बात बुद्धिगम्य नहीं होती। वेदान्त के द्वारा इस सम्बन्ध में उपस्थापित रज्जु-सर्प का निदर्शन इसलिए संगत प्रतीत नहीं होता कि वहाँ रज्जु और सर्प की स्वतन्त्र सत्ता तो होती है। तभी रज्जु में सर्प की भ्रान्ति सम्भव है। पर वेदान्त में जगत् की परमार्थ सत्ता मान्य न होने से ब्रह्म में उसकी भ्रान्ति कैसे हो सकती है ? आधुनिक विज्ञान ने स्थूल परमाणुओं को तोड़कर उनके अमूर्त

ऊर्जा में परिवर्तित होने तथा उससे पुनः परमाणुओं की संघटना होने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जो बुद्धिगम्य न होते हुए भी वैज्ञानिक प्रक्रिया से अनुभवगम्य है। इसी प्रकार अमूर्त आत्मा का स्थूल भौतिक परमाणुओं के रूप में प्रतिभासित होने की रहस्यमय प्रक्रिया ही संभवतः माया है। चूंकि अमूर्त चैतन्य इतना सशक्त है कि वह मूर्त परमाणुओं के रूप में प्रतिभासित हो जाता है तथा उन्हें आत्मसात् भी कर लेता है। ऐसी स्थिति में स्थूल परमाणुओं से निर्मित इस जगत् को मिथ्या कहना कहाँ तक समीचीन है ? प्रत्यभिज्ञा दर्शन में भी माया को स्वीकार किया गया है तथा उसे शिव की अनन्य शक्ति माना गया है। साथ ही शिव से जगत् का आविर्भाव भी होता है किन्तु आविर्भूत जगत् को यथार्थ स्वीकार किया गया है। यहाँ भी विशुद्ध चैतन्यराशि शिव से जड-चेतनमय जगत् के आविर्भाव की प्रक्रिया भी रहस्यात्मक ही है। फलतः, काश्मीर शैव दर्शन को भी माया की अवधारणा स्वीकार करनी पड़ी।

डॉ० त्रिपाठी ने प्रस्तुत ग्रन्थ में उपर्युक्त एवं इसी प्रकार की अन्य दार्शनिक गुत्थियों को युक्ति एवं तर्क के सहारे सुलझाया है जिसमें इन्होंने इस क्षेत्र में हुए आधुनिकतम अनुसन्धानों का सदुपयोग भी किया है। मेरा विश्वास है कि डॉ० त्रिपाठी की यह कृति काश्मीर शैव दर्शन तथा सौन्दर्यशास्त्र के अध्येताओं में अवश्य लोकप्रिय होगी तथा इस विधा को लेकर शोधार्थियों और आधुनिक भारतीय साहित्यिक चिन्तन पर अक्षुण्ण रूप से प्रत्यभिज्ञा दर्शन के प्रभाव को समझने में सहायक सिद्ध होगी। ऐसी उत्तम रचना के लिए मैं डॉ० त्रिपाठी को बधाई देता हूँ तथा कामना करता हूँ कि वे निरन्तर शोध-कार्य में संलग्न रहकर इस विधा के रहस्यों को सर्वसामान्य विद्यार्थियों एवं जिज्ञासुओं के लिए सुलभ करायें।

अक्षय तृतीया, सं० 2047

व्रजमोहन चतुर्वेदी

संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली।

आमुख

मायावाद शांकर वेदान्त की विशिष्ट अवधारणा है। वेदों तथा उपनिषदों में अनुस्यूत माया पद का विनियोग आचार्य शंकर ने विश्व-रचनाबोध के सन्दर्भ में किया है। वह इसे ब्रह्म की अनन्य शक्ति मानते हैं तथा विश्व-प्रपंच की रचना एवं विस्तार की दृष्टि से इसकी अनिवार्य भूमिका स्वीकार करते हैं। वेदों के समानान्तर चलने वाली आगम-धारा में भी माया की इस भूमिका को स्वीकार किया गया है। मालिनी-विजयतन्त्र से प्राप्त माया की धारणा को काश्मीर शैव दर्शन अथवा त्रिकशास्त्र में प्रमुख स्थान दिया गया है। किन्तु जहाँ शंकर इसका उपयोग जगत् का मिथ्यात्व प्रतिपादित करने के लिए करते हैं, वहाँ शिवाद्वयवादी उसकी भूमिका जगत् से यथार्थ को सिद्ध करने में मानते हैं। उनकी दृष्टि में सृष्टि के दो रूप हैं—शुद्ध एवं अशुद्ध। शुद्ध सृष्टि तो शिव की स्वतंत्र इच्छा का प्रतिफलन है, किन्तु अशुद्ध सृष्टि का आभास माया शक्ति द्वारा ही सम्भव है। वह शिव की अपोहन शक्ति है जिसके द्वारा शिव से अभिन्न विश्व भिन्न जैसा प्रतीत होता है। शांकर वेदान्त में ब्रह्म के अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या है किन्तु त्रिकशास्त्र में जगत् का कर्ता, जगत् का कारण तथा जगत् तीनों की ही यथार्थ सत्ता है। दूसरे शब्दों में प्रमाता प्रमिति का साधन तथा प्रमेय तीनों ही यथार्थ हैं। यदि जगत् अपने कर्त्ता से अव्यतिरिक्त नहीं तो उसका स्वरूप कैसे भिन्न हो सकता है ? इस तथा इस जैसी कुछ अन्य समस्याओं को लेकर शांकरोत्तर वेदान्त-चिन्तकों ने शंकर की विचारधारा में कुछ प्रश्न-चिह्न लगा दिये थे। इसके विपरीत सोमानन्द से लेकर अभिनवगुप्त तक सभी काश्मीर शैव चिन्तकों ने जगत् की यथार्थ सम्बन्धी धारणा का समर्थन ही नहीं किया अपितु उसे उत्तरोत्तर पुष्ट किया है तथा विश्व-रचना-प्रक्रिया में माया की अनिवार्यता को निर्विवाद माना है। कुछ ऐसे ही प्रश्न थे जिन्होंने मुझे प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना के लिए प्रेरित किया। शांकर वेदान्त में माया के स्वरूप को लेकर तो अनेक कार्य हो चुके हैं किन्तु काश्मीर शिवाद्वयवाद में इस पक्ष को लेकर अभी तक कोई स्वतन्त्र कार्य नहीं हुआ था। उत्पलकृत 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' अभिनवगुप्त की 'विमर्शिनी' और इनके तन्त्रालोक आदि ग्रंथों के अनवरत अनुशीलन ने मुझे इस समस्या की ओर

उन्मुख किया। अन्त: प्रस्तुत ग्रन्थ में मैंने माया के इसी तुलनात्मक स्वरूप तथा विश्व-रचना-प्रक्रिया में इसकी भूमिका पर विचार किया है।

इस ग्रन्थ को मैंने सात उन्मेषों में विभक्त किया है। मेरे अध्ययन का मुख्य केन्द्र-विन्दु काश्मीर शैव दर्शन रहा है। अत: प्रस्तुत सन्दर्भ में मैंने मूल शैव दर्शन पर विचार करना उचित समझा। इसके प्रथम उन्मेष में शैव धर्म के मूलतत्त्व, इसके दर्शन के रूप में विकसित होने की प्रक्रिया एवं इतिहास तथा इसकी दर्शन के रूप में प्रतिष्ठा की चर्चा की गई है।

दूसरे उन्मेष में त्रिक साहित्य में माया शब्द के प्रयोग का अनुसन्धान करने का प्रयास किया गया है। इसमें स्रोत-साहित्य अर्थात् मूल तन्त्रों, सूत्र एवं कारिका-साहित्य तथा व्याख्याग्रन्थों में इस पद के प्रयोग एवं विस्तार पर विचार किया गया है।

त्रिकशास्त्र में हम दर्शन विशेष को प्रत्यभिज्ञा दर्शन कहते हैं। यह अभिधान इसे इस दर्शन के अनुसार ज्ञान के साधन को आधार बनाकर दिया गया है। अत: तीसरे उन्मेष में सांख्य एवं बौद्ध दर्शनों में इसके प्रतिभास को खोजने का प्रयत्न किया गया है।

चौथे उन्मेष में द्वैत तथा अद्वैत वेदान्त प्रस्थानों में माया के स्वरूप का विवेचन किया गया है।

पांचवें उन्मेष में माया, विकल्प तथा अविद्या आदि अवधारणाओं का तुलनात्मक समीक्षण किया गया है। इसके साथ ही इस उन्मेष में माया तथा मिस्टिसिज़्म पर भी एक सूक्ष्म दृष्टि डालने का प्रयास किया गया है।

छठे उन्मेष में अद्वैत वेदान्त तथा प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार माया के स्वरूपों की तुलना अथवा दूसरे शब्दों में विश्व-रचना-प्रक्रिया की तुलनात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इसमें ब्रह्म एवं शिव की अनन्य शक्ति माया की विश्व-रचना-प्रक्रिया में भूमिका तथा उसकी अनिवार्यता पर विस्तृत विचार किया गया है।

सातवें उन्मेष में इस तत्त्व को लेकर जो निष्कर्ष निकाले गये हैं उनकी चर्चा है। इसमें यह प्रतिपादित करने का प्रयास है कि मायावाद की परिणति काल एवं अकाल सिद्धान्तों के रूप में देखी जा सकती है। वस्तुत: प्रत्ययवादी तथा वस्तुप्रत्ययवादी दर्शनों में माया की परिकल्पना में काल एवं अकाल सिद्धान्तों के उद्भावक तत्त्व विद्यमान हैं। अत: इस अन्तिम उन्मेष में इसी तथ्य को निरूपित करने का प्रयास किया गया है।

लखनऊ विश्वविद्यालय में अपने अध्ययन-काल में मुझे तत्कालीन संस्कृत

विभागाध्यक्ष, शैवदर्शन एव सौन्दर्यशास्त्र के मर्मज्ञ मनीषी स्वर्गीय प्रो० कान्तिचन्द्र पाण्डेय का सान्निध्य तथा संसर्ग प्राप्त था। आज काश्मीर शैव-चिन्तन के क्षेत्र में मेरी जो भी गति है उसका श्रेय उन्हीं को जाता है। उनका पुण्यस्मरण मेरे लिए आज भी संवल बना हुआ है। भारतीय वाङ्मय के मूर्धन्य विद्वान्, दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग के पूर्व अध्यक्ष स्वर्गीय प्रो० त्र्यम्बक गोविन्द माईणकर अपने दिल्ली-प्रवास के दौरान तथा यहाँ से बम्बई और पुणे जाने के पश्चात् भी समय-समय पर मिलने पर तथा पत्र-व्यवहार द्वारा मुझे अपने शोध-कार्य के प्रति प्रेरणा और प्रोत्साहन देते रहे हैं। आज उस कार्य के पुस्तकरूप में प्रकाशन के अवसर पर मैं उनकी पुण्यस्मृति को प्रणाम करता हूँ। दिल्ली विश्वविद्यालय में संस्कृत के वरिष्ठ प्रोफेसर डॉ० ब्रजमोहन चतुर्वेदी के प्रोत्साहन और निर्देशन के बिना तो यह कार्य हो ही नहीं सकता था। न केवल मेरे पीएच० डी० के शोधप्रवन्ध के निर्देशन, अपितु इसके प्रकाशन के सम्बन्ध में भी उन्होंने जो अमूल्य सुझाव तथा सहायता की है उसी का परिणाम है कि यह पुस्तक आपके सामने है, अतः उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए मैं श्रद्धानत हूँ। वस्तुतः, मूलरूप में पीएच० डी० के लिए मेरा पंजीकरण दिल्ली विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के तत्कालीन प्रवाचक प्राचीन तथा अर्वाचीन दार्शनिक चिन्तन के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् प्रो० सुरेन्द्र बार्लिगे के निर्देशन में हुआ था। उनके निर्देशन की एक अनूठी प्रणाली थी। पड़ोस में रहने के कारण मुझे उनके साथ घूमने का पर्याप्त अवसर मिलता था; और उस भ्रमणकाल में ही वह मेरे शोध के सम्बन्ध में जितनी मूल्यवान और सार्थक बातें कर जाते थे वे न केवल मुझे शोधोन्मुख बनने में सहायक होती थीं, बल्कि अपने शोध-विषय के प्रति मेरे सोच को एक निश्चित दिशा प्रदान करती थीं। साठ के दशक के अन्तिम चरण के उन क्षणों को डॉ० बार्लिगे के साथ जीने का मैं पुनः प्रयास करता हूँ और आज इस पुस्तक के प्रकाशन के अवसर पर उनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। भारतीय दर्शन के प्रख्यात विद्वान् तथा हिन्दी साहित्य के कृती साहित्यकार प्रो० देवराज ने भी मुझे इस पुस्तक के प्रकाशन के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रेरणा प्रदान की है अतः उनके प्रति भी मैं हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। श्री सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के वर्तमान कुलपति श्रद्धेय डॉ० विद्यानिवास मिश्र भी यदा-कदा मिलने पर पुस्तक के प्रकाशन की याद दिलाते रहे हैं अतः आज मैं उनके प्रति भी आभार व्यक्त करना अपना कर्तव्य मानता हूँ। लखनऊ विश्वविद्यालय के 'अभिनवगुप्त शैवमत एवं सौन्दर्य दर्शन संस्थान' में प्रवाचक तथा अपने

अभिन्न मित्र डॉ० नवजीवन रस्तोगी के साथ विचार-विमर्श द्वारा मुझे माया की त्रिक-अवधारणा को समझने में पर्याप्त सहायता मिली है, अतः उनके प्रति भी मैं अपना स्नेहाभार व्यक्त करता हूं। मेरा आभार-प्रदर्शन अधूरा रहेगा, यदि मैं दिल्ली विश्वविद्यालय के पुस्तकालय-कर्मचारीगण को अपने शोधकाल के दौरान उनके द्वारा दिए गए यथेष्ट सहयोग के लिए धन्यवाद नहीं देता। श्री जवाहरलाल गुप्त के सहयोग तथा प्रकाशन-कौशल के बिना तो इस पुस्तक का प्रकाशन सम्भव ही न था, अतः उनको भी मैं सस्नेह धन्यवाद देता हूँ।

गंगा-दशहरा, सं० 2047
सेक्टर 4/664, तिमारपुर, दिल्ली-110054

विशालप्रसाद त्रिपाठी

सन्दर्भ-संकेत

अ० सु०	अनुभव-सूत्र
अ० गु०, द्वि० सं०	अभिनवगुप्त, द्वितीय संस्करण
अष्टा०	अष्टाध्यायी
ई० प्र० का०	ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-कारिका
ई० प्र० वि०	ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी
ई० प्र० वि० व्या०	ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी-व्याख्या
क्र० स्तो०	क्रम-स्तोत्र
का० सं० ग्रं०	काश्मीर संस्कृत-ग्रन्थावली
गी० र० भू०	गीतारहस्य-भूमिका
गौ० का०	गौडपाद कारिका
छान्दोग्य०	छान्दोग्य उपनिषद्
तन्त्रा०	तन्त्रालोक
तन्त्रा० टी०	तन्त्रालोक-टीका
त० सा०	तन्त्रसार
नी० पु०	नीलमत-पुराण
नी० म०	नीलमत
न्या० मं०	न्यायमंजरी
प० च०	परमार्थचर्चा
प० सा०	परमार्थसार
प० सा० टी०	परमार्थ-सार-टीका
पा० सू०	पाशुपत-सूत्र
पा० सू० भा०	पाशुपत-सूत्र-भाष्य
पं० द०	पंचदशी
पं० वि०	पंचपादिका-विवरण
प्र० हृ०	प्रत्यभिज्ञाहृदयम् =
प्र० हृ० ने० प० हा०	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, नेशनल पब्लिशिंग हाउस

प्र० लि० ली०	प्रभुलिंगलीला
ब्र० सू० शां० भा०	ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य
भ० गी०	भगवद्गीता
भा० द० इ०	भारतीय दर्शन का इतिहास
भा० सं० सा०	भारतीय संस्कृति और साधना
म० मं०	महार्थमंजरी
मा० का०	माध्यमिककारिका
मा० वृ०	माध्यमिकवृत्ति
मा० वि० तं०	मालिनीविजयतन्त्र
र० पं०	रहस्यपंचदशिका
वृहदा०	वृहदारण्यक उपनिषद्
वे० त० बो०	वेदान्त तत्त्व-बोध
शां० भा०	शांकरभाष्य
शां० भा० तैत्त० उप०	शांकरभाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद्
शि० दृ०	शिवदृष्टि
शि० दृ० वृ०	शिवदृष्टिवृत्ति
शि० सू०	शिवसूत्र
शि० सू० वि०	शिवसूत्रविमर्शिनी
श्वेता०	श्वेताश्वतर उपनिषद्
सां० का०	सांख्यकारिका
सां० त० कौ०	सांख्यतत्त्वकौमुदी
सां० सू०	सांख्य-सूत्र
सं० नि०	संयुत्त निकाय
सं० शा०	संक्षेपशारीरक
सि० ले० सं०	सिद्धान्तलेशसंग्रह
सि० शि०	सिद्धान्तशिखामणि
स्त० चिन्ता०	स्तवचिन्तामणि
स्पं० का०	स्पंदकारिका
स्व० तं०	स्वच्छन्दतन्त्र

विषयानुक्रम

प्रथम उन्मेष

शैव धर्म एवं दर्शन

सामान्यतः धर्म मनुष्य की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है। पर्यावरण एवं परिवेश आस्थाओं को जन्म देते हैं। आस्थाओं से संमिश्र होकर अनुभूतियां धर्म के रूप में अभिव्यक्त होती हैं। आज की विकासशील संस्कृति, सामाजिक चेतना तथा लोकतान्त्रिक परिवेश मताग्रही धार्मिक परम्परा को अधिक महत्त्व नहीं देता। आत्माभिव्यक्ति-प्रधान आधुनिक युग ने सत्तावादी निरंकुशता अर्थात् व्यक्ति अथवा समुदाय विशेष के मनमानीपन को बहुत कुछ समाप्त कर दिया है। आज का मानव मात्र श्रद्धाजीवी न रहकर तर्क को अधिक महत्त्व देने लग गया है। आज मनुष्य को ऐसे धर्म की तलाश है जिसमें आध्यात्मिक शान्ति के साथ-साथ बुद्धि-विमर्श तथा दार्शनिक चिन्तन के लिए भी स्थान हो। भारतीय धर्म और खासतौर पर शैवधर्म में ये तत्त्व शुरू से ही विद्यमान थे। इसका मुख्य कारण यह है कि यहां धर्म तथा दर्शन का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। धर्म मनुष्य की प्रेरणा का स्रोत है तो दर्शन उस प्रेरणा में निखार उत्पन्न करता है, उसे जीवन से जोड़ता है। वास्तव में भारतीय धर्म एवं दर्शन जीवन को पूर्णता प्रदान करते हैं। हमारे यहां धर्म केवल आध्यात्मिक पिपासा ही नहीं, सामाजिक मूल्य भी है। अतः उस मूल्य को परखने की भी आवश्यकता होती है। यह काम दर्शन करता है। पाश्चात्य जगत् भी आज धर्म को इसी रूप में देखने लग गया है।[1] नीचे की पंक्तियों में हम शैवधर्म के विकास पर इसी प्रप्रिेक्ष में विचार करेंगे। शैवमत को दार्शनिक धरातल तक पहुंचने के लिये एक लम्बी यात्रा तय करनी पड़ी है। इसके पहले कि हम इस विकास-प्रक्रिया पर विचार करें, इसके धार्मिक सिद्धान्तों को समझना आवश्यक होगा।

शैव धर्म के मूल तत्त्व

अत्यन्त प्राचीनकाल से भारतीय चिन्तन जगत् में दो धारायें प्रस्फुटित हुईं—(1) वैदिक धारा (2) अवैदिक धारा। दूसरे शब्दों में निगम-धारा तथा आगमिक धारा अर्थात् निगम-सम्मत-चिन्तन-सरणि और आगम-सम्मत-चिन्तन

सरणि। (कभी-कभी निगम और आगम तन्त्रसाहित्य की दो विधाओं के द्योतक माने जाते हैं। तन्त्र साहित्य अधिकांशतः संवाद-शैली में विकसित हुआ है। अतः एक में पार्वती गुरु के रूप में उपदेश करती हैं और शिव शिष्य के रूप में प्रश्न करते हैं तथा उत्तर सुनते हैं और दूसरी विधा में शिव गुरु होते हैं तथा पार्वती शिष्य और वही प्रश्नोत्तर की प्रक्रिया चलती रहती है) अधिष्ठातृ देवता को आधार बना कर इनमें से एक को वैष्णव धारा कहा गया और दूसरी के दो वर्ग हो गए—शाक्त धारा तथा शैव धारा। समानान्तर चलते रहने के बावजूद इन धाराओं में कुछ बातों को छोड़कर कोई विशेष विरोध नहीं प्रतीत होता। दोनों का उद्देश्य आस्तिकता को सुदृढ़ करना तथा जीवन को सन्मार्ग पर ले जाना रहा है। यह बात अलग है कि एक में आत्म-संयम तथा इन्द्रिय-निग्रह पर विशेष बल दिया गया, दूसरी इस विषय में कुछ उदार रही। हां, योग का दोनों में विशेष स्थान रहा। हम देखते हैं कि शैवमत के अधिष्ठातृ देव शिव भी योगिराज कहलाते हैं और वैष्णवमत के आराध्यदेव कृष्ण भी। अनेक आगमिक ग्रंथों में वेदों से उद्धरण इस बात के परिचायक हैं कि स्वतन्त्र रूप से चलती रहने वाली इन दोनों धाराओं में कम से कम विरोध तो नहीं था। इतना ही नहीं, शैव एवं वैष्णव सम्प्रदायों के मान्य ग्रन्थों में भी यही समन्वयात्मक दृष्टिकोण उपलब्ध होता है। महाभारत में कृष्ण अपने नामों का निर्वचन करते हुए कहते हैं—

> अहमात्मा हि लोकानां विश्वानां पाण्डुनन्दन,
> तस्मादात्मानमेवाग्रे रुद्रं सम्पूजयाम्यहम्।
> यद्यहं नार्च्चयेय वै ईशानं वरदं शिवम्,
> आत्मानं नार्च्चयेत्कश्चित् इति मे भावितात्मनः।
> मया प्रमाणं हि कृतं लोकः समनुवर्तते
> प्रमाणानि हि पूज्यानि ततस्तं पूजयाम्यहम्।
> यस्ते वेत्ति स मां वेत्ति योऽनु तं स हि मामनु,
> रुद्रो नारायणश्चैव सत्त्वमेकं द्विधा कृतम्।[2]

इन दो आन्दोलनों में से एक का स्रोत है वैदिक साहित्य और दूसरे का विकास शैवागमों से हुआ। जहां तक शैव आन्दोलन का प्रश्न है—यह 3000 ई० पूर्व भारत में विद्यमान था। सर जॉन मार्शल के अनुसार मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा से हमको जो भी उपलब्धियां हुई उनमें इस बात का अनुसंधान सबसे महत्त्वपूर्ण है कि शैवमत का इतिहास पाषाण-युग अथवा उससे भी प्राचीन है तथा वह विश्व का सबसे प्राचीन दर्शन है।[3] यह निर्विवाद है कि शिव द्रविड़ और प्रागैतिहासिक देवता हैं तथा शैव आन्दोलन वैदिक आन्दोलन से

शताब्दियों पुराना है।

शैवधर्म के मूल सिद्धान्तों का विवेचन करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि भारत में विभिन्न कालों में अनेक शैवागम-सम्प्रदाय अस्तित्व में आये और उन्होंने अपने-अपने धार्मिक सिद्धान्तों का विकास किया। इनमें से पांच सम्प्रदाय प्रमुख हैं—(1) महापाशुपत अथवा नकुलीश पाशुपत (2) शैव सिद्धान्त (3) वीर शैवमत (4) शाक्त मत तथा (5) काश्मीर शैवमत। इनमें से प्रथम तीन का अभ्युदय तथा विकास दक्षिण के तीन राज्यों में हुआ। नकुलीश पाशुपत धर्म की विकासभूमि आन्ध्र प्रदेश है, शैव-सिद्धान्त तमिलनाडु की देन है तथा वीर शैवमत का आविर्भाव कर्नाटक में हुआ। इसके विपरीत शाक्तमत की विभिन्न शाखाएं भारत के विभिन्न भागों में समय-समय पर विकसित होती रहीं तथा काश्मीर शैवमत का जन्म काश्मीर में हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि आगम संस्कृति यद्यपि द्रविड़ संस्कृति है, किन्तु शनैः शनैः आर्य संस्कृति के साथ मिलकर इसका विकास समूचे देश में हुआ और एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में शैवधर्म भारत के कोने-कोने में पहुँच गया। यहां तक कि पूर्वांचल प्रदेश तथा मध्य भारत भी इस आन्दोलन से अप्रभावित नहीं रह सका। काशी तथा उज्जयिनी की शैव संस्कृति इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। इतना ही नहीं, असम, उत्कल प्रदेश तथा बंगाल में भी शैव एवं शाक्त परम्पराएँ अपने ढंग से विकसित होती रहीं। यह बात अलग है कि देश, काल तथा प्रचलित धार्मिक परम्पराओं, उपासना-पद्धतियों और साधना-क्रियाओं का इन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। अतः कहीं-कहीं इनके स्वरूप में भी अन्तर आ गया, किन्तु शैव-संस्कृति अथवा और स्पष्ट कहें तो आगम-संस्कृति की मूल-भावना सर्वत्र समान रूप से विद्यमान रही। यही कारण है कि विश्व का सर्वप्राचीन धर्म एवं प्रागैतिहासिक सांस्कृतिक धारा होने के बावजूद यह धर्म अपने शाश्वत मूल्यों तथा उदार दृष्टि के कारण आज भी भारतीय समाज के प्रत्येक वर्ग का आकर्षण-बिन्दु बना हुआ है। पांच सम्प्रदायों के रूप में उपर्युक्त विभाजन में भी आप देखेंगे कि यद्यपि इनका विकास भारत के विभिन्न प्रदेशों में हुआ अतः इनके स्वरूप एवं सिद्धान्तों में न्यूनाधिक अन्तर आ गया, तथापि कुछ मूलभूत बातें सभी सम्प्रदायों में समान रूप से बनी रहीं।

इन सम्प्रदायों में से प्रत्येक का अपना कुछ वैशिष्ट्य है जिससे कि एक दूसरे के भेद का पता चल सके तथा हर सम्प्रदाय का अपना पृथक् साहित्य है।

यद्यपि शैवधर्म एक प्रागैतिहासिक एवं आदि आध्यात्मिक अनुशासन है,

तथापि अनेक शताब्दियों तक इसका अनवरत एवं अप्रतिहत विकास होता रहा, अतः स्वाभाविक था कि इसमें अनेक विचारों का समावेश होता। ठीक औपनिषदिक अनुशासन की भांति शैव-अनुशासन ने भी समय के प्रवाह के साथ विभिन्न आयाम प्राप्त किये तथा इसके सिद्धान्तों ने विभिन्न मोड़ लिए। यह बात वस्तुतः समग्र हिन्दू चिन्तनधारा के बारे में कही जा सकती है। यह वास्तव में भारतीय मस्तिष्क की उर्वरता तथा समृद्ध चिन्तनशीलता का प्रतीक है। सम्भवतः श्री बी० भट्टाचार्य के मस्तिष्क में यही बात थी जब उन्होंने लिखा था—'अनवरत तथा अप्रतिहत गति से विकसित होने वाले किसी भी सिद्धान्त में जिसको एक प्रवाहमयी सरिता की भांति अपने में विभिन्न युगों तथा लोगों का प्रतिनिधित्व करने वाले सहायक मत-मतान्तरों को स्थान देना पड़ा हो, स्वाभाविक था कि चिन्तन के विभिन्न तत्त्वों का समावेश होता।[5]

ऊपर जिन शैव-सम्प्रदायों की चर्चा हुई उनके धार्मिक सिद्धान्तों के स्रोत शैवागम अथवा शैव तन्त्र थे। उनके मूल तत्त्व इस प्रकार हैं—

पाशुपत सम्प्रदाय

माधव ने अपने 'सर्वदर्शन-संग्रह' में शैवमत के निरूपण-प्रसंग में जिस पाशुपत अथवा नकुलीश-पाशुपत-सम्प्रदाय का उल्लेख किया है उनमें हमें शैवदर्शन के सिद्धान्त कम, शैवधर्म अथवा वैराग्याचार के अधिक दर्शन होते हैं। कहा जाता है कि स्वयं भगवान शिव ने नकुलीश के रूप में जन्म लिया था अतः उन्होंने स्वयं ही पाशुपत सूत्रों की रचना की। इन सूत्रों पर प्राप्त कौंडिण्य-भाष्य से भी स्पष्ट है कि ये सूत्र हमें शैवमत का कोई दर्शन नहीं देते। उनमें पूर्णतया कर्मकाण्डों अथवा जीवनाचारों की व्याख्या है। डा० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त कहते हैं—

"यह भी संभव है कि जीवन के ऐसे वैराग्याचार प्राचीनकाल से ही प्रचलित हों तथा शैवमत का दर्शन इनके साथ बाद में जोड़ दिया गया हो। यद्यपि जीवन के ऐसे वैराग्याचारों का बाद में प्रतिपादित शैवदर्शन से कोई संबंध नहीं है, तथापि सामान्य मानवशास्त्रीय दृष्टि से तथा धार्मिक दृष्टि से वे रोचक अध्ययन का विषय हो सकते हैं क्योंकि वैराग्य के ये आचार उन मनुष्यों के जीवन से सम्बन्धित हैं, जो शैवदर्शन में विश्वास करते हैं।[6]

जैसा कि ऊपर कहा गया माधव पाशुपत प्रणाली का उल्लेख किसी दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में नहीं, अपितु वैराग्यसाधना के रूप में करते हैं। आचार्य शंकर भी शैव प्रणाली का खंडन किसी दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में प्रायः नहीं करते। वे शैवों को 'ईश्वरकारणी' मानते हैं अर्थात् वह धार्मिक

मान्यता जिसके अनुसार ईश्वर ही संसार का कारण है। टीकाकार कौंडिण्य अपने भाष्य का प्रारम्भ उन भगवान पशुपति की स्तुति से करते हैं जिन्होंने ब्रह्मा से आरम्भ कर सम्पूर्ण संसार की सृष्टि सबके शुभ के लिए की है। पाशुपत सम्प्रदाय पंचार्थ सम्प्रदाय कहलाता है क्योंकि इसमें पांच विषयों की ही मुख्य रूप से चर्चा की गई है। वे पांच विषय हैं—(1) कार्य (2) कारण (3) योग (4) विधि तथा (5) दु:खान्त। प्रथम सूत्र के शब्द हैं—अथात: पशुपते: पाशुपतं योगविधिं व्याख्यास्याम:। अर्थात् इसके अनन्तर हम पशुपति के साथ संयोग की विधि तथा पाशुपत आचार की व्याख्या करेंगे। अभिप्राय यह कि पाशुपत-विधि द्वारा जगत् के कारणभूत भगवान् पशुपति अर्थात् शिव के साथ एकत्व प्राप्त करके सांसारिक दु:खों से मुक्ति (मोक्ष) प्राप्त की जा सकती है। इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि पाशुपत-प्रणाली का उपदेश सभी प्रकार के दु:खों के पूर्ण रूप से विनाश के लिए है। इस उपदेश का अधिकारी केवल वही है जो प्रभु द्वारा निर्धारित वैराग्य के आचारों का अनुसरण करता है। तभी वह उस प्रभु की अनुग्रह द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है। भगवान पशुपति परम करुणामय हैं। अनुग्रह का यह सिद्धान्त कर्म-सिद्धान्त तथा पुनर्जन्म सिद्धान्त से बहुत भिन्न नहीं है तथा न्याय द्वारा प्रतिपादित कर्मसिद्धान्त से बहुत कुछ साम्य रखता है, किन्तु पाशुपत सूत्र कहता है कि मोक्ष शिव के अनुग्रह से प्रत्यक्ष प्राप्त होता है। 'पशु' शब्द का अभिप्राय संतों तथा समस्त शक्तिमानों के अतिरिक्त चेतन प्राणियों से है। पशुत्व द्योतक है—उनकी निर्बलता का। यही निर्बलता उनका बन्धन है। यह बन्धन अर्थात् कारणशक्ति पर उनकी निर्भरता अनादि है। पशुशब्द पाश से सम्बन्धित है। इसका अर्थ कारण तथा कार्य है। शास्त्रीय भाषा में इसे ही हम 'कला' कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि समस्त पशु कारण एवं कार्य तथा ऐन्द्रिय पदार्थों और उनके विषयों से बंधे हैं। 'पशु' शब्द 'पश्यति' से निकला है। यद्यपि समस्त पशु सर्वव्यापक तथा शुद्ध चेतन स्वरूप हैं तथापि वे केवल अपने शरीरों का ही प्रत्यक्ष कर सकते हैं। उनको कारण और कार्य के स्वरूप का बोध नहीं हो पाता, तथा वे उनसे परे नहीं जा सकते। पशुपति का अर्थ है—सभी पशुओं अर्थात् जीवों का स्वामी अर्थात् उनकी रक्षा करने वाला। कौंडिण्य का स्पष्ट निर्घोष है—दु:खों से मुक्ति केवल ज्ञान, वैराग्य, धर्म, ऐश्वर्य एवं त्याग के द्वारा नहीं अपितु प्रसाद द्वारा ही प्राप्त हो सकती है।[8]

'योग' शब्द आत्मा का ईश्वर के साथ संयोग का परिचायक है। अत: संयोग का अर्थ यह हुआ कि जो मनुष्य इधर-उधर के विषयों में भटक रहा था वह ईश्वर के श्रेष्ठ विषय की ओर उन्मुख होता है, अथवा यह भी कहा जा

सकता है कि ईश्वर तथा मनुष्य दोनों का सम्पर्क तब तक चलता रहता है जब तक मनुष्य ईश्वर में पूर्णत: विलीन नहीं हो जाता। सांसारिक विषयों के प्रति संसक्ति का अभाव अथवा विरक्ति योग की प्रथम आवश्यकता है।

योग की प्राप्ति केवल ज्ञान द्वारा संभव नहीं, इसके लिए अपेक्षित है— एक प्रक्रिया अर्थात् एक निश्चित कर्मपथ। इसी को पाशुपत प्रणाली में विधि कहते हैं। विधि का अर्थ है— कर्म। इस प्रकार पाशुपत शास्त्र के अनुसार सुख तथा दु:ख के विनाश के रूप में कार्य, कारण, योग तथा विधि—ये चार तत्त्व हैं। इन्हीं के द्वारा आत्यन्तिक निवृत्ति अर्थात् जीवन की पूर्णता सम्भव है।

महेश्वर जिन्हें ब्रह्मन् भी कहा जाता है, अनादि तथा अविनाशी है। अजन्मा तथा सर्वरोगरहित महेश्वर के स्वरूप का बोध हो जाने पर मनुष्य को उनकी शरण में जाना चाहिए तथा उनके द्वारा शास्त्रों में वर्णित आचारों का पालन करना चाहिए।

महेश्वर अपने लीलामय स्वरूप में संसार के समस्त पदार्थों की सृष्टि तथा संहार करते हैं। ईश्वर महान् है क्योंकि वह समस्त जीवों की गतियों तथा प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करता है। उसकी नित्यता उसके निरन्तर ज्ञान तथा क्रिया में है। इसी के द्वारा वह सब में व्याप्त है। उसे रुद्र भी कहते हैं क्योंकि वह सबको भय से संयोजित करता है।[9]

महाप्रभु स्वस्थित विश्व की सृष्टि, पालन तथा संहार करता है अर्थात् नभ में नक्षत्रपुंज की भाँति विश्व प्रकट तथा लुप्त हो जाता है। ईश्वर अपनी संकल्पशक्ति से विश्व की सृष्टि करता है क्योंकि कार्यरूप समस्त जगत् उसके स्वयं के बल तथा शक्ति में अवस्थित है तथा उसकी शक्ति के कारण ही निरन्तर स्थित रहता है। इसी संकल्पशक्ति के प्राबल्य तथा नि:सीम होने के कारण ईश्वर अपनी इच्छानुसार संसार तथा मनुष्यों के प्रारब्ध में परिवर्तन घटित कर सकता है। वह आवश्यक रूप से मनुष्य अथवा उसके कर्म पर निर्भर नहीं है।[10] ईश्वर का संकल्प विकास की प्रक्रिया के रूप में अथवा पदार्थों की अवस्था में बन्धन अथवा मुक्ति का प्रवेश कराते हुए हस्तक्षेप द्वारा कार्य कर सकता है। किन्तु ईश्वर के संकल्प-निष्पादन में एक सीमा यह है कि मुक्त आत्माएं पुन: दु:ख से संयोजित नहीं होती। कार्यरूप संसार की सीमा यह है कि इसकी उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार अथवा परिवर्तन, कारण तत्त्व अर्थात् परमेश्वर द्वारा होता है। जो सभी दु:खों का अत्यन्त विनाश चाहते हैं, उन्हें स्वयं को किसी अन्य की नहीं, वरन् भगवान शिव की पूजा में संलग्न कर लेना चाहिए।

पाशुपत प्रणाली अपने भक्त को यह भी परामर्श देती है कि पाशुपत योगी को

अद्भुत शक्तियों को प्राप्त पर बहुत अधिक प्रसन्न नहीं होना चाहिए। तीर्थ-स्थान, मन्दिरों तथा साधारण मनुष्यों के बीच उसे भस्म का लेप तथा मन्दहास आदि व्यवहार करते रहना चाहिए। इसे चर्या कहते हैं। इसमें योगी का आनन्द अद्भुत शक्तियों की प्राप्ति के अभिमान के किसी रूप के साथ संयोजित नहीं, बल्कि अपने शुद्ध रूप में अभिव्यक्त होना चाहिए।

आध्यात्मिक पूजा की प्रक्रिया तभी संभव है जब मनुष्य अपने में महेश्वर के प्रति समर्पण प्रक्रिया प्रारम्भ कर दे तथा यह प्रक्रिया तब तक चलती रहे जब तक लक्ष्य की प्राप्ति न हो जाए। जब मनुष्य अपने को पूर्णरूपेण परमेश्वर को समर्पित कर देता है, तब वह मोक्ष की अवस्था से वापस नहीं आता। आत्मसमर्पण का यही रहस्य है।[11]

महेश्वर शिव भी कहलाता है, इसलिए कि वह समस्त दुःखों से सर्वदा पृथक् है। ईश्वर को पति भी कहा जाता है। इसका कारण यह है कि वह सदैव उच्चतम शक्तियों से संयोजित रहता है। यह शक्तियां उसे किसी क्रिया के फलस्वरूप प्राप्त नहीं है, अपितु उसमें नित्य रूप से विद्यमान हैं। इसीलिए वह अपनी संकल्प-शक्ति द्वारा ऐसे कार्यजाल का विस्तार कर सकता है जिसे हम सृष्टि कहते अथवा समझते हैं तथा इसीलिए विश्वरचना उसकी लीला मानी जाती है। इसीलिए वह अन्य समस्त जीवित प्राणियों से भिन्न है। इसी में उसकी महत्ता सन्निहित है।

पंचार्थवादी पाशुपत सम्प्रदाय में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान अन्तिम तत्त्व अर्थात् दुःखान्त का है। पशु कार्य का द्योतक है तथा पति अर्थात् शिव उसके कारण का। योग यहाँ पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित चित्तवृत्ति-निरोध नहीं, अपितु है—निरन्तर सम्पर्क-प्रक्रिया जिसे दूसरे शब्दों में सायुज्य कहते हैं और विधि है उस सम्पर्क को प्राप्त करने तथा अक्षुण्ण रखने का साधन। इसके बिना पाशुपत योगी उस अवस्था तक नहीं पहुंच सकता जिसे दुःखान्त अवस्था कहा गया है। विधि अथवा उपयुक्त धार्मिक आचरण में वे कर्म सम्मिलित है जो अन्ततोगत्वा मनुष्य को शुद्ध करते हैं और परमेश्वर के समीप ले जाते हैं। इस सम्बन्ध में पापों के विनाश तथा गुणों के उत्कर्ष के लिए 'तप' का विधान किया गया है। धर्म जिसके अन्तर्गत अनेक कर्मकाण्ड सम्बन्धी आचरण आते हैं, ज्ञान-प्राप्ति का अनिवार्य-साधन माना गया है। इसमें ईश्वर का सतत् चिन्तन जिसे नित्यता कहा गया है तथा बुद्धि का सर्वथा दोषरहित होना जिसे स्थिति कहते हैं, आदि बातों का भी विधान है। अन्ततः यही बातें मोक्षप्राप्ति में सहायक होती हैं तथा मनुष्य स्वयं शिव के समान अद्भुत शक्तियों से युक्त हो जाते हैं। अन्य प्रणालियों में मुक्त आत्मा में कोई चमत्कारी अथवा अद्भुत

शक्तियां नहीं बतलाई गई हैं, केवल इतना है कि इनके समस्त दुःखों का क्षय हो जाता है।

उपर्युक्त उपलब्धियाँ गुरु के सान्निध्य, अथवा उस स्थान पर जहां शुद्धाचरणयुक्त एवं नियमित चर्यायुक्त व्यक्ति रहते हैं, अथवा किसी गुप्त, स्वच्छ, रिक्त स्थान में अथवा श्मशानभूमि में हो सकती हैं। अन्त में मुमुक्षु अपना पार्थिव शरीर त्याग कर परमेश्वर के साथ स्थायी संयोग प्राप्त कर सकता है।

निष्कर्ष यह कि जब कोई अपने समस्त कर्मों तथा पापों से सर्वथा विरक्त हो जाता है तो उसे चाहिए कि संसार के समस्त विषयों से अपनी बुद्धि हटाकर शिव अथवा किसी प्रतीकात्मक नाम पर मन को केन्द्रित करके चिन्तन करे। यह बात तो हम देख ही चुके हैं कि पाशुपत अनुशासन अथवा नकुलीश सम्प्रदाय के अनुसार योग का अर्थ महेश्वर के साथ निरन्तर संयोग है। इसी को दूसरे शब्दों में सायुज्य अर्थात् ईश्वर का साहचर्य कहते हैं।

इस प्रणाली में नैतिक गुणों को विकसित करने वाली बातों पर भी पर्याप्त बल दिया गया है। इनमें अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य तथा अपरिग्रह आदि प्रमुख हैं। ये वस्तुतः यम कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त नियम आते हैं, जिनमें अक्रोध, गुरुसेवा, शुद्धता, हल्का भोजन तथा अप्रमाद आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जैन शासनावलम्बियों की भांति पाशुपत प्रणाली में भी अहिंसा को प्रमुखता दी गई है। ब्रह्मचर्य का अर्थ सभी प्रकार का इन्द्रिय-नियन्त्रण है। इसी प्रकार सत्य का वास्तविक मापदण्ड यही माना गया है कि उसके बोलने से अधिकाधिक जनकल्याण हो। यहां एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि पाशुपत प्रणाली सभी प्रकार के वाणिज्य-कर्म तथा व्यापार का निषेध करती है, क्योंकि इससे परस्पर व्यवहार करने वाले व्यक्तियों को कष्ट पहुंच सकता है।

पाशुपत सूत्रों तथा कौंडिण्य भाष्य के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सर्वदर्शन-संग्रह में उल्लिखित नकुलीश पाशुपत प्रणाली ही वस्तुतः इन सूत्रों की प्रणाली है। शंकर द्वारा शारीरक भाष्य में चर्चित पाशुपत मत भी संभवतः यही रहा होगा। इसमें मायावाद अथवा शंकर के अद्वैत का कोई उल्लेख नहीं है। इसके अनुसार मुक्ति का अर्थ शिव के साथ एकाकार होना नहीं अपितु मानसिक स्थिरता के कारण शिव के निरन्तर सम्पर्क में रहना है। इसे ही वस्तुतः सायुज्य कहते हैं। यहां यह भी कहा गया है कि यद्यपि महेश्वर सर्वशक्तिमान् है, तथापि मुक्त आत्मा पर उसकी शक्ति काम नहीं करती। पाशुपत मतावलम्बी यह तो मानते हैं कि ईश्वर जीव तथा

जगत् का स्रष्टा है किन्तु इस बात का निर्देश कहीं नहीं मिलता कि यह विश्व अस्तित्व में कैसे आया। इस प्रकार शिव को जगत् का निमित्त कारण स्वीकार करने के कारण पाशुपत प्रणाली श्रीकण्ठ द्वारा प्रतिपादित शैव प्रणाली तथा वायवीय संहिता की प्रणाली से अत्यन्त भिन्न है क्योंकि वहाँ अद्वैत पक्ष पर विशेष बल दिया गया है। यहाँ एकतत्त्ववाद, आंतरातीत ईश्वरवाद अथवा सर्वेश्वरवाद नहीं है, बल्कि यहाँ एकेश्वरवाद है।

इन सूत्रों के अध्ययन से एक प्रश्न और उठता है—क्या यह प्रणाली ब्राह्मणवादी प्रणाली है, क्योंकि इसमें ऐसा उल्लेख है कि केवल ब्राह्मण ही दीक्षा का अधिकारी है। किन्तु इसमें अनेक ऐसी बातों की चर्चा है जिससे यह ब्राह्मणवाद से सर्वथा भिन्न प्रतीत होती है। यह ब्राह्मणों के मान्य कर्मकाण्डों का बिल्कुल समर्थन नहीं करती बल्कि अपने नये कर्मकाण्ड तथा नवीन जीवन-दृष्टि की दीक्षा देती है। 'ओम्' शब्द पर विचार करने के कारण इस प्रणाली पर ब्राह्मणवादी प्रणालियों का कुछ प्रभाव प्रतीत होता है परन्तु अन्य अनेक बातों में इसका वेदों से सर्वथा मतभेद है। यहीं एक बात और स्पष्ट करना अप्रासंगिक न होगा कि यद्यपि प्राय: सभी शैवमतों का विकास आगमों से हुआ है किन्तु उनमें कहीं भी वैदिक प्रणाली का स्पष्ट विरोध नहीं दृष्टिगोचर होता। पाशुपत सम्प्रदाय में एक और भी विचित्र बात है—इसका सूत्रकार अथवा भाष्यकार कहीं भी किसी द्रविड़-ग्रंथ अथवा परम्परा का मूलस्रोत के रूप में उल्लेख नहीं करता। किन्तु इसके बाद भी इसको श्रीकण्ठ के पाशुपत मत अथवा वायवीय संहिता से किसी प्रकार भी समीकृत नहीं किया जा सकता।

शैव सिद्धांत अथवा दक्षिण शैव सिद्धांत

ब्रह्मसूत्रभाष्य में एक स्थान पर शंकर कहते हैं कि स्वयं शिव द्वारा लिखे गए 'सिद्धान्त शास्त्र' में शैव सिद्धान्त प्रतिपादित है।[12] उन्होंने उसके प्रतिनिधि विचारों का जो विवरण प्रस्तुत किया है वे दो रूप में हमारे समक्ष आते हैं - प्रथम तो यह कि वेदान्त की यह परिकल्पना है कि ईश्वर समस्त सत्ता का प्रतिनिधित्व करता है और उससे परे कुछ भी नहीं है। 'सिद्धान्तों' की मान्यता है कि ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है। दूसरे यह कि उनके द्वारा जिस शैव सिद्धान्त का उल्लेख किया गया है वह तीन तत्त्व अर्थात् पति, पशु तथा पाश स्वीकार करता है। डा० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त के अनुसार 'किसी ऐसे शैवमत का, जिसे शंकर ने 'सिद्धान्त' नाम दिया है, निश्चयपूर्वक खोज करना तथा उन प्रणालियों की विशेषताओं की, जिनका वे खंडन करना चाहते

थे, परिभाषा करना भी अत्यन्त कठिन है।"[13] उनका यह दृढ़ विचार है कि सम्प्रति शैव सिद्धान्त के नाम से ज्ञात शैवमत की प्रणाली तथा अनेक ऐसी रचनाएं हैं जो शैव 'सिद्धान्त सम्प्रदाय' की रचनाएं मानी जाती हैं। इनमें से अधिकांश तो तमिल भाषा में लिखित टीकाएं हैं। कुछ रचनायें संस्कृत में भी हैं। शिव-महापुराण के वायवीय खण्ड में जो शैवमत उपलब्ध होता है, उसका बहुत कुछ इसके साथ सादृश्य प्रतीत होता है। इस खण्ड में प्राप्त विवरण के अनुसार इस पंथ के मूल स्रोत आगम हैं जिनकी रचना शिव के अवतारों ने की थी। तमिल आगमों में वही शिक्षायें प्राप्त होती हैं। वे भी उतनी ही प्रामाणिक हैं तथा उनमें उन्हीं बातों की चर्चा है। 'तिरुवाचक' मणिक्कवाचकर की भक्तिभावपूर्ण तमिल काव्यकृति है। इसमें इस शैवयोगी ने शिव की 'महिमा का जो बखान किया है उससे शैव सिद्धान्तों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। इन्हीं के आधार पर इसके अंग्रेजी अनुवादक रेवेरेण्ड जी०यू० पोप का विश्वास है कि शैव-सिद्धान्त प्रणाली अत्यधिक विस्तृत, प्रभावशाली तथा निःसन्देह भारत के समस्त धर्मों से अधिक वास्तविक रूप से मूल्यवान है। यद्यपि पोप के इस कथन का कोई तात्त्विक महत्त्व नहीं है, तथापि इतना अवश्य है कि शैवसिद्धान्त का शैव सम्प्रदायों में एक विशिष्ट स्थान है।

इस प्रणाली का विकास विशेष रूप से तमिलनाडु में हुआ। इसका प्रथम उन्मेष ईसा के ग्यारहवें शतक में बताया जाता है। इस पंथ के प्रमुख स्रोत मृगेन्द्रादि 28 आगम हैं। कोवेल कहते हैं—"शैवों का आस्तिक सांख्य के साथ पर्याप्त सादृश्य है। उनके अनुसार ईश्वर, आत्मा तथा पदार्थ शाश्वत काल से भिन्न सत्ताएं हैं और दर्शन का उद्देश्य है—आत्मा को पदार्थ से विमुख करना और धीरे-धीरे ईश्वर से जोड़ना। इस प्रणाली का प्रमुख देवता शिव है और इन तीनों के सम्बन्ध को पशु, पाश और पति (स्वामी) के रूपक द्वारा बड़े अनूठे ढंग से अभिव्यक्त किया गया है। पशुपति शिव का प्रसिद्ध अभिधान है। वही सभी पदार्थों का स्वामी तथा कर्ता है।[14]

एक अन्य परम्परा के अनुसार माणिक्कवाचकर इस सिद्धान्त के प्रथम सन्तों में से एक थे। इसके पश्चात् नाणसंबंधर तथा अन्य भक्तों ने इस पंथ का पर्याप्त विकास किया।

आगमों में अनुस्यूत जिस शैवमत का विकास इन सन्तों ने किया वह सर्वथा एक आस्तिक विचारधारा है। इस विचारधारा का सार पति, पशु तथा पाश—इन तीनों तत्त्वों में सन्निहित है। ये तीनों समान रूप से नित्य अपरिवर्तनशील तथा कालक्रम से परे हैं। यह पति और कोई नहीं, अपितु शिव हैं। इनके अन्य अनेक नाम हैं—जैसे रुद्र, पशूनांपति आदि। तिरुवाचकम्

के व्याख्याकार उमापति कहते हैं कि शिव परम सत्ता है जो न स्थायी रूप से व्यक्त है न अव्यक्त। वह विशिष्ट चिह्नों से रहित, समस्त अशुद्धियों से मुक्त, निरपेक्ष तथा नित्य है। वह असंख्य आत्माओं के लिए विवेक का स्रोत तथा अपरिव्ययी है। चेतन रूप तथा आनन्दस्वरूप वह परम सत्ता दुष्टों के लिए तो अगम्य है, जो भक्तजन शुद्ध हृदय से उसकी उपासना में लीन होकर उस तक पहुंचने का प्रयास करते हैं, उनका वह चरम लक्ष्य है। ज्ञानस्वरूप परम शिव जगत् की सृष्टि करता है, उनकी रक्षा करता है तथा सब कुछ माया की शक्ति को प्रदान कर देता है। वह हमारा शरण्य है जो हमें कभी नहीं छोड़ता। वह सब में तथा सभी प्रकार से व्याप्त है। वह केवल उन्हीं को अपना वरदान देता है जो उसके समीप जाते हैं।

जीवात्मा को इस प्रणाली में पशु कहा गया है। इसके अतिरिक्त इसे अणु तथा क्षेत्रज्ञ आदि नाम भी दिए गए हैं। शैव सिद्धान्त की मान्यता है कि अनादिकाल से असंख्य आत्माओं ने मुक्ति प्राप्त कर ली होगी। यह साधारणतः तीन अशुद्धियाँ स्वीकार करता है—**मल, माया तथा कर्म**। जब मोह हटा दिया जाता है तब भी अन्धकार बना रह सकता है। आत्माएं अपने ऐन्द्रिय ज्ञान से पदार्थों का प्रत्यक्ष तभी कर सकती हैं जब उनकी क्रियाओं के साथ कोई स्वाभाविक दैवी शक्ति भी सम्मिलित हो। पशु मूल अशुद्धियों से दूषित होते हैं। बन्धमूलक तीनों अशुद्धियों का शिव को प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। पशु की तीन कोटियां निर्धारित की गई हैं—विज्ञानाकल, प्रलयाकल तथा सकल। पहली तो वे हैं जिन पर केवल मल का प्रभाव होता है। दूसरी वे हैं जो मल तथा कर्म दोनों से प्रभावित होती हैं तथा तीसरी वे हैं जो मल, कर्म तथा माया तीनों पाशों से बद्ध होती हैं। इसीलिए इनको सकल कहा गया है। यहाँ शैव सिद्धान्त आचार्य उत्पल की ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के आगमधिकार में निरूपित त्रिकशास्त्र से बहुत कुछ साम्य रखता हुआ प्रतीत होता है। पुर्यष्टक एक सूक्ष्म शरीर है जो सभी पशुओं से जुड़ा रहता है। यह सृष्टि-काल से लेकर कल्प-पर्यन्त अथवा मोक्षपर्यन्त बना रहता है। कर्म-सिद्धान्त से प्रभावित होकर प्रत्येक आत्मा विश्व द्वारा उद्भूत प्रत्येक शरीर में विचरण करती रहती है। महेश्वर ऐसी कुछ आत्माओं को अनुग्रह प्रदान करता है जो कुछ विलक्षण गुणों से समवेत होकर पुर्यष्टक से जुड़ जाती हैं तथा वह उनको विश्व का पतित्व प्रदान करता है। दक्षिण शैव सिद्धान्त माया को परम सत्ता की शक्ति के रूप में स्वीकार करता है तथा मानता है कि प्रलयकाल में समस्त विश्व अपने में अन्तर्निविष्ट (माति) हो जाता है और पुनः जब सृष्टि का प्रारम्भ होता है तो वह स्वतः अभिव्यक्त (याति) हो जाता है। 'माया' शब्द इसी

प्रकार निष्पन्न हुआ है।[15]

शैव सिद्धान्त में ईश्वर के अनुग्रह (अरुल) को विशेष महत्त्व दिया गया है। आणवमल की अशुद्धियों का निवारण करने तथा मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करने के लिए अनुग्रह एक दैवी अथवा गूढ़ विद्या है। आत्माएं संचित कर्मों के अधीन हैं तथा उस संयुक्त अवस्था में बन्धयुक्त आत्माएं परमेश्वर के अनुग्रह से छोड़ दी जाती हैं जो धीरे-धीरे अपनी चेष्टाओं द्वारा अन्त में मोक्ष प्राप्ति के लिए शरीर धारण कर लेती हैं। अनुग्रह वह गतिशील शक्ति है जो साधक को उसके लक्ष्य की ओर ले जाती है। शिव का अनुग्रह उसकी शक्ति के माध्यम से ज्ञान का प्रकाश देता है। उसी के द्वारा मनुष्य कर्मों का निष्पादन तथा संचयन करता है। सुख व दुःख की अनुभूति भी उसे इसी के द्वारा होती है। भौतिक जगत् जड़ है तथा जीव अपने स्वरूप से अनभिज्ञ है। शिव का अनुग्रह ही मनुष्य को अपनी अवस्था का ज्ञान कराता है तभी वह गुह्य ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष की ओर अग्रसर होता है। यह परमेश्वर का अनुग्रह मनुष्यों को अनादिकाल से प्राप्त होता है, किन्तु वे कभी-कभी ही उसके भाजन बन पाते हैं तथा अनेक मोक्ष-पथ से वञ्चित रहते हैं।

उक्त मार्ग पर ले जाने के लिए उपयुक्त गुरु की आवश्यकता होती है। जब वह गुरु मिल जाता है तभी अनुग्रह भी क्रियान्वित होता है। जब पाप तथा पुण्य संतुलित स्थिति में आ जाते हैं तब शिव का मुक्तिदायी अनुग्रह अपना कार्य-निष्पादन शुरू करता है। मोक्ष की प्राप्ति तभी संभव है जब मनुष्य को कर्म के आध्यात्मिक सार, द्विविध कर्मों के स्वरूप, उनसे समवेत सुख व दुःख के स्वरूप तथा कर्मों को निश्चित समय पर परिपक्व करके आत्मा को उसके फलों की अनुभूति कराने वाले ईश्वर का ज्ञान हो। स्फटिक सूर्य के प्रकाश में विविध रंगों को प्रतिभासित करके भी अपना पारदर्शी रूप सुरक्षित रखता है, वैसे ही ईश्वर के अनुग्रह से प्रतिफलित शक्ति अथवा ज्ञान-प्राप्ति आत्मा को जाज्वल्यमान करती है तथा समग्र विश्व में व्याप्त है। यथार्थ ज्ञान तब तक प्राप्त नहीं हो सकता जब तक परमेश्वर के अनुग्रह से गूढ़ ज्ञान की प्राप्ति न हो। आत्माओं के समस्त कर्म शिव के क्रियात्मक मार्ग-प्रदर्शन द्वारा होते हैं। इतना ही नहीं ज्ञान के निमित्त के रूप में इन्द्रियों का प्रत्यक्षीकरण भी शिव के अनुग्रह द्वारा ही होता है।

शैवसिद्धान्त भक्तजन को इस बात के लिए भी प्रेरित करता है कि वह आत्मा की शुद्धि के लिए ज्ञान का प्रयोग करे। सांसारिक अनुभवों के भ्रमात्मक दुःखों को सहन कर लेने के बाद मनुष्य जैसे ही अपनी अशुद्धियों के विषय में अवगत हो जाता है वैसे ही वह स्वाभाविक रूप से ईश्वर के अनुग्रह

में मुक्ति खोजने लग जाता है। इसकी पुष्टि के लिए शैवसिद्धान्त अत्यन्त व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत करता है। पाण्डुरोग से ग्रस्त व्यक्ति को मीठा दूध भी तीखा लगता है, परन्तु यदि जिह्वा स्वच्छ कर दी जाए तो तीखापन खत्म हो जाता है, ठीक उसी प्रकार मौलिक अशुद्धियों के प्रभावकाल में सभी धार्मिक क्रियायें अरुचिकर होती हैं, परन्तु अशुद्धियों के हटते ही गुरु की शिक्षाएँ सक्रिय हो जाती हैं।

परम आनन्द जिसका प्रत्यक्ष इन्द्रियों द्वारा संभव नहीं, आध्यात्मिक प्रणाली से प्राप्त हो सकता हैं। परमेश्वर अपना अनुग्रह स्वयं हमारे लिए प्रकट करता है। इस प्रकार परम आनन्द अनुग्रह का प्रतिफलन है। आत्मायें स्वयं उसे प्राप्त नहीं कर सकतीं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि शरीर में व्याप्त आत्मायें जड़रूप हैं। साथ ही वे बौद्धिक साधन भी अचेतन हैं जिनसे वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण होता है। चेतन अनुभव तो केवल शिव की शक्ति से ही प्राप्त हो सकते हैं। रवि-रश्मियों की भांति यह शक्ति मूल स्रोत है जो शिव से अविभेद्य है।

दक्षिण शैव सिद्धांत आस्तिक विचारधारा का पोषक सम्प्रदाय है। इसके अनुसार विश्व की सृष्टि, पालन तथा विलय एक परमशक्ति द्वारा होती है। वह परमशक्ति शिव है। यह सम्प्रदाय चार्वाक सम्प्रदाय का कट्टर विरोधी है, जो विश्व के स्रष्टा के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करता। इस सम्प्रदाय के अनुसार समग्र जीव-समुदाय तथा निर्जीव पदार्थों-सहित सम्पूर्ण विश्व कुछ समय के लिए अस्तित्व में आता है और कालान्तर में विलीन हो जाता है। परन्तु इसके अनन्तर इससे भौतिक जगत् तथा आत्माओं के विषय में हमारा ज्ञान स्पष्ट नहीं होता। यह भी स्पष्ट नहीं होता कि प्रारम्भ से जीवन किस प्रकार आणवमल से युक्त हुए। आत्माओं की मोक्ष-प्राप्ति के बाद भी आत्माएं ईश्वर से एक नहीं होतीं। यद्यपि शक्ति शिव का अंश मानी गई है तथा इससे तन्त्रदर्शन के अनेक रहस्यमय पक्षों का निर्माण हुआ है। तथापि ईश्वर से भक्तों का वैयक्तिक सम्बन्ध सेवाभाव तथा सम्पूर्ण आत्मसमर्पण पर आधृत है। इसमें आरवार (वैष्णव सन्तों) के आनन्दपूर्ण प्रेम के श्रृंगारिक पहलू का सर्वथा अभाव है।

वीर शैव मत

डा० कां के अनुसार इस पंथ का उदय शैवों तथा वैदिकों के समझौते के रूप में हुआ।[16] वैसे तो आधुनिक विद्वानों ने इसे शैवमत का प्रमुख पंथ स्वीकार किया है,[17] किन्तु यह सभी मानते हैं कि इसमें वैदिक तथा शैवधर्म में

सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया है। ब्रह्मसूत्र के ऊपर श्रीपति के भाष्य की भूमिका में श्री हयवदन राव लिखते है, श्रीपति ने इस ग्रन्थ की रचना खासतौर पर वीरशैवों के लिए की। उनका वर्णन वह ऐसे शैवों के रूप में करते हैं जिनको वेदों, आगमों तथा उनमें निहित आध्यात्मिक अभिप्रायों का ज्ञान है; जिनमें मोक्ष-प्राप्ति की बलवती इच्छा है; जो वैदिक मार्ग के अनुयायी हैं तथा जो शुद्ध और कट्टर शैवमत का पालन करने के प्रति अत्यन्त जागरुक हैं।[18] शंकर, वाचस्पति मिश्र तथा आनन्द गिरि (आठवीं तथा नवीं शताब्दी) यहां तक कि माधव (चौदहवीं शती) भी वीरशैव का कहीं उल्लेख नहीं करते। अत: स्पष्ट है कि इसका उद्भव काफी बाद में हुआ। शैवागम भी इस पन्थ के विषय में मौन है। डा० दासगुप्त लिखते है—"ऐसा प्रतीत होता है कि 'वातुल तन्त्र' की पाण्डुलिपियों के दो संस्करण हैं तथा उनमें से एक में परिशिष्ट के रूप में षड्स्थल सिद्धान्त का उल्लेख है जिससे यह ज्ञात होता है कि यह परिचय सन्देहजनक है। वीरशैवों के लिंगायत द्वारा की गई लिंग-धारणा-सिद्धान्त की विधि का कदाचित् ही किसी प्राचीन रचना में अवलोकन किया जा सकता है, यद्यपि परवर्ती लेखक जैसे श्रीपति आदि ने प्राचीन मूल ग्रन्थ के साथ खींचातानी कर उनका ऐसा अर्थ लगाया है जिससे लिंगायतों के लिंग-धारण के अनुष्ठानों का समर्थन हो सके।[19]

मादिराज तथा मदाम्ब के पुत्र वसव को वीर शैव पंथ का संस्थापक माना गया है। वसव-पुराण तथा कुछ अन्य स्रोतों के आधार पर भंडारकर ने वसव के व्यक्तिगत जीवन पर जो प्रकाश डाला है वह बहुत विश्वसनीय न होते हुए भी इस मत के उदय की पृष्ठभूमि के विषय में पर्याप्त जानकारी प्रदान करता है।[20]

वसव-पुराण श्रीपति पंडित के बाद की रचना है। एक प्राचीन परम्परा के अनुसार नारद ने शिव को सूचना दी कि जहां अन्य धर्म सफल हो रहे हैं, वहां ब्राह्मणों में शैवपंथ समाप्त होता जा रहा है अत: अन्य जातियां भी इससे पराङ्मुख होती जा रही हैं। तब शिव ने नन्दी से वीरशैव पन्थ को वर्णाश्रम आचार के अनुरूप लाने के लिए अवतरित होने को कहा। वसवपुराण की इस कल्पना से यह संकेत मिल जाता है कि श्रीपति के परवर्ती काल में भी वीरशैव मत कर्नाटक प्रदेश में अधिक प्रतिष्ठित नहीं था। इससे यह भी पता चलता है कि वीरशैव मत वर्णाश्रम व्यवस्था के विरोध में कोई विशेष अभियान नहीं चलाना चाहता था। वसव द्वारा जातिप्रथा तथा कुछ अन्य हिन्दू-रीतियों में सुधार लाने के कुछ प्रयत्नों का संकेत अवश्य मिलता है, किन्तु इसकी पुष्टि नहीं होती, क्योंकि अनेक वीरशैव-रचनाओं में हिन्दू-जाति-प्रथा के प्रति समर्थन

प्राप्त होता है। शैवमतावलम्बियों में भाईचारे की भावना फैलाने के प्रयास उसने अवश्य किए जो राजनैतिक तथा सामाजिक संरक्षक होने के नाते उसके लिए स्वाभाविक था। किन्तु वसवपुराण में ऐसा कोई भी वर्णन नहीं मिलता जिसमें हिन्दू-प्रथाओं, विधियों अथवा ब्राह्मण धर्म के प्रति उपेक्षाभाव हो या इसके विरुद्ध किसी आन्दोलन का आह्वान किया गया हो।

वीरशैव मत का विकास कई आयामों से गुजरा। यहां कुछ की चर्चा अप्रासंगिक न होगी। श्रीपति पंडित तथा वसव का उल्लेख ऊपर हो चुका है। श्रीपति ने उपनिषदों तथा पुराणों का सहारा लेकर वीरशैवमत का प्रतिपादन किया तो वसव का आधार आगम शास्त्र था। वसव को इस प्रणाली का उपदेश अल्लम प्रभु ने किया था।[21] इनकी कृति 'प्रभुलिंगलीला' में षड्स्थल तथा लिंग धारण-सिद्धान्त की चर्चा के साथ ही साथ शिव तथा आत्मा की एकता का विशद निरूपण है। आगमों पर ही आधृत "सिद्धान्त शिखामणि" नामक एक अन्य कृति भी हमें उपलब्ध होती है जिसमें वीरशैव मत का पहली बार उल्लेख मिलता है। वसव के उल्लेख तथा श्रीपति पंडित द्वारा इस कृति के आधार पर हम कह सकते हैं कि इसके रचयिता रेवणाचार्य श्रीपति तथा वसव के इर्द-गिर्द ही हुए होंगे। तेरहवीं शताब्दी के परवर्ती भाग में "वीर शैवागम" नामक एक अन्य पुस्तक का उल्लेख मिलता है जिसके लेखक के अनुसार शैवमत ने असंख्य प्रकार के विचार सम्प्रदायों अथवा भक्तों के समुदाय में अपना प्रसार कर लिया था तथा उनके पास उनकी स्थिति का पोषक विशाल साहित्य था। एक अन्य शैवयोगी गोरक्षकृत "सिद्धसिद्धान्त पद्धति" में भी समान धार्मिक चिन्तन उपलब्ध होता है। मायिदेव के 'अनुभवसूत्र' भी संभवतः इसी दिशा का निर्देश करते हैं। इनके पूर्व वीरशैव कर्मकाण्ड तथा धर्म की प्रथाओं में निष्णात शैव शिक्षकों की एक महान् परम्परा थी। मायिदेव स्वयं शिवाद्वैत ज्ञान में कुशल तथा षड्स्थल ब्रह्मवादी हैं और आगमों को ही अपने चिन्तन का स्रोत मानते हैं।

'सिद्धान्त शिखामणि' में 'वीरभद्र' नाम के एक गुरु का उल्लेख किया गया है। इनकी गणना मद्रास से प्राप्त 'वीर शैव गुरु-परम्परा' नामक एक लघु पाण्डुलिपि में भी की गई है। इसके अतिरिक्त वीरशैवागम भी गुरुओं की सूची प्रस्तुत करता है। इसमें परिगणित रेवण, मरुल आदि पौराणिक स्वरूप के हैं और इनका कोई अनुक्रम नहीं है। किन्तु उत्तम पाण्डुलिपि में प्राप्त अनुक्रमात्मक सूची में वीरभद्र का स्थान चौथा है। 'सिद्धान्त शिखामणि' में वीरभद्र का नाम एक स्थल पर वसव के साथ आता है। अतः इनका समय बारहवीं शताब्दी रहा होगा। यदि इनके पूर्व तीन गुरुओं का शिक्षणकाल मोटे तौर

पर 100 वर्ष रहने दें तो वीरशैवमत का सूत्रपात एक पंथ के रूप में ग्यारहवीं शताब्दी के आस-पास हुआ होगा। एक अन्य परम्परा के अनुसार इसके संस्थापक अगस्त्य थे तथा इन्हीं के पौराणिक संवादों के आधार पर किसी रेणुकाचार्य ने 'सिद्धान्त शिखामणि' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। रेणुकसिद्ध रेवणसिद्ध भी कहलाते थे और इन्होंने ही कलियुग के शुरू में अगस्त्य को वीर-शैव शास्त्र का मर्म समझाया। इस परम्परा पर हम विश्वास करें या न करें, यह बात निश्चित है कि रेणुकाचार्य (अथवा रेवणाचार्य) से पहले वीर शैव शिक्षकों की एक लम्बी श्रृंखला थी और उस सबका सारतत्त्व ग्रहण करके ही रेणुकाचार्य ने 'सिद्धान्त शिखामणि' की रचना की थी। वह यह भी कहते हैं कि उन्होंने यह ग्रन्थ कामिकागम से वातुलागम तक के शैवतन्त्रों तथा पुराणों से निर्देशन लेकर शिव का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए लिखा। उनका यह भी अभिमत है कि शैवतन्त्रों में वीरशैव तन्त्र अन्तिम है अतः यह सबका सार है।[22]

इतना होते हुए भी अभी तक निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वीरशैव पंथ की स्थापना कब हुई और उसको यह अभिधान कैसे मिला। हम इतना ही कह सकते हैं कि यह अपने लिंगधारण तथा षड्स्थल सिद्धान्त के कारण दक्षिण शैव सिद्धान्त तथा पाशुपत सम्प्रदाय से भिन्न है।

यद्यपि 'सिद्धान्त शिखामणि' में 'वीर' शब्द की एक अनियमित तथा रोचक व्युत्पत्ति दी गई है (वि—ब्रह्म से अभेद का ज्ञान, र—उस ज्ञान से जनित आनन्द) तथापि इससे इस पंथ के नामकरण पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता, क्योंकि इस व्याख्या में कोई ऐसी बात नहीं है जिससे यह पंथ अन्य सदृश धर्म-प्रणालियों से विलक्षण अथवा भिन्न कहा जा सके। अतः इस आधार पर 'वीर' शब्द को इस अभिधान का विशेष चिह्न नहीं माना जा सकता। ऐसा हो सकता है कि वैष्णव सम्प्रदायों तथा शैवसम्प्रदायों की प्रतिद्वन्द्विता के परिणामस्वरूप शैव सम्प्रदायों के एक वर्ग में जो हिंसात्मक एवं झगड़ालू प्रवृत्ति पैदा हो गई इसीलिए इस वर्ग को वीरशैव कहा जाने लगा। 'सिद्धान्त शिखा-मणि' के अनुसार वसव कहता था कि जो शिव की निन्दा करते हैं उनका वध कर देना चाहिए, उनकी भर्त्सना करनी चाहिए अथवा यदि ऐसा करने में अक्षम हों तो वह स्थान छोड़कर चला जाना चाहिए।[23]

इस प्रकार हम देखते है कि आगममूलक होते हुए भी इस पंथ पर औप-निषदिक तथा पौराणिक प्रभाव भी कम नहीं। एक ओर अगस्त्य, रेवणसिद्ध तथा रेणुकाचार्य की परम्परा है, दूसरी ओर श्रीपति पण्डित की। श्रीपति अपने चिन्तन का आधार उपनिषदों तथा पुराणों को अवश्य बताते हैं, परन्तु वह

अगस्त्यसूत्र तथा रेणुकाचार्य का भी उल्लेख करते हैं। किन्तु वह वसव तथा अल्लम प्रभु चन्नबसव, माचय, गोग, सिद्धराम आदि का उल्लेख नहीं करते। लगता यह है कि वीरशैव मत के विकास की दो या अधिक धाराएं थीं। कालान्तर में वे सभी एक दूसरी में विलीन हो गईं तथा वीरशैव मत की एक मात्र सम्प्रदाय मानी जाने लगी।

जहां तक इस पंथ के मूल सिद्धान्तों का प्रश्न है, अकेले बसवपुराण से तो हमें कोई ऐसा सुस्पष्ट निर्देश नहीं मिलता जो वीरशैवमत-विचार-सरणि को रेखांकित करता हो, किन्तु 'प्रभुलिंग लीला' तथा बसवपुराण की विचार-प्रणाली को संयोजित करके हम उन तत्त्वों की खोज कर सकते हैं। अपने शिष्य वसव को शिक्षा देते हुए अल्लम भक्ति, षड्स्थल तथा योग के स्वरूप की संक्षिप्त व्याख्या करते हैं। उनके उपदेश का सार यह है कि योग परम तादात्म्य का उत्प्रेरक है। प्राणशक्ति वायु को पूर्णरूपेण रोककर, प्रबल प्रयत्न से चित्त को स्थिर किये बिना भक्ति नहीं हो सकती, तथा बन्धन से मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। प्राणशक्ति अथवा वायु को रोकने से ही वीरशैव का चित्त रुक जाता है तथा शरीर के मूल भौतिक तत्त्वों जैसे, अग्नि, जल आदि में मिश्रित हो जाता है। माया मन की उत्पत्ति है तथा वायु की उत्पत्ति भी मन से ही मानी जाती है। यही वायु मन की क्रिया द्वारा शरीर बन जाती है। शरीर का अस्तित्त्व केवल वायु की क्रिया द्वारा ही संभव है जो हमें शिव के साथ सब वस्तुओं की एकता का साक्षात्कार करने से दूर रखता है। अतः वीरशैव को वायु की साधारण क्रिया की, उन्हें एक बिन्दु पर केन्द्रित करके तथा वायु की भिन्न चक्रों अथवा स्नायुतन्तु-जाल से श्रेष्ठता स्वीकार कर, विरुद्ध क्रिया का सहारा लेना पड़ता है, जो स्वयं में ही वायु के नियन्त्रण की क्रिया की अवस्थाएं अथवा स्थल, षड्स्थल माने गये हैं।[24] इस प्रकार षड्स्थल की क्रिया स्थलों के एक समूह से होती हुई ऊर्ध्वगामी यात्रा के समान मानी जाएगी और इसी के द्वारा शिव से तादात्म्य की अनुभूति की जा सकती है। योग की इस शक्तिपूर्ण क्रिया का आदेश एक अर्द्धशारीरिक क्रिया की व्यावहारिक विधि है जिससे ईश्वर तथा आत्मा के परम तादात्म्य का अनुभव किया जा सकता है।

अद्वैत विद्या के परम प्रचारक आचार्य शंकर ने भी ब्रह्म तथा जीवात्मा के तादात्म्य पर विशेष बल दिया है और उसके लिए मार्ग भी सुझाये हैं, किन्तु वह ऐसे शक्तिपूर्ण अभ्यास के पक्ष में नहीं हैं जिसे अल्लम द्वारा प्रतिपादित षड्स्थल सिद्धान्त में बड़ी प्रबलता से आदेशित किया गया है। रेवणाचार्य भी षड्स्थल सिद्धान्त को वीरशैव चिन्तन-पद्धति का प्राण मानते हैं तथा इस बात पर जोर देते हैं कि जीव एवं जगत् को शिव में स्थित तथा उससे अभिन्न

मानना चाहिए। उनका मानना है कि हमारी इन्द्रियों से अज्ञात सम्भावित रूप से चित् तथा अचित् संसार उसी परमेश्वर में स्थित रहता है तथा वहीं से वह बिना किसी निमित्त क्रिया के अपने को अभिव्यक्त करता है। एक अत्यन्त व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए रेवणाचार्य कहते हैं कि जैसे ठोस नवनीत अपना विस्तार करके तरल अवस्था प्राप्त कर लेता है, ठीक उसी प्रकार ईश्वर अपनी इच्छा से अपने स्वयं के आनन्द के लिए अपने को विस्तृत करता है जिससे संसार प्रकट होता है।

वीरशैवमत के सारभूत तत्त्व षड्स्थल की इसके शिक्षकों एवं चिन्तकों ने भिन्न-भिन्न व्याख्याएं की हैं। यद्यपि बसव के पश्चात् यह सिद्धान्त इस पंथ में पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हो गया था तथापि इसके स्वरूप के विषय में अब तक स्पष्ट निर्णय नहीं हो पाया। यहां तक कि इसकी संख्या भी निर्विवादास्पद नहीं है। 'वीरशैवसिद्धान्त' और 'सिद्धान्तशिखामणि' में 101 तत्त्वों का उल्लेख है किन्तु कुछ ग्रन्थ जैसे 'श्रीकरभाष्य' (श्रीपति) अनुभवसूत्र (मायिदेव), प्रभुरंगलीला (अल्लम गुरु) तथा बसवपुराण केवल छः स्थलों का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार इनके स्वरूप के विषय में भी विभिन्न विचार प्रकट किए गए हैं। कुछ लोग इनका उपयोग शरीर के छः नाडीचक्र के निर्देश के लिए करते हैं, कभी उन छः केन्द्रों के लिए जिनसे ईश्वर की शक्ति भिन्न प्रकार से अभिव्यक्त होती है। कोई इसका प्रयोग ईश्वर की छः गौरवपूर्ण शक्तियों के लिए करते हैं तो कोई इनको पृथ्वी, अग्नि, जल आदि सृष्टि के मूल तत्त्व स्वीकार करते हैं।

मायिदेव ने षड्स्थलों का जो विवेचन किया है, उससे इनके पीछे निहित सिद्धान्त कुछ स्पष्ट रूप में सामने आ जाता है।[25] यह षड्स्थल-सिद्धान्त में गीता के विचारों का साम्य पाते हैं। यह स्थल की परिभाषा ब्रह्म के रूप में करते हैं, जो सत्, चित् तथा आनन्द से अभिन्न है। यह संसार की अभिव्यक्ति तथा संहार के आधार शिव का परम तत्त्व है। यह वह तत्त्व है जिसमें से महत् आदि विभिन्न तत्त्वों की उत्पत्ति हुई है। 'स्थ' का अर्थ है स्थान और 'ल' का अर्थ है—लय। अर्थात् यह समस्त शक्तियों एवं पदार्थों का उद्गम है तथा सब कुछ इसी में विलीन हो जाता है। इस परम तत्त्व की शक्ति के आत्मक्षोभ के कारण ही अन्य स्थल उदित होते हैं। इसी को अंगस्थल तथा लिंगस्थल में विभाजित किया जा सकता है। शिव स्वयं अपरिवर्तनशील रहकर इन दो रूपों में प्रकट होते हैं। एक ही शिव शुद्ध चित्त तथा लिंग के एक अंग के रूप में प्रकट हो जाते हैं। लिंगांग को जीव भी कहते हैं। जिस प्रकार स्थल ब्रह्म तथा जीव दो रूपों में विभक्त है उसी प्रकार उसकी शक्ति

भी दोहरी है। यह निर्विकल्प है तथा महेश्वर कहलाता है। वस्तुतः शक्ति तथा भक्ति में कोई भेद नहीं है।[26] सृष्टि के लिए गतिशील शक्ति प्रवृत्ति कहलाती है और अवरोध के रूप में निवृत्ति भक्ति। शक्ति के दो रूप हैं—उच्च तथा निम्न। एक संसार की अभिव्यक्ति की ओर प्रवृत्त होता है, दूसरा ईश्वर में वापस जाने की ओर। वही इन दोहरे रूपों में माया तथा भक्ति कहलाती है। लिंग में शक्ति भक्ति में अंग के रूप में प्रकट होती है तथा जीव एवं अंग का ऐक्य शिव एवं जीव की अभिन्नता का द्योतक है। भक्ति अपने को भिन्न रूपों में अभिव्यक्त करती है, जिस प्रकार भिन्न फलों में जल भिन्न स्वादों के रूप में प्रकट होता है। भक्ति शिव के स्वरूप की द्योतक है और वह आनन्द-स्वरूप है।

एक अन्य दृष्टिकोण द्वारा षड्स्थल यौगिक प्रक्रिया का सूचक है। इसके अनुसार आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी का विकास होता है। पुनः आत्मा तथा ब्रह्म का ऐक्यभाव व्योमांग कहलाता है। प्राणलिंग वायवांग, प्रसाद अनलांग, महेश्वर जलांग एवं भक्त भूम्यंग कहलाता है। तदनन्तर बिन्दु से नाद उत्पन्न होता है, नाद से कला उत्पन्न होती है तथा इसके विपरीत कला से बिन्दु तक जाया जा सकता है।

इस प्रकार आप देखते हैं कि वीरशैव मत भक्ति का वर्णन वैष्णव मतों की भाँति उस अनुराग के रूप में नहीं करता है जिसमें पुजारी तथा पूजक अथवा भक्त एवं आराध्य के बीच का द्वैत बना रहे। यह तो परमेश्वर के साथ शुद्ध तादात्म्य का पक्षधर है। इस प्रणाली में इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि पूजा-विषयक समस्त कर्मकाण्डी रूप, जिनमें द्वैतावस्था बनी रहती है, काल्पनिक है। लीलामय प्रभु अनेक रूप धारण कर सकते हैं किन्तु भक्ति के आलोक में यह विश्वास दृढ़ हो जाना चाहिए कि वे सब उसी एक प्रभु के अनेक प्रस्फुरण हैं; वह तो वस्तुतः एक हैं।

शाक्त मत

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि अनेक शैवमतों की भांति शाक्त मत भी भारत का प्राचीन धार्मिक सम्प्रदाय है जो आज भी पूरे भारत में फैला हुआ है। इसकी अनेक अवान्तर शाखाएं प्रतिशाखायें हैं तथा उनकी विभिन्न उपासना-पद्धति एवं विश्वास-प्रणाली है। शैवमतों के साथ इस सम्प्रदाय की चर्चा का उद्देश्य यह है कि कुछ मूल बातों को छोड़कर इसकी अनेक बातें शैव चिन्तन-पद्धति से मिलती जुलती हैं। शिव एवं शक्ति दोनों पंथों के अधिष्ठातृ देवता हैं तथा इन्हीं दोनों के समवेत रूप को ही विश्वरचना का आधारभूत

सिद्धान्त स्वीकार किया गया है।

शाक्त मत परमेश्वर को मातृत्व के रूप में स्वीकार करता है। मां ही परम शक्ति है। यही विश्व की रचना करती है, इसका पालन करती है तथा इसका संहार करती है। शिव अपरिवर्तनीय चेतन हैं, शक्ति उसकी परिवर्तनशील ऊर्जा है और इसका आभास मन तथा भौतिक तत्त्व के रूप में होता है। हर्बर्ट स्पेन्सर मन तथा भौतिक तत्त्व दोनों का विकास उस सत्ता से मानते हैं जिसे आदिशक्ति (प्राइमल एनर्जी) कहा गया है। इसी को हैकेल मूलभूत आत्मिक भौतिक द्रव्य मानते हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर स्पन्दन, ऊर्जा तथा शक्ति के विलास को विश्व का अत्यन्त सामान्य तत्त्व स्वीकार करते हैं।

शाक्त मतावलम्बी शक्ति को ही परम प्रभावी देवता मानते हैं। उसके अनुसार शिव शक्तिरहित कर्त्ता हैं, जबकि शक्ति में समस्त ऊर्जा केन्द्रित है। शाक्तागमवादियों का अपना साहित्य है, उदाहरणार्थ विद्यार्णवतन्त्रादि। अपने विचित्र कर्मकाण्ड तथा आदिम एवं अभद्र उपासना-पद्धति के कारण इस मत की अधिक प्रतिष्ठा नहीं हो सकी। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि यह मत अत्यन्त प्राचीन है और आज भी भारत के प्रत्येक भू-भाग और खासतौर से दक्षिण भारत के असंख्य विचारशील लोगों का मान्य धर्म है। भारत की जीवित धार्मिक मान्यता होने के साथ ही साथ इसने जिस चिन्तनधारा को जन्म दिया है वह अपने विश्व-विकास सम्बन्धी सिद्धान्त में आधुनिक विज्ञान से पर्याप्त मेल खाती है। इसके अनुसार 'शक्ति' ऊर्जा का प्रतीक है—अर्थात् मूलप्रकृतिशक्तिसिद्धांत, जो विश्व का मूल कारण है। आधुनिक विज्ञान भी ऊर्जा को विश्वोत्पत्ति का मूल कारण मानता है। तांत्रिक सिद्धान्तों के विवेचन के सन्दर्भ में श्री ए० एवलोन ने एक सूफी परम्परा का उल्लेख किया है। उसके अनुसार माया (शक्ति) इस जगत् तथा इसके प्राणियों की उत्पत्ति की निर्मात्री है, समग्र आत्मा एवं शरीर की सर्जक है। विश्व तथा पदार्थ इसी से उत्पन्न हुए हैं।

इस प्रकार इस मत के अनुसार शिव तथा शक्ति इस विश्व के दो महान् जनन-सिद्धान्त तथा सर्जक माने गए हैं। शाक्तों का विश्वास है कि शिव और शक्ति के साथ दो पुरुष तथा स्त्री सृष्टिविद्या तत्त्व जुड़े हुए हैं। ये बिन्दु तथा नाद कहलाते हैं। शैव लोग इनका अर्थ ज्ञान तथा क्रियाशक्ति के रूप में करते हैं। क्षेमराज अपने स्तवचिन्तामणि की टीका में 'बिन्दुनादाय' (प्रसरद्विन्दुनादाय······शंकरक्षीरसिन्धवे) का अर्थ 'सामरस्यात्मिके ज्ञानक्रियाशक्ती यस्य···,आदि करते हैं। शैव लोग कार्यकारणवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं जिसके अनुसार शिव ही जगत् का मूल कारण है। शाक्त लोग कहते हैं कि शक्ति से रहित शिव सृष्टि-क्रिया-निष्पादन में समर्थ नहीं है।[27] परम-

सत्ता (शक्ति) अनेक रूप धारण करती है। उनमें से चित्शक्ति तथा मायाशक्ति प्रमुख हैं। माया, जिसे 'भेदबुद्धि' कहा गया है, शुद्ध सृष्टि के अन्त में अर्थात् छत्तीस तत्त्वों के गणनाक्रम में सद्विद्या के बाद में प्रकट होती है। माया जीव को परिच्छिन्न अर्थात् परिसीमित करती है। योगराज इसे 'निषेधव्यापार-रूपा शक्ति'[28] कहते हैं। माया का आगमिक अर्थ है—जो अपने को निगूहित (मा) तथा प्रसरित (या) करती है अर्थात् जो निमीलन एवं उन्मीलन को जन्म देती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शैव तथा शाक्त सम्प्रदायों में कई बातों में पर्याप्त साम्य है। शैवों के अनुसार शिव ही प्रबल तत्त्व है और शक्ति से युक्त होकर सृष्टि की रचना करता है अथवा इसे अस्तित्व में लाता है जबकि शाक्तों के अनुसार शक्ति ही सर्वप्रभावी तत्त्व है। इसी के द्वारा समस्त सर्जन एवं संहार होता है।

इस प्रकार आगमिक धारा में शाक्त मत का भी अपना विशेष महत्त्व है तथा इसके माध्यम से जो चिन्तन-सरणि विकसित हुई, उसमें इसकी विशिष्ट भूमिका है।

काश्मीर शैवमत

ऊपर जिन शैव सम्प्रदायों की चर्चा की गई, उनमें काश्मीर शैवमत का अपना प्रमुख स्थान है। इसके दो कारण हैं—एक तो यह कि अन्य सम्प्रदायों के विपरीत इसका उदय उत्तर में हुआ और इसने पूर्वप्रचलित अनेक धर्मों तथा उपासना-पद्धतियों को अपने में समेट लिया और दूसरे यह कि इसने जिस चिन्तन-सरणि को जन्म दिया उसने न केवल भारतीय तत्त्वमीमांसा, अपितु साहित्यिक चिन्तन-धारा पर भी अपनी अमिट छाप डाली। कहने का अभिप्राय यह कि यह केवल आध्यात्मिक प्रणाली न रहकर, एक व्यापक जीवन-दर्शन के रूप में विकसित हुई तथा इसने समूचे बुद्धिजीवी-चिन्तन को प्रभावित किया।

पृष्ठभूमि

इसके पूर्व कि हम इस मत के मूल तत्त्वों की चर्चा करें, हमारे लिए यह जानना समीचीन होगा कि इस मत के अस्तित्व में आने से पूर्व काश्मीर का धार्मिक और सामाजिक परिवेश कैसा था तथा इसके प्राचीन निवासी किन धार्मिक परम्पराओं अथवा उपासना-पद्धतियों का अनुसरण करते थे। नीलमत पुराण के अनुसार इसके मूल निवासी नाग थे और बाद में पिशाच अथवा डार्डिक नस्ल के लोग यहां आकर बस गये। श्री एच० एन० कौल ने स्वीकार किया है कि आर्यों के इस घाटी में पहुंचने के पहले नाग तथा डार्डिक (पिशाच)

नस्ल के लोग आपस में घुलमिल गये थे।[29] यद्यपि यह घाटी अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण शेष भारत से अलग पड़ी रही किन्तु अनेक ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि यहाँ के निवासी अत्यन्त प्राचीन-काल से अनेक आर्य तथा अनार्य धार्मिक परम्पराओं का अनुसरण करते रहे और वह स्थिति आज तक बनी हुई है। वस्तुतः आदिम भारतीय कन्याकुमारी से लेकर काश्मीर तक गांवों में बसे थे। आर्यों के समागम के बाद जब इनके सम्पर्क बढ़े तो स्वाभाविक था कि ये एक दूसरे के धार्मिक विश्वासों को अपनाते।[30] एस० सी० रे की भी धारणा है कि काश्मीर के प्राचीन निवासी कुछ आदिम धार्मिक विश्वासों का अनुसरण करते थे। नाग-पूजा इस घाटी की प्राचीनतम धार्मिक प्रणाली मानी गई है। बाद में बौद्धधर्म के प्रवेश के बाद संभवतः यह प्रणाखी लुप्त सी हो गई। जहां तक हिन्दू देवताओं का प्रश्न है, शिव इस घाटी में बौद्धधर्म के पहले से ही एक प्रमुख देवता बन गये थे। इसके पश्चात् विष्णु, सूर्य तथा अन्य हिन्दू देवी-देवताओं का यहां प्रवेश हुआ और वे यहां के धार्मिक जीवन में समा गए।[31]

'नीलमत पुराण' के विवरण से स्पष्ट है कि प्राचीन काश्मीर निवासियों में एक बहुदेवतावादी धर्म प्रचलित था जिसमें अन्यान्य आदि देवी देवताओं की पूजा से लेकर शिव, गणेश तथा बुद्ध तक के लिए स्थान था।[32] आगे चलकर धर्म का जो रूप सामने आया उसमें शैव तथा बौद्ध धर्म-रूपों के लिए विशेष स्थान था और अन्त में बौद्ध-प्रभाव भी प्रायः लुप्त सा हो गया और शैव धर्म ही तत्कालीन काश्मीरी समाज का प्रमुख मान्य धर्म बन गया।

हड़प्पा तथा मोहन-जो-दड़ो तथा कुल्ली और ज्हाब (बलूचिस्तान) के उत्खननों से जो तथ्य मिले हैं उनके आधार पर यह मत दृढ़ होता जा रहा है कि शिव-पूजा 3000 ई० पू० (सिन्धु घाटी सभ्यता) में भारत में प्रचलित थी। वैदिक तथा अवैदिक साहित्य-रूपों एवं महाभारत और पुराणों में उपलब्ध अनेक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि वैदिक काल में भी शिव-पूजा विद्यमान थी। कुछ सन्दर्भों से तो स्पष्ट है कि यह उपासना-पद्धति मूलतः अनार्य अथवा द्रविड़ लोगों की थी और आर्यों ने इसे इन्हीं लोगों से लिया था। श्री एस०सी० रे इस उपासना-रूप के विषय में किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाते—"इस बात का पता नहीं चल पाता कि काश्मीर का शिव समीपवर्ती सिन्धु घाटी से प्रव्रजित है अथवा स्थानीय देन है।"[33] राजतरंगिणी के विवरणों से स्पष्ट है कि काश्मीर तथा भारत के मैदानी भाग के बीच संचार-व्यवस्था महाभारत-काल से ही विद्यमान थी। अतः काश्मीर में शिवपूजा महाभारत-काल से ही विद्यमान रही होगी।

कल्हण ने काश्रीर के राजवंशों के जो वृत्तान्त प्रस्तुत किए हैं उनसे साफ पता चलता है कि इस घाटी में शैवमत प्रारम्भिक काल से ही प्रचलित था। राजतरंगिणी में राजाओं द्वारा शिवमन्दिर-निर्माण के अनेकानेक उल्लेख हैं। अशोक से पूर्व भी यहां विजयेश्वर नामक शिवमन्दिर विद्यमान था। अशोक स्वयं भूतेश (शिव) का भक्त था तथा उसने अशोकेश्वर नामक दो शिवमन्दिर बनवाये थे। कारकोट काल के बाद के वर्षों में इस घाटी में शैव धर्म का पर्याप्त प्रभाव रहा। महाराज अवन्तिवर्मन (855-83 ई०) शिव के भक्त थे। उत्पल तथा लोहरवंशीय राजाओं ने भी शैवधर्म के प्रचार-प्रसार में काफी योग दिया। श्रीकण्ठ को काश्मीरघाटी में शैवागमों का प्रचारक माना जाता था। इसी प्रकार कल्हण एक तान्त्रिक परम्परा की चर्चा करते हैं जिसका शैवोपासना से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अशोक के शासनकाल से कुछ समय पूर्व काश्मीर में जब बौद्धधर्म का प्रवेश हुआ तो वहां एक धर्म पहले से विद्यमान था, जिसका प्रधान स्वरूप पार्वती अथवा शक्ति से युक्त शिव की पूजा था। इस प्रकार जगत्पिता तथा जगज्जननी के रूप में अर्चित शिव तथा पार्वती सृष्टि-विद्या के दो मूल सिद्धान्तों के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि शैवोपसना प्राचीन काश्मीरी समाज की प्रमुख आस्था बन गई थी और जिस प्रणाली को आज काश्मीर शैवमत के नाम से जाना जाता है उसके विकास के पीछे यह आस्था बराबर काम करती रही। इसके साथ ही साथ इस प्रणाली के विकास में बौद्ध विचारधारा का भी कम प्रभाव नहीं पड़ा। वस्तुतः काश्मीर शैवमत अथवा त्रिकशास्त्र ने जो तर्क-मूलक अथवा बौद्धिक विश्लेषणप्रधान मोड़ लिया उसमें बौद्धमत का विशेष योगदान है। यों तो बौद्धधर्म काश्मीर में अशोक के शासनकाल से पूर्व ही पहुंच गया था किन्तु इसकी गतिविधि विशेष रूप से बढ़ी कुषाण-काल में। इतिहास का विद्यार्थी जानता है कि कुशाणशासक कनिष्क ने काश्मीर में विराट बौद्ध-संगीति (सम्मेलन) का आयोजन करवाया। 'नीलमत पुराण' में इस बात का उल्लेख है कि कनिष्क के काल (125-160 ई०) में काश्मीरी जनमानस को बलपूर्वक प्रभावित करने के प्रयास किए गए तथा उन पर अनेक अतिपात हुए और इसके अग्रणी तथा सूत्रधार थे—नागार्जुन। यहां तक कि काश्मीर का बुद्धिजीवी एवं प्रबुद्ध वर्ग बौद्धों से परास्त हो गया तथा काश्मीरी समाज को अपने कालबद्ध समारोह रोकने पड़े। इससे यहां के मूल निवासी नाग लोग अत्यन्त उत्तेजित हो उठे और इनकी सहायता से एक ब्राह्मणवंशी बुद्धिजीवी चन्द्रदेव ने अन्ततोगत्वा प्राचीन प्रथाओं की पुनर्प्रतिष्ठा की तथा उस धरती को भिक्षुओं की विभीषिका से मुक्त किया।[34] राजतरंगिणी के विवरणों

से भी स्पष्ट है कि मेघवाहन तथा ललितादित्य आदि अनेक शासकों और राजपरिवार के अन्य सदस्यों ने बौद्धधर्म को पर्याप्त संरक्षण दिया तथा अनेक विहार एवं स्तूप बनवाये थे। नीलमत पुराण के अनुसार तो उस समय काश्मीर में बुद्ध-जयन्ती बड़े समारोह के साथ मनाई जाती थी।[35] काश्मीर घाटी में बौद्धधर्म के प्रभाव की पुष्टि अनेक पुरातत्त्व-प्रमाणों तथा चीनी यात्री युवान च्वांग (ह्वेनसांग) के यात्रा-वृत्तान्तों (631-33) से भी होती है। इन सब विवरणों से स्पष्ट पता चलता है कि काश्मीर में बौद्धधर्म ब्राह्मण-सम्प्रदायों के समानान्तर शताब्दियों तक चलता रहा।[36]

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्धमतावलम्बी काश्मीर में काफी लम्बे काल तक बने रहे और शैव एवं शाक्त सम्प्रदाओं के अनुयायियों के साथ शान्ति-पूर्वक जीवनयापन करते रहे। स्वाभाविक था कि इनमें परस्पर धार्मिक मुद्दों पर यदा-कदा विचारों का आदान-प्रदान होता। बौद्धविचारधारा का काश्मीरी जनमानस पर इतना प्रभाव पड़ा कि ईसा के आठवें तथा नौवें शतक के दौरान प्राचीन शैव विचार प्रायः लुप्त से होने लगे।[37]किन्तु नवीं शताब्दी में काश्मीर घाटी में एक धार्मिक पुनर्जागरण की लहर फैली और इससे बौद्धों के प्रभाव को ध्वस्त तथा इनकी विचारधारा को निरस्त कर दिया। किन्तु इससे एक लाभ अवश्य हुआ—बौद्धों ने चिन्तन के क्षेत्र में आलोचनात्मक दृष्टि को जन्म दिया और प्राचीन सिद्धों तथा शिक्षकों के उपदेशों पर भी खुलकर विचार-विमर्श होने लगा। फलतः इस घाटी तथा भारत के अन्य भागों में भी अनेक दार्शनिक मतों एवं प्रस्थानों ने जन्म लिया। इन नवोदित वैदिक ब्राह्मण शैव तथा शाक्त मतों के साथ ही साथ इस घाटी के लोग वैयाकरण, सांख्य, नैयायिक तथा योग परम्पराओं एवं चिन्तन-पद्धतियों से भी भलीभांति परिचित थे। इस प्रकार ईसा की नवीं शताब्दी में प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के प्रादुर्भाव के समय यहां विभिन्न धार्मिक तथा दार्शनिक मत-मतान्तरों का जमघट हो गया था जिसने इस घाटी को एक युद्धभूमि के रूप में बदल दिया था।[38]

हमने ऊपर देखा कि काश्मीर शैवमत के विकास के पीछे एक अत्यन्त दीर्घ तथा समृद्ध परम्परा थी। अतः इस मत ने जिस विचारधारा को जन्म दिया वह बड़ा व्यापक तथा उदार दृष्टिकोण लेकर हमारे सामने आई।

त्रिक सिद्धान्त के नाम से विख्यात इस मत को हम इसके साहित्य के आधार पर हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

1. आगमशास्त्र
2. स्पन्दशास्त्र
3. प्रत्यभिज्ञा शास्त्र

किन्तु ये तीनों पहलू आपस में काफी जुड़े हुए हैं और त्रिकशास्त्र के विकास के तीन आयामों के द्योतक हैं। आगमशास्त्र से इसके धार्मिक पक्ष का बोध होता है, स्पन्दशास्त्र इसके क्रियापक्ष (शैवयोग) का द्योतक है तथा प्रत्यभिज्ञा शास्त्र इसके दर्शन पक्ष का परिचायक है।[39]

परम्परा से प्राप्त आगमशास्त्र (आगच्छातीति आगमः) का वसुगुप्त (ईसा की नवीं शताब्दी) तथा इनके शिष्यों ने उपदेश किया तथा काश्मीर जनमानस से बौद्ध प्रभाव को धीरे-धीरे निरस्त कर दिया। वसुगुप्त के शिव-सूत्र ही वस्तुतः काश्मीर शैवमत की आधारभित्ति हैं। इनमें न केवल इस मत के मूल सिद्धान्त ही सन्निहित हैं अपितु इनके द्वारा परम तत्त्व के साक्षात्कार का मार्ग भी प्रदर्शित किया गया है। इस सरणि को बाद के दो गुरुओं—भट्टकल्लट तथा सिद्ध सोमानन्द ने दो भिन्न क्षितिज प्रदान किए। कल्लट ने तो शिवसूत्रों के मूल सिद्धान्तों को धार्मिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया, जबकि सोमानन्द ने तार्किक विमर्श का सहारा लेकर शिवाद्वयवाद की स्थापना की और इस प्रकार प्राचीन आस्था-प्रणाली को एक दार्शनिक आयाम दिया। इस प्रकार कल्लट ने अपने मत के प्रतिपादन के लिए 'स्पन्दकारिका' अथवा 'स्पन्दसूत्र' की रचना की तथा उसमें शैवयोग अथवा शैव-समावेश पर पूर्ण चर्चा की जिसके द्वारा प्रतिपादित शाम्भव आदि उपायों के माध्यम से जीवात्मा पूर्ण सिद्धि अर्थात् ईश्वर का समावेश प्राप्त कर सकता है। सोमानन्द ने 'शिवदृष्टि' की रचना करके प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का प्रवर्तन किया। इसके पश्चात् उत्पल, लक्ष्मणगुप्त, अभिनवगुप्त तथा क्षेमराज आदि आचार्यों ने अपनी व्याख्याओं द्वारा इस परम्परा को आगे बढ़ाया। इस प्रकार आगमों में सूत्ररूप में विद्यमान अध्यात्म तत्त्व को एक पूर्ण दार्शनिक आयाम मिला। यह अभिधान इसको ज्ञान के साधन के आधार पर दिया गया है, अर्थात् इस प्रक्रिया द्वारा पशु (जीवात्मा) अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान कर शिव के साथ ऐकात्म्य प्राप्त कर लेता है।

जैसा कि ऊपर कहा गया कल्लट द्वार जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया वही त्रिकशास्त्र का धार्मिक पक्ष है। सामान्यतया आगम-शास्त्र में काश्मीर शैवमत के मूल तत्त्व विद्यमान हैं और इसमें यौगिक प्रक्रिया द्वारा परमेश्वर के साथ साक्षात्कार करने के मार्ग का प्रतिपादन किया गया है। शैवयोग निम्नतर तथा उच्चतर सिद्धियों तथा मुक्त जीवन का गौरव प्राप्त करने के लिए संयम की विभिन्न यौगिक विधियां निर्धारित करता है। इन्हीं विधियों को शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय और आणवोपाय की संज्ञा दी जाती है। स्पन्द शास्त्र में इन्हीं उपायों तथा अन्य यौगिक क्रियाओं का विस्तृत विवेचन

किया गया है। प्रत्यभिज्ञा शास्त्र परमेश्वर के साक्षात्कार अथवा शैव-समावेश का सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत करता है। वस्तुतः त्रिकशास्त्र में पूर्णाद्वैतवादी विचारधारा का प्रतिपादन है। इस मत के अनुसार परमसत्ता शिव प्रत्येक वस्तु का निमित्त कारण तथा सारतत्त्व है। वह चित्तत्त्व एवं आनन्द से ओत-प्रोत तथा सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्व एवं स्वातन्त्र्य से युक्त है। वह सब कुछ है तथा सबसे परे है अर्थात् वह विश्वमय भी है और विश्वोत्तीर्ण भी। देश, काल तथा रूप उसे परिमित नहीं कर सकते क्योंकि वह अविकारी तथा अपरिणामी है। परमतत्त्व (शिव) तथा जीवात्मा (पशु) में वस्तुतः कोई भेद नहीं। पुरुष अथवा पशु एक पुंजीभूत चेतनतत्त्व का अंश होने के कारण स्वयं भगवान शिव ही हैं, किन्तु वह बन्ध तथा आत्मविस्मृति की अवस्था में है। जैसे ही पशु तथा शिव के बीच की यह दीवार हटी, अर्थात् पशु को अपने वास्तविक स्वरूप (शिवत्व) का प्रत्यभिज्ञान हुआ, वैसे ही वह पुनः निरपेक्ष पूर्णता की स्थिति में आ गया, अर्थात् शिव के साथ एकाकार हो गया। इसी को **शै-व समावेश** अथवा **मोक्ष** कहते हैं। वस्तुतः पशु अपने में स्थित चेतन तत्त्व को मलत्रय के प्रभाव से भूल बैठता है। जैसे ही उसे इन तीनों मलों से छुटकारा मिलता है उसके चित्त से मोह अथवा अज्ञान का आवरण हट जाता है, वह अपने में स्थित शुद्ध चेतन को पहचान लेता है, उसके साथ एकीकृत हो जाता है। इस स्थिति को प्राप्त करने में यौगिक क्रियाएं अत्यन्त सहायक होती हैं अतएव त्रिकशास्त्र में योग का विशेष महत्त्व है।

कुछ बातों को छोड़कर भारतीय अध्यात्म अथवा तत्त्वचिन्तन-जगत् के सभी प्रस्थानों में एक मूलभूत समानता रही है। बार-बार जीवन और मृत्यु का चक्र मनुष्य को इस स्थिति से छुटकारा पाने के लिए सचेष्ट होने के लिए प्रेरित करता है। पूर्वजन्मकृत कर्मों के प्रायश्चित्तवश जीवात्मा का पुनर्जीवन धारण करना तथा इसके परिणामस्वरूप मनुष्य को विभिन्न भाग्यस्थितियों, गुणों तथा अनुभूतियों से गुजरना, जीवात्मा को परमात्मा में विलीन करके पुनर्जन्म और उसके अंग सुख एवं दुःख से आत्यन्तिक निवृत्ति तथा निष्क्रिय अन्तर्दर्शी तपोमय जीवन को पुनर्जन्म से छुटकारा पाने का अमोघ साधन मानना आदि बातें सभी भारतीय धार्मिक सम्प्रदायों के चिन्तन का निष्कर्ष हैं। काश्मीर शैवमत की तीनों शाखाओं में भी प्रायः इन्हीं बातों पर विचार किया गया है।[40]

शैवधर्म से दर्शन का विकास

जैसा कि ऊपर कहा गया कि प्राग्वैदिक काल से ही भारत के प्रत्येक भाग में शिव एवं शक्ति को लेकर अनेक सम्प्रदाय प्रचलित थे। शनैः शनैः इन

सम्प्रदायों का अच्छा खासा साहित्य तैयार हो गया, जिसे आगम और तन्त्र कहा जाता है। फलतः भारत में वेदसम्मत चिन्तन-सरणियों के साथ ही अनेक आगमसम्मत चिन्तन-प्रस्थानों का भी जन्म हुआ। आचार्य शंकर के धार्मिक अथवा चिन्तन-क्षेत्र में आने के पूर्व शैवागमवादी लोग अनेक सम्प्रदायों में बंट गये थे। इनमें महापाशुपत, शैवसिद्धान्त, निपाल पाशुपत, काश्मीर शैवमत तथा वीरशैवमत प्रमुख थे। इन विभिन्न शैवागम सम्प्रदायों ने वैदिक प्रस्थानों की भांति अपने-अपने विशिष्ट दार्शनिक सिद्धान्त विकसित किए, जैसे द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा द्वैताद्वैत आदि।

वस्तुतः प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक प्रणालियों के अंकुर वेदों, उपनिषदों तथा बौद्धस्रोतों में विद्यमान थे जिनका कालान्तर में कुछ परिवर्द्धन एवं परिवर्तन के साथ विभिन्न सिद्धान्तों के रूप में विकास हुआ। इन्हीं के आधार पर विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों, यहां तक कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन का भी ढांचा तैयार हुआ। हां, उनमें से प्रत्येक ने अपने कुछ नए सिद्धांतों की अवतारणा की तथा कुछ नई पदावली विकसित की। प्रो० लक्ष्मीधर ने प्रत्यभिज्ञा दर्शन के मूल वर्ण्य-विषय के प्रमुख तत्त्व 'नीलमत पुराण' में खोजने का प्रयास किया है।[41] एल० डी० बार्नेट ने दक्षिण भारत के 'आधुनिक धार्मिक सिद्धान्तों' का 'उत्तरभारत की प्राचीन धार्मिक शिक्षाओं' के साथ साम्य का संकेत करते हुए इन दोनों की कड़ी श्वेताश्वतर उपनिषद् के साथ जोड़ने का प्रयास किया है। नीलमतपुराण तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् पर तुलनात्मक दृष्टि डालने पर हम देखते हैं कि इस उपनिषद् में प्रतिबिम्बित तथा 'नीलमत पुराण' में प्रत्यभिज्ञा दर्शन के मूल तत्त्वों से सम्बन्धित विचार लगभग एक जैसे हैं।[42] पं० सूर्यनारायण शास्त्री का विचार है कि श्वेताश्वतर तथा कैवल्य उपनिषदों की रचना संभवतः आगमों की छाया में हुई है। इसके आधार की ओर संकेत करते हुए वह कहते हैं कि अन्य उपनिषदों में परम तत्त्व को ब्रह्म कहा गया है जबकि इसमें इसे 'शिव' नाम दिया गया है। इतना ही नहीं, अन्य उपनिषदों तथा ऋग्वेद की ऋचाओं में भी ऐसे विचार मिलते हैं।[43]

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि विभिन्न शैव प्रस्थानों ने अपने दार्शनिक चिन्तन के सूत्र शैवागमों से ग्रहण किए और उनके आधार पर अपनी-अपनी स्वतन्त्र चिन्तन-सरणि विकसित की, तथापि उनके सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक विचार प्रमुख वैदिक अथवा औपनिषदिक दार्शनिक विचारों से बहुत भिन्न नहीं है। जैसा कि पहले कहा गया शैवागमों ने वैदिक स्रोतों, विशेष रूप से उपनिषदों तथा षड्दर्शनों से विभिन्न दार्शनिक विचारों एवं पदावली का अपने में समावेश किया। अतः ये दार्शनिक प्रस्थान कहीं-कहीं कुछ बातों में अपने शैवागम स्रोतों में भी भिन्न हो गए हैं। यदि हम काश्मीर शैवमत तथा

दक्षिण शैवसिद्धान्त की तुलना करें तो देखते हैं इन दोनों में अनेक वैषम्य के बावजूद पर्याप्त साम्य भी है। दोनों ही पति, पाश तथा पशु ये तीन तत्त्व स्वीकार करते हैं तथा दोनों के चिन्तन के विषय जगत् का मूल कारण और व्यक्ति का मोक्ष है। दोनों में तीन प्रकार के बन्ध स्वीकार किए गए हैं—मल, माया तथा कर्म। प्रत्यभिज्ञा दर्शन उनको तीन मल कहता है और उनमें से पहला **आणव मल** कहलाता है। विज्ञानाकल नामक प्रमाता पर **केवल मल** का प्रभाव रहता है। सकल कहे जाने वाले प्रमाताओं के अंगों का क्षय नहीं होता तथा इन पर तीनों मलों का प्रभाव रहता है। इन दोनों तथा अन्य शैव प्रस्थानों में भी सृष्टि-तत्त्वों के विश्लेषणात्मक सिद्धान्तों में मामूली भेद है और यह भी अधिकांश तत्त्वों की व्याख्याओं को लेकर। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार परमसत्ता अपनी इच्छा से अपनी शक्ति द्वारा अपनी भित्ति पर इस विश्व का उन्मीलन करती है तथा इसे अनेक जीवों एवं जगत् के रूप में विभक्त करती है। यह विश्व वस्तुतः और कुछ नहीं अपितु विश्वात्मा की मानस सृष्टि है, जिसका उसने बाह्य रूप में विस्तार किया है। ईश्वर कारण तो है ही, स्वयं कार्य भी है। वह इस विश्व का निमित्त कारण भी है समवायि कारण भी। शैव-सिद्धान्त के अनुसार वह केवल समवायि कारण ही है। जहां तक विश्व-प्रक्रिया की प्रेरणा का सम्बन्ध है उसमें ईश्वर की इच्छा ही प्रधान है। विश्व-विकास चिति, परावाक् अथवा पराशक्ति का कार्य है। ये सभी एक दूसरे तथा परमेश्वर के साथ समरूप हैं, सदृश हैं। चिति की प्रेरणा से परमतत्त्व अपने को छत्तीस तत्त्वों में विभक्त कर लेता है, जिसका विस्तार उच्चतम एवं शुद्धतम से निम्नतम तथा स्थूलतम सिद्धान्त के रूप में हो जाता है। विश्व अपने समग्र रूप में इन्हीं में समाहित हो सकता है। यह समस्त विश्व-प्रपंच शक्ति का विविध क्रीड़ा-व्यापार मात्र समझा जाता है। इस सब के पीछे परा-शक्ति रहस्यात्मक तथा भयावह रूप में अपनी प्रभावशाली भूमिका अदा करती है। शक्ति के मुख्य पांच पहलू हैं—चितिशक्ति, आनन्दशक्ति, इच्छा-शक्ति, ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति। शाक्तमत के अनुसार सृष्टि-रचना के समय सृष्टि-शक्ति घनीभूत हो जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि यह अपने को विश्व के स्थूल रूप में विस्तृत कर लेती है। भारत के सभी प्राचीन शैव-प्रस्थानों में एक वस्तुवादी तत्त्व विद्यमान है जो उपनिषदों में विकसित विचार के वस्तुवादी आधार से पर्याप्त साम्य रखता है। सोमानन्द का प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र बादरायण के वेदान्तशास्त्र की भाँति (आदि कारण शिव से) विश्व के उद्भव को यथार्थ विवर्त मानता है। प्रत्यभिज्ञा प्रणाली में दो विचित्र धारणाओं ने जन्म लिया—एक तो अनुग्रह जो शिव जीवात्मा के प्रति करुणा से

अभिभूत होकर प्रदान करता है तथा शक्तिपात, जो किसी-किसी को अपनी स्वतन्त्र इच्छा से प्रेरित होकर विशेष कृपा-कटाक्ष के प्रतीक के रूप में देता है। ये धारणाएँ अन्य शैव प्रस्थानों में भी किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं। इसी प्रकार शैव प्रणालियों ने यौगिक साधनों को मोक्ष प्राप्ति के व्यावहारिक साधन के रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्पल की 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' से लेकर क्षेमराज के 'प्रत्यभिज्ञाहृदय' तक प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के सभी ग्रन्थों में आगमों में प्राप्त शैवयोग तक शैवसमावेश में प्राप्त साधक की अनुभूति आदि बातों को समुचित स्थान दिया गया है। अन्य दार्शनिक सिद्धान्तो के विकास का आधार वैदिक तथा बौद्धस्रोतों को माना जा सकता है । ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के आगमाधिकार (31 कारिकाओं) में तो आगमिक प्रणाली का सहारा लेकर शैवयोग तथा उसकी उपलब्धियों की चर्चा की गई है। शेष भाग में अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। वस्तुतः यहाँ हम इस शास्त्र के शैवागमों से प्राप्त धार्मिक सिद्धान्तों तथा विशुद्ध दार्शनिक विचारों में सीमारेखा खींच सकते हैं।

शैवदर्शन : एक पूर्ण विकसित दर्शन

ऊपर के विवरण तथा विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि शैवदर्शन एक अत्यन्त व्यापक सर्वग्राही तथा उदार दर्शन है। इसमें एक ओर तो शैवागमों की धार्मिक तथा साधना सम्बन्धी विचारधारा का समावेश करके दुःखजर्जरित मानव जाति के लिए इससे निवृत्ति पाने के मार्ग का अनुसन्धान किया गया है और दूसरी ओर इसमें विश्व-रचना के रहस्य को उद्घाटित करने की अत्यन्त विशद तथा विमर्शमूलक प्रणाली विकसित की गई है। वास्तव में जीव, जगत् तथा विश्वात्मा सम्बन्धी जो भी सिद्धान्त शैवदर्शन ने विकसित किए उनसे एक अत्यन्त परिपक्व तथा सुविकसित चिन्तन-धारा का उन्मेष हुआ और भारतीय बुद्धिजीवी समुदाय को अपनी चिन्तन-प्रक्रिया के विकास के लिए एक अमोघ साधन मिल गया। पश्चिमी जगत् में दर्शन को धर्म से भिन्न माना जाता है जबकि भारत में दर्शन तथा धर्म एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इस देश में वस्तुतः धर्म ने ही दर्शन को जन्म दिया है। शैवदर्शन का विकास भी वस्तुतः धार्मिक सिद्धान्तों के आधार पर हुआ किन्तु इसमें तत्वमीमांसा का स्थान प्रमुख और धार्मिक सिद्धान्तों का स्थान गौण हो गया। अनेक आधुनिक शैव चिन्तकों ने स्वीकार किया है कि दार्शनिक प्रक्रिया का प्रणालीबद्ध तथा समुचित विकास काश्मीर शैवमत ही कर सका है किन्तु यह भी अपने को धार्मिक सिद्धान्तों से पूर्ण मुक्त नहीं कर पाया। प्रत्यभिज्ञा कारिकाएँ एक ओर आगमिक परम्पराओं का समावेश करके उनका सांगोपांग विवेचन करती

हैं दूसरी ओर तर्क-प्रधान शैली में विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों के परिप्रेक्ष में जीव, जगत् तथा जगदाधार सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं की अत्यन्त व्यावहारिक मीसांसा प्रस्तुत करती हैं। वस्तुत: शैव प्रणालियों में अनेक प्राचीन अतिमानवीय एवं दैवी तत्त्वों की बुद्धिवादी व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। चाहे वह आन्ध्र का पाशुपत दर्शन हो अथवा तमिलनाडु का शैव-सिद्धान्त, कर्नाटक का वीरशैवमत हो या काश्मीर का प्रत्यभिज्ञा दर्शन—सबने अपनी लौकिक परम्पराओं तथा परिस्थितियों को अपने में समेट कर एक उदार तथा मानवतावादी दर्शन देने का प्रयास किया है। काश्मीर शैवदर्शन ने जो प्रणाली विकसित की है वह प्रत्ययवादी होते हुए भी वस्तुवादी भी है, अर्थात् यह वस्तुप्रत्ययवादी है। इसके पूर्व शांकराद्वैत के प्रत्ययवादी स्वरूप ने विश्व का मिथ्यात्व प्रतिपादित करके भारतीय तत्त्वमीसांसा जगत् में एक समस्या खड़ी कर दी थी। इसके मिथ्यात्व सिद्धान्त को लेकर परवर्ती वेदान्त-चिन्तकों ने अनेक प्रश्नचिह्न लगा दिए थे। इसी प्रकार बौद्धों के शून्यवाद ने भारतीय तत्त्व-चिन्तक समाज में एक अजीब हलचल पैदा कर दी थी। प्रत्यभिज्ञा दर्शन ने इन सभी प्रणालियों को बड़ी सबल युक्तियों द्वारा निरस्त करके एक व्यावहारिक पक्ष प्रस्तुत किया। उसके अनुसार यदि जगत् जगदाधार का अनन्य अंग है तो वह मिथ्या कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार माया यदि शिव की अनन्य शक्ति है तो उसका स्वरूप शिव से भिन्न कैसे हो सकता है ? यह तो ज्ञान, ज्ञान के उपकरण तथा ज्ञान के विषय—सभी को यथार्थ मानता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता इसका उदार स्वरूप है। वैदिक प्रस्थानों की कट्टरता के विपरीत इसने अपना मार्ग सभी वर्ग के लिए समान रूप से खोल दिया। अपने विश्लेषणात्मक स्वरूप के साथ ही साथ इसने जो मनोवैज्ञानिक पक्ष प्रस्तुत किया है वह आधुनिक मनोविश्लेषण तथा मनश्चिकित्सा-विज्ञान के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियां

1 एच०डी० लेविस—द स्टडी ऑफ रैलीजन्स, पृ० 129
2. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय 341, नारायणीयोपाख्यान
3. सर जॉन मार्शल—मोहन जोदड़ो एण्ड द इंडस वैली सिविलाइजेशन, लन्दन, 1931
4. स्वामी श्रीकुमार—द लिंग ऑफ वीर शैविज्म, प्रबुद्ध भारत, अप्रैल, 1942 पृ० 261
5. बी० भट्टाचार्य—शैविज्म एण्ड द फैलिक वर्ल्ड, भाग-2, पृ० 549
6. सु० ना० दास गुप्त—भा० द० इ० भाग-5, पृ० 122

7. कौडिण्य—पा० सू० भा०, मंगलाचरण,
8. तस्मात्प्रसादात् स दुःखान्तः प्राप्यते । न तु ज्ञानवैराग्यधर्मैश्वर्यत्याग-मात्रादित्यर्थः । पा० सू० (टीका, पृ० 6)
9. रुतस्य भयस्त द्रावणात् रुद्रः ।
पा० सू० 2-4 (टीका)
10. कर्मकामिश्च महेश्वरमपेक्षन्ते न भगवान् ईश्वरः कर्म पुरुषं वापेक्षते । अतो न कर्मापेक्ष ईश्वरः ।
पा० सू० 2-6 (टीका)
11. ऐकान्तिकात्यन्तिकरुद्रसमीपप्राप्तेरेकान्तेनैव अनावृत्तिफलत्वादसाधारण-फलत्वाच्चात्मप्रदानमतिदानम् ।
पा० सू० 2-15 (टीका)
12. ब्र० सू० शां० भा०, 2-227
13. सु० ना० दास गुप्त—भा० द० इ०, भाग-5, पृ० 145
14. कोवेल तथा गफ्, सर्वदर्शन संग्रह का अंग्रेजी अनुवाद, अध्याय 7, पृ० 112
15. राधाकृष्णन—फिलॉसफी ईस्टर्न एण्ड वैस्टर्न, प्रथम खण्ड, पृ० 369-80
16. डॉ० आर०के० कॉ, द डॉक्ट्रिन ऑफ रिकॉग्निशन, पृ० 247
17. एस० जी० साखरपेकर—प्रोसीडिंग्स एण्ड ट्रैंजेक्शन ऑफ सेवेन्थ ऑल इण्डिया ओरियण्टल कॉन्फ्रेंस, 1933, पृ० 65
18. सी० हयवदन राव—श्रीपतिकृत श्रीकरभाष्य भूमिका, पृ० 24
19. डॉ० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त-भा० द० इ०, भाग-5, पृ० 40
20. रामकृष्ण गोपाल भंडारकर—वैष्णव तथा शैवमत, पृ० 132
21. प्र० लिं० ली०-अ० 16, पृ० 132-34
22. सि० शि०, अ० 1, पद्य 31-32
23. शिवनिन्दाकरं दृष्ट्वा घातयेदथवा शपेत्
'स्थानं वा तत् परित्यज्य गच्छेद्यदि अक्षमो भवेत् ।'
सिद्धान्तशिखामणि, अ० 9, पृ० 26
24. प्र० लिं० लि०—भाग-3, पृ० 6-8 (प्रथम संस्करण)
25. अ० सू०, पृ० 8
26. शक्तिभक्त्योर्न भेदोऽस्ति—अ० सू०, पृ० 8
27. शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्,
न चेदेव देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।
पञ्चस्तवी, का० सं० ग्रं०

28. प० सा० टी०
29. एच० एन० कौल—ए सर्वे ऑफ द ओरीजिन ऑफ द काश्मीर, (2), काश्मीर टुडे 3-1, सित०, 1958, पृ 5-8
30. एनसाइक्लोपीडिया ऑफ एथिक्स एण्ड रेलीजन, भाग-6, पृ० 702
31. एस० सी० रे, द अर्ली हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ काश्मीर, पृ० 140
32. नी० पु० प० 629, 635, 674, 681
33. एस० सी० रे, द अर्ली हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ काश्मीर, पृ० 140
34. नी० म०, 424-29
35. वही, 808-16
36. एम० ए० स्टीन—राजतरंगिणी का अंग्रेजी अनुवाद, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० 9
37. मधुसूदन कौल—ई० प्र० वि० द्वि०, भूमिका
38. कां० च० पाण्डेय—हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी-ईस्टर्न एण्ड वैस्टर्न, काश्मीर शैविज्म, पृ० 381
39. आर० के० कॉ, द डॉक्ट्रिन ऑफ रिकॅग्निशन, पृ० 252-53
40. वही, पृ० 254
41. एषः सर्वेश्वरः शक्र एष कारणकारणम् । नी० म०, 1270

    स एषःसर्वकर्ता च सर्वज्ञश्च महेश्वरः । ,, 1271

    यदिच्छया जगदिदं वर्वर्ति सचराचरम् । ,, 1272

    तवैव मायया पूर्वं मोहितेन जगत् प्रभो

    प्रसन्नोऽसि ध्रुवं शम्भो येन ज्ञातोऽसि वै मया ।। 1294
42. तमीश्वराणां परमं महेश्वरं……।

    परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।।

    न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।

    स कारणं करणाधिपाधियो न चास्य काश्चित् जनिता न चाधिपः

    श्वेता०, 6,7,8,9

    मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।

    तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ।। वही, 4,10
43. एस० एस० सूर्यनारायण । शिवाद्वैत ऑफ श्रीकण्ठ

द्वितीय उन्मेष

त्रिक साहित्य में माया शब्द के प्रयोग

पिछले उन्मेष में शैवमत के उद्भव एवं विकास की चर्चा की गई। हमने देखा कि यह प्रागैतिहासिक आस्था-परम्परा अनेक रूपों में अभिव्यक्त होती हुई तथा अनेक आयामों से गुजरती हुई अन्ततोगत्वा एक विमर्शमूलक चिन्तन-प्रणाली के रूप में परिणत हो गई। इसमें जिन अनेक प्रणालियों की अवतारणा हुई उनके माध्यम से विश्व-रचना-प्रक्रिया के विविध रूप प्रस्तुत किये गये। इन प्रणालियों का चरम उत्कर्ष हुआ काश्मीर-शैवमत अथवा प्रत्यभिज्ञा दर्शन में। इसमें विश्व की नियामक शक्ति एवं परमसत्ता शिव के साथ जगत् एवं जीव का जो सामरस्य और अभेद प्रतिपादित किया गया है वह अतीव व्यावहारिक तथा तर्कसम्मत है। इससे पूर्व प्रचलित बौद्ध एवं शांकर वेदान्त की विश्वप्रपञ्च सम्बन्धी प्रत्ययवादी धारणायें अपर्याप्त तथा अव्यावहारिक प्रतीत होती थीं। किन्तु प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के चिन्तकों ने अपने से पूर्व अथवा समकालीन सभी चिन्तन-सरणियों को पूर्णतया हृदयंगम करके तथा उनके अव्यावहारिक पक्षों का पूर्ण निराकरण करके चिन्तन-प्रक्रिया को एक नया मोड़ दिया। जगत् की उत्पत्ति एवं विश्लेषण दोनों ही दृष्टियों से 'माया' की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका स्वीकार की गई है। जहाँ तक माया के प्रयोग का प्रश्न है समूचे वैदिक तथा आगमिक साहित्य में विभिन्न सन्दर्भों में इसका प्रयोग होता रहा है। किन्तु तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में इसे विशेष स्थान मिला है तथा इसके अर्थ में विस्तार हो गया है। त्रिक साहित्य में माया शब्द का प्रयोग तीन स्तरों पर हुआ है—प्रथम, स्रोत-साहित्य अथवा आगम-साहित्य, द्वितीय, सूत्र एवं कारिका साहित्य और तृतीय व्याख्या-साहित्य। नीचे की पंक्तियों में हम इसी क्रम में माया शब्द के प्रयोग एवं विस्तार का विवेचन करेंगे।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के स्रोत साहित्य में प्रयुक्त माया पद

काश्मीर शैव दर्शन का विकास शैवागमों में सन्निहित विचारधारा से हुआ है। जो स्थान अद्वैत वेदान्त के लिए वेदों तथा उपनिषदों का है, वही स्थान प्रत्यभिज्ञा दर्शन के लिए आगमों का है। यों तो आगम अनेक हैं, किन्तु जिनमें प्रत्यभिज्ञा दर्शन के मूल तत्त्व बीज रूप से विद्यमान थे उनमें 'मालिनीविजय',

स्वच्छन्द, विज्ञानभैरव, मृगेन्द्र, मातंग, नेत्र, रुद्रयामल, परात्रिंशिका, शिवसूत्र आदि प्रमुख हैं।

वैसे तो अधिकांश तंत्र-शास्त्र साधना-शास्त्र कहा जाता है। साधना से अभिप्राय है—मन की शुद्धता के लिए अपनाये गये विभिन्न उपायों से जो भुक्ति और मुक्ति प्राप्त करने के लिए अनिवार्य होते हैं। जहां तक काश्मीर शैवागमों का प्रश्न है, इनका स्वरूप मुख्यतया मताग्रहमूलक है तथा इनमें दार्शनिक चिन्तन एवं तार्किक विमर्श प्रणालीबद्ध अथवा व्यवस्थित रूप में नहीं मिलते। मूलतः भक्तिमूलक तथा साधना प्रधान होने के कारण ये शैव योग की विविध क्रियाओं तथा विधियों की शिक्षा देते हैं। किन्तु साधक आचार्यों ने इनका आश्रय लेकर विभिन्न दार्शनिक प्रणालियां विकसित कर ली हैं। वस्तुतः साधना की दृष्टि से अद्वैत अथवा द्वैत प्रधान आगमों में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। अतः आगमों का सहारा लेकर दार्शनिक सिद्धान्तों के विकास में साधकों ने सीमित दृष्टिकोण नहीं अपनाया। जिस प्रकार उपनिषदों को आधार बनाकर, अद्वैत वेदान्त, विशिष्टाद्वैत प्रस्थान तथा श्री कण्ठाचार्य के शिवाद्वैत आदि प्रस्थानों का विकास किया गया है उसी प्रकार काश्मीर शैवागम भी अद्वैत, द्वैत तथा द्वैताद्वैत शैव प्रस्थानों की आधारभित्ति हैं। इस प्रकार के उपलब्ध आगमों में मालिनी विजयोत्तर, स्वच्छन्द, शिवसूत्र, विज्ञानभैरव तथा परात्रिंशिका प्रमुख हैं।

इसके पूर्व कि हम अपने मुख्य विषय पर आयें, इन आगमों की विवेचना-शैली पर संक्षेप में विचार करना अनावश्यक न होगा। ये आगम अधिकांशतया शिवपार्वती अथवा भैरव-भैरवी के संवाद हैं। अतः इनमें किसी क्रमबद्ध विचार-प्रणाली की आशा नहीं की जा सकती। इनमें जो भी विचारतत्त्व होते हैं वे, वस्तुतः, यत्र-तत्र विकीर्ण तथा सांकेतिक होते हैं। उनको प्रणालीबद्ध और सुबोध बनाने के लिए उनका अनवरत अनुशीलन और मन्थन आवश्यक होता है। काश्मीर शैव दर्शन के क्षेत्र में यह कार्य, मुख्यतः, तीन आचार्यों ने किया—सोमानन्द, उत्पल, एवं अभिनवगुप्त। ये तीनों ही मूल रूप से साधक थे तथा अपनी साधना-सम्पदा के आधार पर इन्होंने परम तत्त्व से साक्षात्कार कर लिया था। इस प्रकार उन्होंने अपने आत्मिक अनुभव एवं शास्त्र-चिन्तन के सहारे आगम शास्त्र को समझ कर उसे दार्शनिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया। सर्वप्रथम सिद्ध सोमानन्द ने आगम-शास्त्र के गहन एवं विकीर्ण चिन्तन को प्रणालीबद्ध करके परार्थानुमान की शैली में 'शिवदृष्टि' की रचना की। तदनन्तर उनके प्रधान शिष्य उत्पल ने उन सिद्धान्तों का परिमार्जन करके सुबोध तथा विश्लेषणात्मक पद्धति पर 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' नामक ग्रन्थ लिखा जो आगे चल

कर काश्मीर शैव दर्शन का प्रतिनिधि ग्रन्थ बन गया। इसके पश्चात् इस दर्शन के अन्यतम व्याख्याता अभिनवगुप्त ने समस्त तन्त्रविद्या एवं प्रत्यभिज्ञा शास्त्र की विस्तृत और सुबोध व्याख्यायें प्रस्तुत करके काश्मीर शिवाद्वयवाद को न केवल पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित किया, अपितु इसे दर्शन के जिज्ञासुओं के लिए सुगम तथा सुलभ बना दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन का जो विकसित रूप आज हमारे सामने है उसके अंकुर शैवागमों में विद्यमान थे। उन्हीं के आधार पर त्रिक-तत्त्वमीमांसा का विशाल भवन खड़ा किया गया है। अब देखना यह है कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन के स्रोत इन शैवागमों में 'माया' शब्द का प्रयोग कहां और किन अर्थों में हुआ है। ऊपर जिन आगमों का उल्लेख किया गया, मालिनी-विजयोत्तरतन्त्र उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसमें प्रतिपादित सिद्धान्त वस्तुतः समूची आगमविद्या के प्रतिनिधि सिद्धान्त हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि अभिनवगुप्त ने जब आगम-ज्ञान अथवा तन्त्रविद्या को सर्वसामान्य तक पहुंचाने के लिए 'तन्त्रालोक' नामक विस्तृत व्याख्या की रचना की तो इसका आधार 'मालिनीविजय' को ही बनाया। यही नहीं वह अपनी 'माया' की अव-धारणा का आधार भी इसे ही मानते हैं।[1] अब देखना यह है कि 'मालिनी-विजय' में माया शब्द किन-किन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है तथा इसके द्वारा ग्रहीत अर्थ ही प्रत्यभिज्ञा दर्शन काल तक चलते रहे हैं, अथवा उनमें कुछ संकोच या विस्तार हुआ है। यों तो 'माया' शब्द वेदों तथा उपनिषदों में भी अन्यान्य संदर्भों में प्रयुक्त हुआ है। उपनिषदों में तो इसका प्रयोग दार्शनिक सन्दर्भों में भी हुआ है। किन्तु इसका व्यापक अर्थों में प्रयोग किया है आचार्य शंकर ने। उन्होंने इसे विश्वात्मा की अनन्य शक्ति के अर्थ में प्रयुक्त किया है। सोमानन्द इसके मूल अर्थ (शिव की अनन्य अथवा अव्यतिरेकिणी शक्ति) को तो स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु इसके स्वरूप के विषय में इनकी दृष्टि सर्वथा भिन्न है। वह इस शक्ति को यथार्थ मानते हैं, मिथ्या अथवा अनिर्वाच्य नहीं। इनकी इस परि-कल्पना का आधार निश्चित रूप से 'मालिनीविजय' ही रहा होगा जो विश्व के प्रत्येक पदार्थ को यथार्थ मानता है। 'मालिनीविजय' तथा अन्य तन्त्रों का सन्देश यथार्थ आशावाद का संचार करना है। उसे अपने साधक को भुक्ति एवं मुक्ति दोनों का प्रावधान करना है। अतः 'उसके साधक के लिए यह जगत् भ्रम अथवा माया (वेदान्तियों जैसी) नहीं, और इसीलिए वह स्वयं अपने तथा अपने परिवेश को पूर्णरूप से प्रसन्न रखने का प्रयास करता है।' वस्तुतः इस जगत् की सृष्टि ही भोग के साधनों की सिद्धि के लिए हुई है। परमेश्वर की प्रेरणा से अनन्त को जब भोग की इच्छा होती है तब वह जगत् की सृष्टि करता

है। किन्तु इस जगत् की उत्पत्ति के लिए वह अपने को माया से आवेष्टित कर लेता है।[2] इस प्रकार 'माया' का प्रयोग यहां आवरण अथवा अपोहन शक्ति के लिए किया गया। इसके पूर्व जो सृष्टि की योजना तथा इसके सहायक तत्त्वों का विवरण दिया गया है उससे स्पष्ट है कि इस सृष्टि से अभिप्राय अशुद्ध सृष्टि से है और भगवान् 'अनन्त' उस सृष्टि के अधिष्ठाता हैं। इससे पूर्व प्रयुक्त 'माया' पद कुछ अवांछनीय (हेय) वस्तुओं का द्योतक है। शिवपार्वती से कुछ उपादेय तथा हेय वस्तुओं की चर्चा करते हैं जिसकी शिक्षा उनको 'मालिनी-विजय' के वृहद्रूप 'सिद्धयोगीश्वर' के कर्ता अघोर से मिली है।[3] उपादेय वस्तुओं में तो शिव, शक्ति, सविद्येश, मंत्र, मन्त्रेश्वर तथा अणुओं को माना गया है, और हेय वस्तुओं में मल, कर्म, माया, तथा मायीय जगत् की गणना की गई है।[4] यहां यद्यपि माया तथा मायीय (जगत्) का नामनिर्देशमात्र किया है किन्तु आगे के जगत् की उत्पत्ति तथा उसमें माया की तिरोधानकारी भूमिका के प्रसंग से स्पष्ट है कि यहां प्रयुक्त माया पद से अभिप्राय है—तिरोधानकरी शक्ति से तथा मायीय जगत् से अभिप्राय है—अशुद्ध सृष्टि से। इसी प्रकार आगे इसे व्यापिनी, निष्कला, आदि तथा अन्त से रहित और अनव्यया शिव की शक्ति कहा गया है।[5] आगे चल कर त्रिक-तत्त्व-मीमांसा में इन्हीं अर्थों का विकास किया गया है तथा विश्व-रचना-प्रक्रिया में माया की भूमिका निर्धारित की गई है। 'स्वच्छन्दतन्त्र' भी माया शब्द का प्रयोग लगभग इसी अर्थ में करता है। उसके अनुसार माया संसार का मूलकारण है, नित्य है, विभु तथा अव्यय है और समस्त प्रमाता वर्ग को अपने में निविष्ट कर लेती है और साथ ही परमेश्वर के स्वरूप में भी क्षोभ (संकोच) उत्पन्न कर देती है (तभी अशुद्ध विश्व की सृष्टि होती है)।[6] 'मालिनीविजय' साधक के लिए माया को सर्वथा हेय ही मानता है। वह सर्वसिद्धि-फल अर्थात् शिवत्व की प्राप्ति तभी कर सकता है जब माया के प्रभाव से पूर्ण मुक्त हो जाय। उसके लिए उसे 'कण्ठ-कूप-विश्रान्त' आदि कुछ यौगिक क्रियायें करनी आवश्यक हैं।[7] इस प्रकार, आगम हमारे लिए भुक्ति तथा मुक्ति दोनों के प्रेरणा-स्रोत हैं। अतः इनमें प्रयुक्त माया-पद का अर्थ एक ओर तो भोगरूपा सिद्धि का साधक (उपादेय) लिया गया है और दूसरी ओर मुक्ति के लिए बाधक (हेय) के रूप में। 'शिवसूत्र' के अनुसार तो मोह का आवरण ही माया है और उसी के द्वारा भोग रूपी सिद्धि प्राप्त होती है,—'मोहावरणात्सिद्धिः।[8] इसकी व्याख्या करते हुए क्षेमराज कहते हैं—मोहयति इति मोहः; माया; तत्कृतादावरणात् प्रोक्तधारणादिक्रमसमासादिता तत्तत्भोगरूपा सिद्धिर्भवति। न तु परतत्त्वप्रकाशः।[9] इसके पूर्व जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं के निरूपण-प्रसंग में भी माया का अर्थ

अज्ञान ही लिया गया है।[10] जो सर्वसाधारण बाह्येन्द्रिय ज्ञान है वही जाग्रतावस्था है, जो मनोमात्रजन्य असाधारण विकल्प होते हैं उसको स्वप्नावस्था कहा जाता है तथा जिस स्थिति में विवेचन का पूर्ण अभाव रहता है—मायारूपा अर्थात् मोहमयी सुषुप्तावस्था।[11] इस अविवेक अथवा विवेचनाभाव को शिव-सूत्रकार माया का विशेष लक्षण मानते हैं। कला से लेकर पृथिवी-पर्यन्त पृथक् तत्त्वों को अपृथक् मानना (पृथक्त्वामिमतानामेव अपृथगात्मत्वेन प्रतिपत्तिः) ही अविवेकात्मकता है और इसी को माया कहते हैं।[12] इस प्रकार आगम-साहित्य में माया के जो अर्थ लिये गये हैं उनमें 'अज्ञान' 'मोह' अथवा 'अख्याति' ही अधिक स्पष्ट तथा मुखरित हैं। किन्तु इसी अज्ञान को ही भोगमयी (अशुद्ध) सृष्टि का मूलकारण भी माना गया है।[13]

जैसाकि कि पहले कहा गया, इन शैवागमों में किसी दार्शनिक विचारधारा का क्रमबद्ध विवेचन नहीं प्राप्त होता, न ही इनका उद्देश्य किसी विशेष चिंतन-प्रणाली की उद्भावना या तार्किक विश्लेषण का विकास रहा होगा। जैसा कि इनके अध्ययन से पता चलता है कि इन आगमों का एकमात्र अभिप्रेत था—मानव-मात्र को एक व्यावहारिक मार्ग दिखाना जिससे कि वह अपनी अनुभूतियों के आधार पर इस तथ्य को समझ सके कि वह वस्तुतः जगत् की सर्जक-शक्ति से भिन्न नहीं है और वह साधना द्वारा न केवल उस परमेश्वर के साथ सामरस्य अथवा इस संसार की यातनाओं एवं यन्त्रणाओं तथा पुनरागमन से पूर्ण मुक्ति प्राप्त कर सकता है, प्रत्युत उसी परमेश्वर की भांति सर्वज्ञत्व तथा सर्वकर्तृत्व की पूर्ण शक्ति प्राप्त कर सकता है।[14] किन्तु यह अभेद-प्रतीति उसको भेदाव भासन की लम्बी प्रक्रिया के बाद होती है। माया वस्तुतः उसी प्रक्रिया की प्रतीक है। आगे चल कर शैव सिद्धों एवं चिन्तकों ने जिन दार्शनिक प्रणालियों की अवतारणा की उनमें माया के इसी अर्थ की पुष्टि एवं विस्तार किया गया।

सूत्र एवं कारिक साहित्य में माया पद के प्रयोग एवं अर्थ-विस्तार

जैसा कि ऊपर कहा गया माया की परिकल्पना मूल रूप से शैवागमों में विद्यमान थी। बाद में शैव साधकों एवं चिन्तकों ने उस साधना-शास्त्र को जब दार्शनिक आयाम दिया और विश्वप्रपंच की व्याख्या को बुद्धिवादी धरातल पर प्रतिष्ठित किया तो स्वाभाविक था कि 'माया' के अर्थ में विस्तार होता और विश्व-प्रक्रिया में उसकी स्पष्ट भूमिका निर्धारित की जाती। प्रत्यभिज्ञा दर्शन का विकास मुख्यतया दो रूपों में हुआ है—सोमानन्द तथा उत्पल ने इसे सूत्रों अथवा कारिकाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया और अभिनवगुप्त ने अपनी

विस्तृत व्याख्याओं द्वारा इस दर्शन के सिद्धान्तों का सांगोपांग विवेचन किया। वस्तुतः इन आचार्यों के काल तक माया का औपनिषदिक तथा वेदान्तिक स्वरूप सामने आ चुका था तथा इसकी एक विशिष्ट दार्शनिक प्रक्रिया के रूप में प्रतिष्ठा हो चुकी थी अतः इनके दृष्टिकोण में उनका प्रभाव पड़ना आवश्यक था। इस दृष्टि से हम सोमानन्द की 'शिवदृष्टि' तथा उत्पल के 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञासूत्र' अथवा 'प्रत्यभिज्ञा-कारिका' पर विचार करते हैं तो इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यद्यपि इन दोनों आचार्यों ने अपनी विवेचन-प्रणाली में माया का मूल आगमिक स्वरूप ही ग्रहण किया है तथापि वे इस सम्बन्ध में समकालीन प्रभाव का परिहार भी नहीं कर सके। जैसा कि पहले कहा गया, माया शब्द का शैवागमों में, अधिकांशतः, दो अर्थों में प्रयोग किया गया है—मोह अथवा अज्ञान तथा आवरण या गोपन-शक्ति। शिवदृष्टिकार माया शब्द का प्रयोग जहां पारम्परिक अर्थ में करते हैं वहां तत्त्वनिरूपण प्रसंग में वह उसे कुछ व्यापक परिप्रेक्ष में प्रस्तुत करते हैं। परमेश्वर अपने को अनेक रूपों में अभिव्यक्त करना चाहता है, इसलिए 'आत्मप्रच्छादन क्रीडा' करता है।[15]

इस प्रकार 'मालिनीविजय' की आवेष्टनकारी माया 'शिवदृष्टि' में क्रीडामयी बन जाती है। आत्मस्वरूपगोपन यहां भी है किन्तु वह खेल के रूप में है। आत्मतत्त्व ही विश्व का वैचित्र्य प्रदर्शित करने के लिए अपने को छत्तीस तत्त्वों में अभिव्यक्त करता है। शिव से लेकर सद्विद्या तक पांच तत्त्व तो शुद्ध सृष्टि को जन्म देते हैं। इसके बाद माया से लेकर धरणी तक 31 तत्त्वों की सृष्टि अशुद्ध सृष्टि कहलाती है। इस सृष्टि का प्रथम आभास है—माया। दूसरे शब्दों में यहां से अशुद्धोऽध्वा आरम्भ होता है। इसमें महेश्वर के स्वरूप का गोपन होता है और इस गोपन क्रिया का निष्पादन होता है माया तथा इसके कंचुकों द्वारा। 'मा' धातु से निष्पन्न माया शब्द का अर्थ है मापना, मापकर पृथक् कर देना। अर्थात् महेश्वर की वह शक्ति जो अनुभव को मेय अथवा परिमित बना देती है। 'अहम्' को 'इदम्' से और 'इदम्' को 'अहम्' से पृथक् बना देती है; अर्थात् 'भिन्न वेद्य-प्रथा' को जन्म देती है। 'सद्विद्या' तक अनुभव सार्वभौमिक होता है, अपरिमित होता है। इदम् का भाव होता है—'यह सब कुछ'—समस्त विश्व। माया के प्रभाव से 'इदम्' का अर्थ हो जाता है—'केवल यह', अन्य सब वस्तुओं से भिन्न एक परिमित वस्तु। यहीं माया के द्वारा पूर्ण संकोच या परिमितत्त्व प्रारम्भ हो जाता है। माया आत्मा पर एक आवरण डाल देती है और भेद-बुद्धि उत्पन्न कर देती है।[16] यह आवरण क्रिया क्रीडा-परायण महेश्वर की लीला है, उसका स्वातन्त्र्य स्वभाव है। सोमानन्द वस्तुतः 'आत्म-प्रच्छादन-क्रीडा' द्वारा यही अभिप्राय

व्यक्त करना चाहते हैं। शिवसूत्रों में भी आत्मा को नर्तक कहा गया है।[17] इस पर क्षेमराज कहते हैं—'नृत्यति अन्तर्विगूहित-स्वस्वरूपावष्टम्भमूलं तत्तज्जागरादिनानाभूमिका प्रपंचं स्वपरिस्पन्दलीलयैव स्वभित्तौ प्रकटयति इति नर्तक आत्मा'।[18] 'स्तवचिन्तामणिकार तो इस अशेष जगत् (त्रैलोक्य) को ही एक नाटक मानते हैं और समस्त सृष्टि-संहृति-व्यापार को रंग-कर्म से समीकृत करते हैं।[19] जिस प्रकार एक रंगकर्मी अनेक प्रकार के अभिनय करता है, ठीक उसी प्रकार परमेश्वर भी स्वेच्छा से नाना प्रकार की भूमिकायें ग्रहण करते रहते हैं। वह स्वतन्त्र हैं तथा अपने स्वरूप को आवृत्त करने और उसका पुनः प्रथन करने में सक्षम हैं। किन्तु जब वह अपने स्वरूप को आच्छादित करते हैं तब भी उनका वास्तविक रूप च्युत नहीं होता। अर्थात् यह जो भेदप्रथन होता है यह पृथक्त्वानुभूति मात्र है। यह समस्त क्रीडा अथवा लीला सम्पन्न होती है माया द्वारा। किन्तु माया परमेश्वर की स्वातन्त्र्य-शक्ति का विजृम्भण मात्र है। मेघ सूर्य की ही सृष्टि है किन्तु वह कभी-कभी सूर्य को आच्छादित कर लेता है। किन्तु क्या सूर्य वास्तव में आच्छादित होता है? नहीं, ऐसा होता तो मेघ को प्रकाशित कौन करता? परमेश्वर द्वारा विश्ववैचित्र्याभासन की प्रक्रिया भी ठीक ऐसी ही है। 'शिवदृष्टि' तथा 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाकारिका' में माया के इसी अर्थ का विस्तार किया गया है। जगत् को मायीय अथवा मायात्मक मानने की आगम-कल्पना सोमानन्द को स्वीकार्य है और मूर्त तथा अमूर्त तत्त्वों के विवेचन-प्रसंग में वह उसकी सार्थक चर्चा करते हैं।[20] शिवदृष्टि में माया शब्द के सीधे प्रयोग तो बहुत कम हैं किन्तु उस अवधारणा में सन्निहित चिन्तन-सरणि का विनियोग पूर्णरूप से किया गया है। वृत्तिकार उत्पल अपनी व्याख्या में मूल सिद्धान्त को स्थान-स्थान पर स्पष्ट कर देते हैं। 'स्वशिवत्वमिवाजानन्परस्वात्मव्यपदेशतः।' आदि कारिकाओं में यद्यपि माया शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, तथापि, चूंकि इनमें अशुद्ध सृष्टि के पांच प्रमाताओं का वर्णन है और उन प्रमाताओं का मूल कारण माया है अतः यह प्रक्रिया सामने आते ही इस प्रसंग में माया की भूमिका स्वतः स्पष्ट हो जाती है।[21] इसी प्रकार अन्य अनेक स्थल हैं जहां यद्यपि माया शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है किन्तु उसके पीछे निहित सिद्धान्त का स्पष्ट पता चल जाता है। जैसा कि ऊपर कहा गया भेदावभासन तथा नानात्व-प्रकाशन चित्शक्ति अर्थात् परमेश्वर का लीला-विलास है और यह लीला वह माया के सहारे करता है। शिवदृष्टिकार को निम्न पंक्तियों में, संभवतः यही भाव अभिप्रेत है—

"नानाभावैः स्वामात्मानं जानन्नास्ते स्वयं शिवः।
चिद्व्यक्तिरूपकं नानाभेदभिन्नमनन्तकम्॥[22]

इस प्रकार 'शिवदृष्टि' में माया की धारणा को मूलरूप में ग्रहण करके उसके अर्थ को व्यापक परिप्रेक्ष में प्रस्तुत किया गया है।

सिद्ध सोमानन्द ने जिस दार्शनिक प्रणाली की उद्‌भावना की उसको पूर्ण रूप से व्याख्यायित और प्रतिष्ठित किया आचार्य उत्पल तथा अभिनवगुप्त ने। सोमानन्द ने अपनी 'शिवदृष्टि' में माया के सिद्धान्त को सामासिक शैली में प्रस्तुत किया, किन्तु उत्पल ने 'शिवदृष्टि' पर वृत्ति तथा विशेषतया 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा' की रचना करके इस सिद्धान्त को निश्चित दिशा दी और विश्व-रचना बोध में इसकी अनिवार्य भूमिका को रेखांकित किया। विस्तुतः उत्पल ने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' में जो सिद्धान्त विकसित किया उसमें माया दो रूपों में प्रतिष्ठित हुई है—(1) अपोहन शक्ति के रूप में (2) परिमित अवभासों के मूल कारण के रूप में, अर्थात् एक ओर तो वह महेश्वर की शक्ति का काम करती है और दूसरी ओर अशुद्धोऽध्वा की प्रथम अवस्था होने के नाते अशुद्ध सृष्टि के विकास में अत्यन्त विशिष्ट तथा रचनात्मक भूमिका निभाती है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में शक्ति तथा शक्तिमान में पूर्ण सामरस्य है अतः शक्ति का भी उतना ही महत्त्व है जितना शक्तिमान् अर्थात् महेश्वर का महेश्वर की शक्ति दो रूपों में प्रस्फुटित होती है—कर्तृत्व शक्ति के रूप में तथा ज्ञातृत्व शक्ति के रूप में। ये दोनों शक्तियां ही परम सत्ता की मूलशक्तियाँ हैं, अन्य शक्तियां इन्हीं के अधीन हैं। श्वेताश्वर उपनिषद् भी महेश्वर की ज्ञान और क्रिया इन्हीं दो शक्तियों को विशेष महत्त्व देता है।[23] महेश्वर की शक्तियां तो अनेक हैं पर सबका पुंजीभूत स्वरूप है—स्वातन्त्र्य शक्ति और इसी कारण 'महेश्वर सर्वक्रिया स्वतन्त्र' है।

इस प्रकार महेश्वर की कर्तृत्व शक्ति तो उसकी शक्ति का व्यापक सर्जनात्मक पक्ष है किन्तु ज्ञातृत्व शक्ति का भी कम महत्त्व नहीं। वास्तव में 'कर्ता' और 'ज्ञाता' अथवा 'ज्ञाता' और 'कर्ता' एक ही शक्ति-पुंज के दो पहलू हैं और महेश्वर के सर्वकर्तृत्व और सर्वज्ञातृत्व को रेखांकित करते हैं। ज्ञातृत्व-शक्ति के भी तीन विभाग किए गए हैं—स्मरणशक्ति, ज्ञानशक्ति तथा अपोहन शक्ति।[24] भगवद्‌गीता भी परमात्मा की इन्हीं तीन शक्तियों को स्वीकार करती है।[25] इन्हीं तीनों शक्तियों द्वारा ही विश्व के सारे व्यवहार चलते हैं। इनमें से अपोहन शक्ति महेश्वर की वह शक्ति है जिसके द्वारा वह एक वस्तु को दूसरी वस्तु अर्थात् 'घट' को 'अघट' से भिन्न रूप में आभासित करता है। इस भिन्नवेद्यप्रथा का कारण अज्ञान है। इसीलिए इस अपोहन पक्ष में माया को विमोहिनी शक्ति अथवा मोह कहा गया है। उत्पल इसी मोह के आवरण को

हटाने के लिए ही 'प्रत्यभिज्ञा' का उपदेश करते हैं।[26] यह बात विमर्शिनी में और स्पष्ट हो जाती है।[27]

अशुद्ध सृष्टि के परिमित आभासों के दो रूप हैं—अजड (चेतन) तथा जड (अचेतन)। प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के अनुसार महेश्वर विश्वात्मा है। जहां तक अजड आभासों का सम्बन्ध है, उत्पल कहते हैं कि इसमें प्रमाण की आवश्यकता नहीं। कौन विवेकशील व्यक्ति होगा, जो यह जानते हुए कि महेश्वर उसकी आत्मा में कर्ता तथा ज्ञाता के रूप में शाश्वत रूप से प्रतिभासित है, उसके अस्तित्व के विषय में तर्क करना चाहेगा?[28] यह तो वस्तुतः अनुभव-सिद्ध बात है कि विश्वात्मा असीम ज्ञानपुंज (अनवच्छिन्न प्रकाश) है। अब प्रश्न यह उठता है कि जड पदार्थों में अजड पदार्थों के स्वभाव कैसे उत्पन्न हो जाते हैं? पूर्वपक्षी कहता है कि नानात्वपूर्ण इस जगत् में अनेक जड तथा अजड जीव हैं। किन्तु 'ज्ञानात्मिका शक्ति' और 'क्रियात्मिका' शक्ति जडों में नहीं देखी जाती वह केवल अजड (चेतन) जीवों में होती है तो फिर महेश्वर को सर्वात्मा (सर्वस्य स्वात्मा) कैसे कहा जा सकता है? आचार्य उत्पल का उत्तर है चूंकि अचेतन (जड) पदार्थों की सत्ता पूर्णतया चेतन (अजड) जीवों पर अवलम्बित है और इनमें ज्ञातृत्व तथा कर्तृत्व शक्ति विद्यमान रहती है। ये दोनों शक्तियां चेतन प्राणियों (जीवताम्) के जीवन का आधार हैं और जड जीवों की सत्ता अजड जीवों से पृथक नहीं है अतः ज्ञातृत्व शक्ति तथा कर्तृत्व शक्ति अजड तथा जड दोनों प्रकार के जीवों का जीवनाधार हैं।[29] अभिनवगुप्त तो जड पदार्थों में भी चेतन तत्त्व (चिन्मयत्व) स्वीकार करते हैं। इनमें यह अचेतन तत्त्व (जाड्य) महेश्वर की माया शक्ति के कारण आता है।[30] यही महेश्वर का अपोहन व्यापार है। इसके द्वारा एक विश्वात्मा अनेक जीवात्माओं में विभक्त हो जाता है जिनका विशिष्ट लक्षण है अपने स्वरूप का अज्ञान—'स्वरूपाख्याति'। यही स्वरूपाख्याति इनकी ज्ञातृत्व तथा कर्तृत्व शक्तियों में अपूर्णता उत्पन्न करती है। इस प्रकार उत्पल ने माया का प्रयोग मोह अथवा अज्ञान के अर्थ में किया है, जो भेदमयी दृष्टि उत्पन्न करता है तथा जिससे अभिन्न विश्व भिन्न जैसा प्रतीत होता है। जहां तक माया के जडाभासों के मूल कारण होने का सम्बन्ध है, यह अपने अन्दर अथवा इसके प्रभाव में आकर महेश्वर अपने अन्दर समस्त भावजात छिपाकर रखते हैं और जब इच्छा होती है तो उनका प्रथन अथवा वाह्य रूप से आभासन करते हैं अर्थात् अहंतया प्रतीत होने वाले जगत् को 'इदन्ता' में परिणत कर देते हैं।[31] तत्त्वनिरूपण प्रसंग में उत्पल इसे 'तिरोधानकरी' कहते हैं।[32] यहां तिरोहन से अभिप्राय पञ्चकृत्य से सम्बन्धित विलयन से नहीं, अपितु आत्मस्वरूपगोपन (आवरण) से हैं, अर्थात

माया से ग्रस्त होने पर मनुष्य कभी-कभी अपने ही गुरु द्वारा दिए गए मन्त्रों की निन्दा करने लगता है। यह आवरण भी मोह अथवा अज्ञान का ही द्योतक है। यहां भी माया विमोहिनी रूप में ही हमारे सामने आती है। यह बिमोहन न केवल प्रमाता को अपितु प्रमेय को भी होता है; अर्थात् वेद्यभावोचित आत्मेतर पदार्थ की अहन्तया अनुभूति में 'मैं दुर्बल हूं' 'मैं जानता हूं' आदि रूपों का अभिमान होता है और अनात्मस्वरूप के आत्मतया देखने में। इन दोनों अवस्थाओं में वह मोह ही है। अभिनव यहां शून्य, बुद्धि, काया आदि अनात्म पदार्थों में अहंरूप प्रमाता के भाव को ही लेते हैं। इसे ही कहते हैं—स्वरूपाख्याति अथवा स्वातन्त्र्य-संकोच। इसके लिए इसे पंचकंचुक की सहायता लेनी पड़ती है। विकल्प शिल्पों की, उद्भाविका होने के नाते इसे परानिशा कहते हैं।[33]

वस्तु रूप में माया परिमित है, क्योंकि परमशिव से भिन्न यत्किंचित् भासित होता है वह परिमेय ही होता है। 'मीयते परिच्छद्यते प्रभातृप्रमेयप्रपंचः यया सा माया' इस व्युत्पत्ति के अनुसार मेयता माया का विशिष्ट गुण है और इसका अपरिहार्य परिणाम है—भिन्नप्रथन। इसीलिए 'विभिन्नतया बुद्धिरेव माया' कहा गया है। इस प्रकार उत्पल मानते हैं कि माया का विजृंभण विषय तथा विषयी के क्षेत्र में चला करता है। वेत्ता अथवा प्रमाता भी संभवतः उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय तो माया के इस सिद्धान्त को आवश्यक तथा युक्तिसंगत बताते हैं। इसका कारण वह यह बताते हैं कि यदि परमशिव चित, आनन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया इन पांचों शक्तियों से युक्त होने के नाते सर्वात्मनापूर्ण है तथा विश्व का उसके साथ तादात्म्य है तो परिमित सत्ताओं तथा उनकी सीमाओं की उत्पत्ति कहां से होती है, और परिच्छन्न सृष्टि जो कि सीमित प्रमाताओं की अनुभूति का विषय बनती है उसका कारण क्या है? इन सभी गुत्थियों को सुलझाने के लिए ही माया की अपोहन शक्ति के रूप में परिकल्पना की गई है।[34]

उत्पल ने माया की परिकल्पना में एक और आयाम जोड़ा है। वह है—विकल्प। माया को विकल्प शिल्पों की उद्भाविका कहा गया है। वह कहते हैं कि अपोहन व्यापार एक विकल्पप्रक्रिया है जो दो विपरीत-धर्मा वस्तुओं, उदाहरणार्थ वह्नि तथा अवह्नि अथवा घट और अघट, में विनिश्चय की परिचायिका है। विकल्प में मस्तिष्क के अन्दर विविधि कल्पनाएं उद्बुद्ध होती हैं और उनमें एक कल्पना को, जिस पर पहले सन्देह किया जा रहा था, अन्य सभी कल्पनाओं से भिन्न मान लिया जाता है। अतः आचार्य उत्पल का विचार है कि 'अहंप्रत्यवमर्श' जो प्रकाशस्वरूप है तथा परावाक् में अधिष्ठित

है, को विकल्प नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विकल्प विनिश्चय की स्थिति है और जो निर्भर करती है घट तथा अघट इन दो भिन्नधर्मी पदार्थों पर।[35] यह 'अहंप्रत्यवमर्श' दो प्रकार है—शुद्ध तथा मायीय। इनमें से शुद्ध प्रत्यवमर्श का सम्बन्ध तो प्रकाशस्वरूप शुद्ध चेतना से है। अतः अहंविमर्श के इस पहलू को तो विकल्प नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें अप्रकाश रूपी प्रतियोगी का अभाव रहता है। मायीय प्रत्यवमर्श वह स्थिति है जिसका सम्बन्ध शरीर, बुद्धि, प्राण तथा शून्य से रहता है। इस पहलू को विकल्प कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें अशरीर, अबुद्धि, अप्राण तथा अशून्य रूपी प्रतियोगी विद्यमान हैं, जिनका व्यवच्छेदन अर्थात् भेदावभासन प्रक्रिया में अपसरण किया जा सकता है। अहंप्रत्यवमर्व का मायीव पहलू मायाशक्ति की देन है जो परमेश्वर के अभेदप्रकाशन रूपी मूलस्वरूप का प्रच्छादन कर देती हैं।[36] शांकर वेदान्त में इस आत्मप्रच्छादन को भ्रांति माना गया है, किन्तु प्रत्यभिज्ञा-प्रस्थान में माया को परमेश्वर की स्वातन्त्र्यशक्ति का ही रूप माना गया है अतः मायीय अहंविमर्श को विकल्प ही कहना ठीक होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य उत्पल माया के मूल आगमिक अर्थ की रक्षा करते हुए इसका विभिन्न रूपों में विकास करते हैं तथा माया को विश्व-रचना-प्रक्रिया में दुर्घटसम्पादनसमर्थ शक्ति विशेष के रूप में स्थापित करते हैं। 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा कारिका' के ज्ञानाधिकार तथा क्रियाधिकार में परमेश्वर की शक्तियों का निरूपण किया गया है और उनमें माया की स्पष्ट एवं अनिवार्य भूमिका स्वीकार की गई है। किन्तु इन कारिकाओं अथवा सोमानन्द की कारिकाओं (शिवदृष्टि) में सन्निहित सिद्धान्तों का पूर्णतया बोध तब तक नहीं हो सकता जब तक इनकी व्याख्याओं का सम्यक् अनुशीलन न किया जाए। व्याख्याकारों में स्वयं उत्पल, अभिनवगुप्त तथा क्षेमराज के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अब देखना यह है कि इन व्याख्याकारों ने प्रत्यभिज्ञा-चिन्तन को अपनी कृतियों में कितना परिपुष्ट किया है तथा मायावाद को दार्शनिक-भित्ति पर प्रतिष्ठित करने में कितना योगदान किया है।

व्याख्या-ग्रन्थों की साक्षी

जैसा कि ऊपर कहा गया त्रिकशास्त्र अथवा प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के प्रमुख व्याख्याकार हैं—उत्पल, अभिनवगुप्त तथा क्षेमराज। वैसे तो इस क्षेत्र में महेश्वरानन्द, योगराज तथा भास्कराचार्य के नाम भी लिए जा सकते हैं किन्तु इन लोगों ने वस्तुतः अपने पूर्वाचार्यों के विचारों को पुष्ट एवं परिष्कृत किया है। उत्पल तथा क्षेमराज की व्याख्यायें भी अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण हैं किन्तु

व्याख्या का यथार्थ एवं सुदृढ़ मानक स्थापित किया अभिनवगुप्त ने। बहु-आयामी प्रतिभा के धनी तथा अनन्य साधक अभिनवगुप्त की व्याख्यायें स्वयं-शिष्ठ शास्त्र हैं तथा पूरे-के-पूरे तन्त्र एवं त्रिक सिद्धान्त की गुत्थियों को खोलकर रख देती हैं। 'तन्त्रालोक' तो उनका ऐसा विपुल ग्रन्थ है जो तन्त्र तथा त्रिक सिद्धान्त का संवलित रूप प्रस्तुत करता है तथा अपने क्षेत्र की अनूठी कृति है। इसी प्रकार इनकी 'परात्रिशिका विवृति' 'ईश्वरप्रतिभिज्ञा-विवृतिविमर्शिनी' एवं ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' आदि व्याख्याओं में त्रिकशास्त्र के कौल तथा प्रत्यभिज्ञा प्रस्थानों के मूल सिद्धान्तों को अत्यन्त सबल और सुबोध शैली में उपस्थित किया गया है। जहाँ तक प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार माया की अवधारणा का प्रश्न है अभिनवगुप्त ने आगम और अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तों की पुष्टि के साथ-ही-साथ उनमें और अधिक निखार उत्पन्न किया है तथा विश्वरचना-बोध में उसकी भूमिका को बड़ी पटुता के साथ रेखांकित किया है।

जैसा कि ऊपर कहा गया, सोमानन्द ने प्रत्यभिज्ञा प्रक्रिया में माया शब्द का प्रयोग मोह तथा अशुद्ध जगत् के मूल कारण के रूप में किया है। उत्पल ने उस अर्थ को और अधिक विस्तार दिया है तथा माया को महेश्वर की ज्ञातृत्व शक्ति के साथ जोड़ दिया है जो अपोहन शक्ति के रूप में अभिव्यक्त होकर एक पदार्थ (घट) को दूसरे पदार्थ (अघट) से भिन्न रूप में आभासित करती है। इसके अतिरिक्त वह 'तिरोधानकरी' शक्ति के रूप में सीमित तथा अपूर्ण आभासों के मूल कारण के रूप में प्रकट होती है और पञ्चकंचुकों के माध्यम से विश्व वैचित्र्य का नियोजन करती रहती है। अभिनवगुप्त इसका अन्तर्भाव परमेश्वर की स्वातन्त्र्य-शक्ति में कर देते हैं और इसे उसकी अनन्य शक्ति मानते हैं।[37] जयरथ 'माया' के मूल रूप को स्पष्ट करते हुए जगत् के समस्त भेदावभास की विद्या भी इसे ही स्वीकार करते हैं।[38] प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार जगत् के समस्त व्यवहार स्मरण शक्ति, ज्ञानशक्ति तथा अपोहन शक्ति द्वारा ही चलते हैं—'अनेन शक्ति त्रयेण विश्वे व्यवहारा :।[39] इनमें अपोहन-शक्ति महेश्वर की विमोहिनी शक्ति है तथा विश्व के अनन्त आभासों की जननी है।[40] इसके इसी भेदावभासनस्वभाव के कारण अभिनव इसे 'परानिशा' कहते हैं[41] अभिनवगुप्त सात प्रकार के आभासों का निर्देश करते हैं। उनमें से 'जडाभास' का स्थान प्रथम है और 'परमशिव' का अन्तिम। विभिन्न प्रकार के जीवों के आभास का स्थान मध्य में आता है।[42] महार्थ-मंजरीकार भी इसे 'परमस्वतन्त्र' परमेश्वर की मोहिनी शक्ति मानते हैं—

'एकरसे स्वभावे उद्‌भावयन्ती विकल्पशिल्पानि
मायेति लोकमतः परमस्वतन्त्रस्य मोहिनी शक्तिः ॥

परमेश्वर की स्वातन्त्र्य-शक्ति का एक अन्य रूप है जिसे त्रिवेकशक्ति (दृक्क्रिया शक्ति) कहना चाहिए। यही वह शक्ति है जो मोह के आवरण को हटाती है और तभी इदमित्थं का बोध होता है।[43] विमोहिनी (माया) शक्ति महेश्वर के यथार्थ स्वरूप का तिरोधान करती है और दृक्क्रियाशक्ति उसका प्रथन करती है। वास्तव में उत्पल गुरु में मोह के अनावरण के लिए जिस 'शक्ति के आविष्कार' की बात करते हैं[44] वह शक्ति यही दृक्क्रियाशक्ति है और इसी को 'प्रत्यभिज्ञा' कहा गया है। अभिनव की 'विमर्शिनी' में यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है।[45] होता यह है कि माया के विमोहनकारी प्रभाव के कारण परमेश्वर की ज्ञातृत्व शक्ति तथा कर्तृत्वशक्ति का प्रकाशन नहीं हो पाता और उनका प्रकाशन तभी होता है जब दृक्क्रियाशक्ति सक्रिय होती है। अभिनव अपने स्तोत्रों में भी माया के इसी तिरोधानकारी स्वरूप की ओर संकेत करते हैं।[46] वास्तव में उत्पल एक बड़ा बुनियादी सवाल उठाते हैं। उनका मानना है कि 'माया' के द्वारा अनात्म पदार्थों की अनुभूति आत्मतया होने लगती है। चूंकि यह प्रतिषेधमूला अथवा अप्रकाशात्मिका है अतः इसके कारण महेश्वर के यथार्थ स्वरूप का गोपन हो जाता है। कुछ भी हो, इसकी कल्पना महेश्वर की अनन्यशक्ति के रूप में द्वैत भाव से बचने के लिए की गई। द्वैत की समस्या के समाधान के लिए माया की कल्पना या तो भ्रान्तिमूलक शक्ति के रूप में की जाय अथवा इसे परमसत्ता की अव्यतिरिक्त शक्ति मान लिया जाय। जहां शांकराद्वैतवादी पहला विकल्प स्वीकार करते हैं, ईश्वराद्वय-वादी दूसरे पक्ष का सहारा लेते हैं और ऐसे आभासों को माया कहते हैं जिनकी कोई युक्तिसंगत व्याख्या नहीं की जा सकती। अभिनव भी माया का यही स्वरूप स्वीकार करते हैं तथा अपनी व्याख्याओं में इसी की पुष्टि करते हैं।[47] वह इसे जहां महेश्वर की 'दुर्घटकार्यसम्पादिका' स्वातन्त्र्य शक्ति मानते हैं, वहीं शिव की आवरण-शक्ति भी कहते हैं।[48] योगराज इसी बात को और स्पष्ट करते हुए इसे शिव से अव्यतिरिक्त मानते हैं।[49] इस प्रकार अभिनव तथा अन्य व्याख्याकारों की कृतियों में माया का जो स्वरूप उभर कर आया है उसमें एक तो इसे परमेश्वर की अनन्य शक्ति स्वीकार किया गया है तथा इसे 'मोह' एवं 'परानिशा' आदि अभिधानों से परिभाषित करके आभासवाद की प्रक्रिया में इसकी अनिवार्य भूमिका स्वीकार की गई है, दूसरे, तत्त्वों में प्रमुख स्थान देकर इसे अशुद्ध सृष्टि का मूल कारण माना गया है। साथ ही इसे कार्य भी स्वीकार किया गया है।[50] जयरथ इसका तर्कसम्मत स्पष्टीकरण

करते हैं[51] माया तत्त्व अखिल जड सृष्टि का उपादान कारण है। अतः इसे भी जड माना गया है। किन्तु इस माया तत्त्व की सृष्टि परमेश्वर की इच्छा के बिना नहीं हो सकती। इसका मूल कारण परमेश्वर की माया शक्ति को ही स्वीकार किया गया है। अतः यह माया तत्त्व भी परमेश्वरेच्छात्मक ही है। इसीलिए इसकी सत्ता को अयथार्थ न मानकर यथार्थ माना गया है। तभी यह समस्त प्रकृति, पुरुष, कंचुक आदि तत्त्वों का उपादान कारण बन जाती है।[52]

इस प्रकार हम देखते हैं कि त्रिकशास्त्र के प्रमुख व्याख्याकार अभिनवगुप्त तथा उनके परवर्ती व्याख्याकारों ने 'माया के निरूपण में' एक ओर तो आगम की साधनापरक परम्परा को दृष्टि में रखा और दूसरी ओर सोमानन्द तथा उत्पल द्वारा विकसित तत्त्वमीमांसा-प्रणाली को आधार बनाया। अतः इनके माध्यम से मायावाद का जो स्वरूप निखर कर सामने आया वह अतीव व्यापक तथा व्यावहारिक है और विश्व-विकास-प्रक्रिया के विवेचन में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। वास्तव में काश्मीर शैवदर्शन के स्रोत (आगम) साहित्य, सूत्र एवं कारिका साहित्य तथा व्याख्या साहित्य का समग्रता में अध्ययन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इनके माध्यम से जिस चिन्तन-प्रणाली का उन्मेष हुआ उसमें जीवन एवं जगत् तथा उसकी सर्जकशक्ति (महेश्वर) तीनों को सम्यक्रूपेण समझकर उनके सम्बन्धों का तर्कसम्मत विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। इस सारी प्रक्रिया में 'माया' की विशिष्ट भूमिका है और शिवाद्वयवादी सिद्धान्त के अनुसार माया चित् शक्ति का आभास है। सृष्टि से पूर्व शिव से तादात्म्य की स्थिति में यह 'मायाशक्ति' अर्थात् 'स्वातन्त्र्य' कहलाती है। विश्व के आभास के सन्दर्भ में इसे मायातत्त्व कहा जाता है। जब विश्व नानात्व में परिणत होता है तो इसे 'ग्रन्थि माया' कहते हैं। इस प्रकार माया की वह धारणा जीवन और जगत् के प्रत्येक पहलू का संस्पर्श करती है तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों और उनके साथ सर्जक-शक्ति के सम्बन्धों को समझने में पर्याप्त सहायक सिद्ध होती है। अभिनवगुप्त के मस्तिष्क में माया की आगम तथा प्रत्यभिज्ञा दोनों परिकल्पनाओं की स्पष्ट रूपरेखा विद्यमान है अतः वह निष्कर्ष के रूप में माया का जो स्वरूप प्रस्तुत करते हैं उसमें दोनों परम्पराओं' का पूर्ण सामंजस्य है। साथ ही वह यह भी स्वीकार करते हैं कि माया का अपना विचित्र संसार है तथा उसकी अन्यान्य शास्त्रों में विविध व्याख्यायें की गई हैं, किन्तु उन्होंने अपनी व्याख्या 'मालिनी-विजय-तन्त्र' की सरणि पर की है।[54]

संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. सा यद्यप्यन्य शास्त्रेषु
बहुधा दृश्यते स्फुटम् ।
तथापि मालिनी शास्त्र-
दृशा तां संप्रचक्ष्महे ॥
तं० आ० पृ० 129

2. ईश्वरेच्छावशादस्य भोगेच्छा संप्रजायते ॥24॥
भोगसाधनसंसिद्ध्यै भोगेच्छोरस्य मन्त्रराट् ।
जगदुत्पादयामास मायामाविश्य शक्तिभिः ॥25॥
मा० वि० तं० 1

3. मा० वि० तं०, 1, 13, 14

4. शिवः शक्तिः सविद्येशा मन्त्रा मन्त्रेश्वराणवः ।
उपादेयमिति प्रोक्तमेतत्षट्कं फलार्थिनाम् ॥15॥
मलः कर्म च माया च मायीयमखिलं जगत् ।
सर्वं हेयमिति प्रोक्तं विज्ञेयं वस्तु निश्चितम् ॥16॥
मा० वि० तं०, 1

5. सा चैका व्यापिनी रूपा निष्कला जगतोनिधिः ।
अनाद्यन्ताशिवेशानी व्ययहीना च कथ्यते ॥26॥
मा० वि० तं०, 1

6. माया तत्त्वं जगद्बीजं नित्यं विभु तथाव्ययाम् ।
तत्स्थं कृत्वात्मवर्गं तु युगपत् क्षोभयेत् प्रभुः ।
स्व० तं०, 11.60

7. कण्ठाकाशे स्थिरं चेतः कुर्वन्योगी दिने दिने ।
मायोत्थं फलमाप्नोति बिम्बादावपि तत्रगे ॥41॥
कण्ठकूप विधानाभं राहुग्रस्तेन्दुबिम्बवत् ।
चिन्तयन्न पुनर्याति मायादेर्वशवर्तिताम् ॥42॥
मा० वि० तं०, 16

8. शि० सू०, 3·6

9. शि० सू० वि०, पृ० 83

10. ज्ञानं जाग्रत् । 1 8
स्वप्नो विकल्पः । 1·9
अविवेको माया सौषुप्तम् । 1·10

11. शि० सू० वि०, पृ० 24-25
12. कलादीनां तत्त्वानामविवेको माया ।
शि० सू०, 3-3
13. मलमज्ञानमिच्छन्ति संसारांकुरकारणम् ।
मा० वि० तं०, 1·26 ॥
14. मधूसूदन कौल, शिवसूत्रविमर्शिनी की भूमिका, पृ० 4-5
15. आत्मप्रच्छादनक्रीडां कुर्वतो वा कथंचन ।
मायारूपमितीत्यादि षड्त्रिंशत्तत्वरूपताम् ॥
बिभ्रद्बिर्भति रूपाणि तावता व्यवहारतः ।
यावत्स्थूलां जडाभासं संहतं पार्थिवं घनम् ॥
तथा नानाशरीराणि भुवनानि तथा-तथा ।
विसृज्य रूपं गृह्णाति प्रोत्कृष्टाधममध्यमम् ॥
शि० हृ०, 1, 32, 33, 34 ॥
16. जयदेव सिंह, प्र० हृ० भू०, पृ० 13·14
17. नर्तक आत्म, शि० सू० 3·9
18. शि० सू० वि०, पृ० 89
19. विसृष्टाशेषसत्वीजगर्भत्रैलोक्यनाटकम् ।
प्रस्ताव्यहर संहर्तुं त्वत्तः कोऽन्यः कविः क्षमः ।
स्व० चिन्ता०, श्लो० 5·9 ॥
20. मायीयत्वे जगति वा प्राकृते वान्यथापि वा ।
अमूर्तकारणैर्योगात्तन्मूर्तत्वं निवार्यते ॥
शि० हृ०, 5·91 ॥
21. स्वशिवत्वभजानन्निव परवात्मव्यपदेशमासाद्य स्थितः । स्वरूपाभेदाख्यातिरेव हि मायाशक्तिकृता ग्राह्यग्राहकरूपसंसारात्मतया अवतिष्ठते । तत्र..............................वेद्यपुर्यष्टकात्मनि भिन्न इव रागितया भोगोपायविचिन्तको मायाकृतत्वात् मायोदरान्तः स्थः ॥
शि० हृ० वृ०, पृ० 30-31 ॥
22. शि० हृ०, 5·109
23. परास्य शक्तिर्विविदैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।
श्वेता०, 6.8 ॥
24. न चेदन्तः कृतानन्तविश्वरूपो महेश्वरः ।
स्यादेकश्चिद्वपुर्ज्ञानस्मृत्यपोहनशक्तिमान् ।
ई० प्र० का०, 1-3-7 ॥

25. मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।

भ० गी० 15-15 ।

26. किन्तु मोहवशादस्मिन्दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते ।
शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते ।

ई० प्र० का० 1-1-12 ।

27. मोहयति अनेन शक्तिविशेषेण इति मोहो माया शक्तिः
तस्याः वशः सामर्थ्यम् मोहनकार्यम् प्रति अविरामः
यथोक्तम् 'माया विमोहिनी नाम'……………।

ई० प्र० वि० 1-35 ।

28. कर्तरिज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे ।
अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत कः ।।

ई० प्र० का० 1-1-1 ।

29. तथा हि जडभूतानां प्रतिष्ठा जीवादाश्रया ।
ज्ञानं क्रिया च भूतानां जीवतां जीवनं मतम् ।।

ई० प्र० का० 1-1-3 ।

30. तेषां 'जडभूतानां' चिन्मयत्वेऽपि मायाख्यया ईश्वरशक्त्या, जाड्यं प्रापितानां 'जीवन्तं' प्रमातारमाश्रित्य 'प्रतिष्ठा' तत्प्रमात्राभिमुख्येन अवस्थानं ततो जडा नाम न पृथक् सन्ति ।

ई० प्र० वि० 1, पृ० 63 ।

31. तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन् ।
भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छया भासयेद् बहिः ।।

ई० प्र० का०, 1-6-7 ।

32. ………तिरोधानकरी मायाभिधा पुनः ।

ई० प्र० का० 3-1-7 ।

33. तन्त्रा०, 6, पृ० 116

34. कां० चं० पाँडेय, अभिनवगुप्त, ऐन हिस्टॉरिकल एण्ड फिलसॉफिकल स्टडी,

द्वि० सं०, पृ० 372 ।

35. अहं प्रत्यवमर्शोयः प्रकाशात्मापि वाग्वपुः ।
नासौविकल्पः स ह्युक्तो द्वयाक्षेपी विनिश्चयः ।

36. तत् अपहस्तने तु परमेश्वरस्य स्वात्मप्रच्छादनेच्छा रूपाभेदप्रकाशनं भ्रान्तिरूपं प्रति स्वातन्त्र्यरूपा मायाशक्तिर्हेतु : ।

ई० प्र० वि०, 1 पृ० 215-16 ।

37. माया च नाम देवस्य शक्तिरव्यतिरेकिणी ।
भेदावभासस्वातन्त्र्यं तथा हि स तयाकृतः ॥

तन्त्रा० 6, पृ० 116 ।

38. यन्नाम हि निखिलजगदुल्लासनक्रीडाशालिनः
परमेश्वरस्य भेदावासने स्वातन्त्र्यं तदेवाव्यतिरेकिणी अपूर्णता प्रथनेन मीनाति हिनस्ति इति मायाशक्तिरुच्यते, तथाहि तयैवायं भेदावभासः समुल्लासितः ।

तन्त्रा० टी० 6, पृ० 116 ।

39. ई० प्र० वि०, 3 पृ० 110

40. मोहयति अनेन शक्ति विशेषण इति वा मोहो मायाशक्तिः

ई० प्र० वि०, 1 पृ० 35 ।

41. आद्यो भेदावभासो यो विभागमनुपेयिवान् ।
गर्भीकृतानन्तभावविभासा सा परानिशा ॥

तन्त्रा० 6, पृ० 116 ।

42. तदमी सप्त प्रकाराः, तत्र प्रथमः प्रकारो जडोल्लासः
अन्त्यः परमशिवात्मा, मध्यमा जीवाभासाः;
सैव भगवती माया विमोहिनी नाम शक्तिः ।

ई० प्र० वि० व्या०, 1 पृ० 57-58 ।

43. न कारकव्यापारो भगवंति, नापि ज्ञापकव्यापारोऽयम्
अपितुमोहापसारणमेतत्, व्यवहारसाधनानां प्रमाणानां तावत्येव विश्रान्ते : ।

ई० प्र० वि० व्या०, 1, 59 ।

44. ई० प्र० का० 1-1-2

45. तद्वशात् प्रकाशात्मतया सततम् अवभासमानोऽपि
आत्मनि भागेन अप्रकाशनवशात् 'अनुपलक्षिते'
सर्वथा हृदयंगमीभावमप्राप्ते अतएव पूर्णतावभासन-
साध्याम् अर्थक्रियाम् अकुर्वंति तत्पूर्णताविभासनात्मका-
भिमानाविशेषसिद्धये 'प्रत्यभिज्ञा'······
प्रदर्श्यंते । कथम् ? 'शक्तेः' ईश्वरनिष्ठत्वेन,
प्रसिद्धायाः दृक्क्रियात्मिकायाः, आविष्करणेन
प्रदर्शनेन······॥

ई० प्र० वि० व्या० 1, पृ० 58-59 ।

46. त्वगसृधिरमांसं मेदोमज्जनास्थिमये सदामये काये ।

मायये मज्जयसि त्वं माहात्म्यं ते जनानजानान् ।

र० पं०, 9 ।

47. अनुपपन्नम् अवभासनं माया इति उच्यते, ततश्च भिन्नं प्रकाशात् सर्वं अवभासजातं माया, तत्र च चित्तत्त्वस्यैव स्वातन्त्र्यं मायाशक्तिः ।

ई० प्र० वि० व्या० 1, पृ० 281 ।

48. परमं यत् स्वातन्त्र्यं दुर्घटसंपादनं महेशस्य ।
देवी मायाशक्तिः स्वात्मावरणं शिवस्यैतत् ।

प० सा०, 15 ।

49. मीयते परिच्छिद्यते धरान्तः प्रमातृप्रमेयप्रपञ्चो यया सा माया; विश्व-विमोहकतया वा माया । एषा देवस्य क्रीडाशीलस्य संबन्धिनी-इति-कृत्वा 'देवी', न पुनः ब्रह्मवादिनामिव व्यतिरिक्ता काचित् माया उपपद्यते इति ।

प० सा० टी०, पृ० 44 ।

50. माया कार्योऽपि तत्त्वौघे, कार्यकारणतामिथः ।

तन्त्रा० 6, 128 ।

51. न केवलं माया कारणं कलादिक्षित्यन्तं विश्वं च कार्य·········तेन यदेव कार्यं तदेव कारणं, यदेव कारणं तदेव कार्यमिति यथा—मायापेक्षया कला कार्यविद्यापेक्षया च कारणमिति ।

तन्त्रा० टी० 6, 129 ।

52. तस्य च सृजतः परमेश्वरेच्छामयं तत एव च नित्यं स्रक्ष्यमाणवस्तुगतस्य रूपस्य जडतयाभास-शिष्यमाणत्वात् जडं सकलकार्यव्यापनादि रूपत्वाच्च व्यापकं मायाख्यं तत्त्वम् उपादानकारणं तदवभास-कारिणी च परमेश्वरस्य माया शक्तिस्ततोऽन्यैव ।

तं० सा०, पृ० 77-78 ।

53. सा जडा भेदरूपत्वात् कार्यं-पास्या जडं यतः ।
व्यापिनी विश्वहेतुत्वात् सूक्ष्मा कार्यैककल्पनात् ।
शिवशक्त्यविनाभावान्नित्यैका मूलकारणम् ।।

तंत्रा०, 6, पृ० 117 ।

54. सा यद्यप्यन्य शास्त्रेषु, बहुधा दृश्यते स्फुटम् ।
तथापि मालिनी शास्त्रदृशा तां संप्रचक्ष्महे ।।

तन्त्रा० 6, पृ० 129 ।

तृतीय उन्मेष

प्रत्यभिज्ञा दर्शन का सांख्य एवं बौद्ध दर्शनों में प्रतिभास

मायावाद शांकर वेदान्त की विशिष्ट अवधारणा है तथा इसी के माध्यम से इस प्रस्थान में जगत् की उत्पत्ति एवं विकास की व्याख्या की गई है। किन्तु प्रत्यभिज्ञा-विश्वविकास-प्रक्रिया में माया का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। दोनों प्रस्थानों में मूलभूत अन्तर यह है कि एक माया का उपयोग जगत् के मिथ्यात्व प्रतिपादन के लिए करता है, जबकि दूसरे का अभिप्रेत जगत् की सत्ता को यथार्थ सिद्ध करना है। इसके लिए शिवाद्वयवादी एक बड़ी अकाट्य युक्ति प्रस्तुत करता है। वह कहता है कि यदि विश्व महेश्वर की अनिरुद्ध इच्छा का विलास अथवा उनके स्वरूप का विस्तार मात्र तथा उससे अभिन्न है तो फिर विश्व की सत्ता असत् कैसे हो सकती है क्योंकि परमेश्वर तो परासत्ता एवं परम यथार्थ है। इससे एक बात और स्पष्ट हो जाती है कि कार्य कारण में पूर्वतः अभिन्नतया विद्यमान है। भिन्नता का केवल आभास मात्र होता है, और उस आभास में माया की पर्याप्त भूमिका है। अर्थात् माया ही महेश्वर की अव्यतिरेकिणी शक्ति होने के नाते दृश्यमान् जगत् का प्रथन करती है, उसको जन्म देती है। इस प्रकार माया ही दृश्यमान् विश्व की वास्तविक निर्मात्री है। अब यहां दो प्रश्न उठते हैं—पहला तो यह कि माया का स्वरूप क्या है, यह जड है अथवा चेतन? और दूसरा यह कि यह महेश्वर की यथार्थ शक्ति है या अयथार्थ अथवा प्रातिभासिक। चूंकि इसका स्वभाव भेदप्रथन है अतः यह चेतन नहीं जड है और चूंकि ईश्वराद्वयवाद में शक्ति और शक्तिमान् में कोई भेद नहीं होता अतः महेश्वर की अनन्य शक्ति होने के नाते यह यथार्थ है।

पुनः प्रश्न उठता है कि क्या यह मायावादी सिद्धान्त प्रत्ययवादी अथवा अद्वैतवादी प्रस्थानों की एकमात्र धारणा है, अथवा इसका प्रतिभास अन्यत्र भी उपलब्ध होता है! वस्तुवादी प्रस्थानों में सांख्य की 'मूल प्रकृति' की धारणा में मायावाद के तत्त्व विद्यमान हैं। इसी प्रकार बौद्धों के कार्यकारणवाद के सारभूत सिद्धान्त प्रतीत्यसमुत्पाद के शृंखलाबद्ध संव्यूहन की प्रथम कड़ी

परीक्षा करेंगे तथा इनमें प्रत्यभिज्ञावादी माया की अवधारणा का प्रतिभास खोजने का प्रयास करेंगे।

सांख्य की 'मूलप्रकृति' की मायात्मकता

सांख्यदर्शन के अनुसार मूल प्रकृति जगत् का मूल कारण है और इसी से यह दृश्यमान् जगत् समुद्भूत हुआ है। कार्य के विद्यमान रहते कारण के विषय में सोचना मानव-स्वभाव है। तत्त्व-चिन्तन-प्रक्रिया के विकास का वस्तुतः यही रहस्य है। हम जगत् को देखते हैं तो स्वाभाविक है कि इसके विकास-स्रोत तथा उसमें सहायक उपादान शक्ति के विषय में हमारे मस्तिष्क की चिन्तन प्रक्रिया का उन्मेष हो। विश्व की अनेक दार्शनिक प्रणालियों ने अपने-अपने ढंग से इस मूलभूत प्रश्न के समाधान खोजने के प्रयत्न किए हैं। कोई काल को, कोई स्वभाव को कोई नियति को, कोई यदृच्छा को तो कोई ईश्वर को जगत् का मूल कारण बतलाते हैं। किन्तु ये सभी तत्त्व निमित्त कारण के परिचायक हैं। जगत् का कोई न कोई उपादान कारण अवश्य होता है। आखिर वह कौन सा तत्त्व है जिससे इस जगत् का निर्माण हुआ है ?

भारतीय दार्शनिक प्रणालियों में नैयायिक जगत् का उपादान कारण परमाणुओं को और इसका निमित्त कारण ईश्वर को मानते हैं। वेदान्त-चिन्तक आत्मा को ही जगत् का निमित्त तथा उपादान कारण दोनों ही स्वीकार करता है। सांख्य के अनुसार इस जगत् में एक ओर तो नदी, पर्वत आदि जड पदार्थ हैं, और दूसरी ओर मानव, पशु, पक्षी आदि चेतन प्राणी हैं। इन दोनों प्रकार के पदार्थों का संयोग भी हमारे दैनिक अनुभव का विषय है। अब प्रश्न यह उठता है कि जड चेतन का कारण है या चेतन जड का। आधुनिक विज्ञान तो चेतन का विकास जड से मानता है और इस बात का पक्षधर है कि जड ही चेतन के रूप में परिणत हो जाता है। इसके विपरीत वेदान्त की मान्यता है कि समूची सृष्टि का विकास परम चेतन तत्त्व से होता है। जड की अपनी कोई सत्ता नहीं। चेतन का नामरूपात्मक विवर्त ही वस्तुतः ब्रह्मांड है। सांख्य का दृष्टिकोण इससे सर्वथा भिन्न है। उसके अनुसार जड और चेतन दोनों ही पदार्थों की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है तथा इन दोनों में कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं हो सकता। अखिल विश्व जड होने के साथ ही सक्रिय है। इसके विपरीत चेतन तत्त्व पूर्णरूपेण निष्क्रिय है। निखिल जगत् का मूल त्रिगुणात्मिका प्रकृति अथवा प्रधान है। सत्त्व, रज एवं तम ये तीनों गुण इस जगत् के उपादान कारण हैं। चेतन तत्त्व के संयोग से क्षुब्ध होकर ये अनेक सजातीय एवं विजातीय तत्त्वों में परिणत हो जाते हैं।

सांख्य कार्यकारणभाव के सिद्धान्त के माध्यम से मूलप्रकृति का अस्तित्व सिद्ध करने का प्रयास करता है। सांख्य दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है कि कार्य अपने कारण में पूर्वतः विद्यमान रहता है। कारण की परिभाषा करते हुए सांख्य कहता है—कारण वह सत्ता है जिसमें कार्य गुप्त रूप से विद्यमान रहता है। इसके समर्थन में वह पांच युक्तियां प्रस्तुत करता है—

(1) यदि कार्य अपने कारण में पहले से विद्यमान न हो तो उसे किसी भी प्रकार उत्पन्न नहीं किया जा सकता। शशश्रृंग अथवा आकाश-कुसुम का अस्तित्व किसी भी तरह संभव नहीं है। नीले को हजारों शिल्पकार पीला नहीं बना सकते—न हि नीलं शिल्पि सहस्त्रेणापि पीतं कर्तुं शक्यते।[2]

(2) कार्य अपने उपादान कारण का आभास मात्र है वह उससे भिन्न नहीं है।

(3) अस्तित्व में आने से पूर्व कार्य कारण में विद्यमान रहता है। यदि ऐसा न होता तो कोई भी वस्तु किसी भी वस्तु से उत्पन्न हो जाती।

(4) कार्यकारणभाव का आधार कारण-पदार्थ की क्षमता है। कोई भी पदार्थ उसी वस्तु को उत्पन्न कर सकता है जिसके लिए वह समर्थ होता है। अभिप्राय यह कि कार्य कारण में उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान रहता है। उसका प्रकट होना तो कारणभूत पदार्थ की क्षमता की अभिव्यक्ति मात्र है। यदि ऐसा न होता तो जल से दधि अथवा रेत से तेल उत्पन्न हो जाता।

(5) कार्य का स्वरूप वही होता है जो कारण का होता है। तात्त्विक दृष्टि से वस्त्र धागों से भिन्न नहीं है। तात्त्विक रूप से भिन्न पदार्थों में कार्यकारण भाव नहीं हो सकता।

वस्तुतः अन्तर्निहित तत्त्वों का प्रकाश में आने का नाम ही विकास है। हेगेल भी गुप्तावस्था से प्रकट में आने की प्रक्रिया को ही विकास मानता है। अरस्तू ने इसे 'सम्भाव्यसत्ता के रूप में संक्रमण' माना था। गीता भी इसी प्रक्रिया की पुष्टि करती है।[3] सत्कार्यवाद का यह सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि कारण तथा कार्य एक ही पदार्थ की अविकसित तथा विकसित अवस्थायें हैं। 'समूची उत्पत्ति उद्भव अर्थात् विकास और समस्त विकास अनुद्भव अर्थात् कारण में विलय हो जाना है। सांख्य अत्यन्ताभाव में विश्वास नहीं करता। उसके अनुसार भूतकाल तथा भविष्यकाल की अवस्थाओं का नाश नहीं होता। यह विकास (आविर्भाव) तथा अन्तर्लय (तिरोभाव) की परिकल्पना का समर्थक है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि आनुभविक विश्व का कोई न कोई उपादान कारण अवश्य है भले ही वह व्यक्त अर्थात् इन्द्रिय-

संनिकर्षजन्य न हो। सांख्य के अनुसार वह कारण प्रकृति है। इसे अनेक तत्वों का आत्यन्तिक संघात (सम्मिश्रण) कहा जाता है जो सतत् परिवर्तनशील है। यदि समस्त कार्य अपने कारणों में गुप्त रूप से विद्यमान हैं और हमें अनवस्था से बचना है तो एक आदि कारण अवश्य स्वीकार करना होगा जो स्वयं कारण-रहित हो अर्थात् जिसका अपना कोई कारण न हो। सांख्य द्वारा प्रतिपादित कार्यकारण-सिद्धान्त से अनुमान द्वारा यह परिणाम निकलता है कि इस आनुभविक जगत् का मूल कारण प्रकृति है, जो अव्यक्त है तथा अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रिय-गोचर नहीं हो सकती। विश्व का प्रथम सिद्धान्त होने के नाते इसे 'प्रधान' कहते हैं। विश्व के नानात्व द्वारा इसका अनुमान किया जाता है अतः यह 'अनुमान' भी कहलाती है। अत्यन्त अचेतन तत्त्व होने के कारण इसे जड भी कहा जाता है। तथा सतत् क्रियाशील अपरिमित ऊर्जा होने के कारण यह शक्ति कहलाती है। लोकाचार्य इसका समर्थन करते हुए कहते हैं—इसे प्रकृति कहा जाता है, क्योंकि यह सब परिवर्तनों का उद्भवस्थान है; अविद्या कहते हैं क्योंकि यह समस्त ज्ञान के प्रतिकूल है; माया कहते हैं क्योंकि यह चित्र-विचित्र सृष्टि का कारण है।[4] डा० राधाकृष्णन के विचार में 'यह सत्ता की प्रारम्भिक आकृति है, जिससे जीवनों की भिन्न-भिन्न व्यवस्थायें निकलती हैं।[5] प्लैटो को भी निखिल भौतिक आकृतियों के एक सार्वभौम, अदृश्य आदिस्रोत के विषय में ऐसा ही स्वरूप स्वीकार्य था।

सांख्य प्रकृति की सत्ता को लेकर पांच आधार प्रस्तुत करता है।[6]

(1) इस संसार के सभी व्यक्तिगत पदार्थ परिमित हैं। जो परिमित होता है वह किसी अन्य बाह्य वस्तु पर निर्भर होता है अतः यह विश्व का कारण नहीं हो सकता। तार्किक दृष्टि से हमारी गति सान्त से अनन्त, परिमित से अपरिमित, अस्थायी से स्थायी तथा अनेक से एक की ओर होती है; और यह अनन्त, असीम, नित्य तथा सर्वव्यापिनी प्रकृति ही इस विश्व का उद्गम-बिन्दु है।

(2) सभी सांसारिक पदार्थों में कुछ सामान्य लक्षण होते हैं जिनके द्वारा वे सुख, दुःख, औदासीन्य आदि उत्पन्न करने की क्षमता रखते हैं। अतः तीनों गुणों के संघात से निर्मित कोई एक स्रोत अवश्य होना चाहिए जहां से समस्त भौतिक पदार्थ समुद्भूत हुए हैं।

(3) वस्तुओं के विकास में अपने को व्यक्त करने वाला एक क्रियात्मक तत्त्व अवश्य है। विकास एक ऐसे तत्त्व का परिचायक है जो अपनी किसी भी स्थिति के समान नहीं हो सकता तथा जो अपने उत्पन्न पदार्थों के भीतर रहता

हुआ भी उनसे वृहत्तर है। विकास को जन्म देने वाली क्रिया का मूल कारण में विद्यमान रहना अनिवार्य है, और वह कारण प्रकृति है।

(4) कार्य कारण से भिन्न है और इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि सान्त तथा सोपाधिक जगत् अपने आपका कारण स्वयं है।

(5) विश्व का एकत्व प्रकट है जिससे एक ही कारण का निदश मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सांख्य निम्नतम स्तर से उच्चतम स्तर विश्व का अनुवर्तन स्वीकार करता है। पदार्थों के आविर्भाव तथा तिरोभाव की एक निश्चित व्यवस्था है। जगत् प्रकृति का परिणाम है और प्रकृति जगत् का कारण। प्रत्येक वस्तु किसी उत्पादक कारण का कार्य है, क्योंकि असत् से किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि हम मान लें कि कारण में कार्य से कम पदार्थ हैं तो इस अधिकांश को असत् से उत्पन्न मानना होगा। इससे यह निष्कर्ष निकला कि कारण में कार्य से अधिक नहीं तो कम-से-कम उसके समान यथार्थता को अवश्य होनी चाहिए। डेकार्ट के अनुसार मूल कारण में कार्य की पूर्ण यथार्थता, तात्पर्य तथा मूल्य अवश्य होना चाहिए। ऐसी कोई वस्तु विकसित नहीं हो सकती जो प्रारम्भ में किसी रूप में अन्तर्निहित न हो। प्रकृति सभी कार्यों का कारण है और उन्हीं से उसका अनुमान किया जाता है। किन्तु उसका अपना कोई कारण नहीं है। उत्पन्न पदार्थ पराधीन है, किन्तु प्रकृति स्वाधीन है। उत्पन्न पदार्थ अनेक हैं, देशकालावच्छिन्न हैं किन्तु प्रकृति एक है, सर्वव्यापिनी है और नित्य हैं।[7]

सांख्य द्वारा प्रतिपादित विश्वप्रक्रिया आधुनिक भौतिकी के सिद्धान्तों से बहुत कुछ मेल खाती है। ये दोनों ही सिद्धान्त विश्व के मूल कारण के रूप में एक आद्य द्रव की कल्पना करते हैं और उसकी यथार्थता पर विशेष बल देते हैं। इसे वे नित्य, अविनाशी तथा सर्वव्यापी मानते हैं। अपने दैनिक अनुभव में हम जो नानात्व एवं प्राचुर्य देखते हैं वह इसी मूल द्रव्य के कारण हैं। किन्तु सांख्यनिरूपित प्रकृति की तुलना विशुद्ध एवं सरल भौतिक द्रव्य के साथ नहीं की जा सकती। सांख्य-चिन्तक इस बात को भलीभांति समझता है कि न तो प्रकृति में पुरुष को न ही पुरुष में प्रकृति को उत्पन्न करने की क्षमता है। भौतिकवादियों के विपरीत सांख्य स्वीकार करता है कि प्रकृति का विकास एक प्रयोजन को लेकर होता है। सांख्य न तो प्रकृति को भौतिक द्रव्य मानता है न ही इसे चेतनतानि विष्ट सत्ता ही प्रतिपादित करता है, यहां पुरुष को अत्यन्त सावधानी के साथ इससे पृथक् रखा गया है। यह केवल भौतिक जगत् के पांच तत्त्वों को ही जन्म नहीं देती, अपितु, मानसिक तत्त्वों को भी

उद्भाविका है। यह समस्त प्रमेय-विषयक जीवन की केन्द्रविन्दु है। सांख्य के इस निष्कर्ष का आधार विज्ञान नहीं, अध्यात्म है। डा० राधाकृष्णन के शब्दों में 'यथार्थ तत्त्व को उसकी पूर्णता के साथ अपरिवर्तनशील प्रमाता (विषयी) और परिवर्तनशील प्रमेय (विषय) के रूप में पृथक् किया गया है, तथा प्रकृति परिणमनशील जगत् का आधार है। यह अविश्रान्त क्रियाशील जगत् के तनाव की प्रतीक है। यह बिना चेतना के, बिना किसी पूर्व-निर्धारित योजना के बरावर क्रियाशील रहती है, यह ऐसे लक्ष्य के प्रति क्रियाशील है जिसे यह समझती नहीं।'[8]

महात्मा तिलक ने 'गीतारहस्य' की भूमिका में विख्यात सृष्टि-शास्त्रज्ञ हेकेल के विचार उद्धृत किए हैं[9] जिसके अनुसार मन, अहंकार, बुद्धि और आत्मा ये सब शरीर के धर्म हैं। उदाहरणार्थ हम देखते हैं कि जब मनुष्य का मस्तिष्क बिगड़ जाता है, तो उसकी स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है; और वह पागल भी हो जाता है। इसी प्रकार सिर पर चोट लगने से जब मस्तिष्क का कोई भाग बिगड़ जाता है, तब भी इस भाग की मानसिक शक्ति नष्ट हो जाती है। सारांश यह कि मनोधर्म भी जड मस्तिष्क के ही गुण हैं; अतएव ये जड वस्तु से कभी अलग नहीं किए जा सकते, और इसीलिए मस्तिष्क के साथ-साथ मनोधर्म और आत्मा को व्यक्त पदार्थों के वर्ग में शामिल करना चाहिए। यदि यह जडवाद मान लिया जाय, तो अन्त में केवल अव्यक्त और जड प्रकृति ही शेष रह जाती है; क्योंकि सब व्यक्त पदार्थ इसी मूल अव्यक्त प्रकृति से ही बने हैं। ऐसी अवस्था में प्रकृति के सिवा जगत् का कर्त्ता या उत्पादक दूसरा कोई भी नहीं हो सकता।' परन्तु तिलक इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि यदि सृष्टि-विषयक यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाय तो यही कहना होगा, कि मूल प्रकृति की शक्ति धीरे-धीरे बढ़ती गई, और अन्त में उसी को चैतन्य या आत्मा का स्वरूप प्राप्त हो गया। सत्कार्यवाद के समान इस मूल प्रकृति के कुछ कायदे या नियम बने हुए हैं, और उन्हीं नियमों के अनुसार समस्त जगत् और साथ-ही-साथ मनुष्य भी कैदी के समान वर्ताव किया करता है। जड प्रकृति के सिवा आत्मा कोई भिन्न वस्तु है ही नहीं; तब कहना नहीं होगा कि आत्मा न तो अविनाशी है, और न स्वतन्त्र। तब मोक्ष या मुक्ति की आवश्यकता ही क्या है? प्रत्येक मनुष्य को मालूम होता है, कि मैं अपनी इच्छा के अनुसार अमुक काम कर लूँगा, परन्तु वह सब केवल भ्रम है। प्रकृति जिस ओर खींचेगी, उसी ओर मनुष्य को झुकना पड़ेगा :······उसके मतानुसार सारी सृष्टि का मूल कारण एक जड और अव्यक्त प्रकृति ही है। इसीलिए उसने अपने सिद्धान्त को सिर्फ 'अद्वैत' (मौनिजम) कहा है। परन्तु यह अद्वैत

जडमूलक है; अर्थात् अकेली जड प्रकृति में ही सब बातों का समावेश करता है, इस कारण हम इसे जड द्वैत या आधिभौतिक शास्त्राद्वैत कहेंगे।[10] किन्तु सांख्य को यह स्थिति स्वीकार्य नहीं। उसके अनुसार मन, बुद्धि और अहंकार पंच-महाभूतात्मक जड प्रकृति के ही धर्म हैं। उसकी यह भी मान्यता है कि जड प्रकृति से चैतन्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। सांख्यचिन्तक यह भी कहते हैं कि ज्ञाता और ज्ञेय देखने वाला और देखने की वस्तु या प्रकृति को देखने वाला और जड़ प्रकृति, इन दोनों बातों को मूल से पृथक् मानना चाहिए।[11] इसी द्रष्टा, ज्ञाता या उपभोक्ता को सांख्य 'पुरुष' कहता है, और यह प्रकृति से सर्वथा भिन्न है। अर्थात् प्रकृति अचेतन या जड है जबकि पुरुष सचेतन है। प्रकृति क्रियाशील है, पुरुष उदासीन या अकर्ता। प्रकृति त्रिगुणात्मक है और पुरुष निर्गुण। प्रकृति अन्धी है, तथा पुरुष साक्षी। इस प्रकार सांख्य के अनुसार यही दोनों तत्त्व भिन्न-भिन्न होते हुए भी अनादिसिद्ध स्वतन्त्र एवं स्वयंभू हैं। भगवद्गीता भी इन्हीं दोनों को अनादि तत्त्व स्वीकार करती है।[12] प्रकृति को समस्त कार्यकारण व्यापार और पुरुष को सुख-दुःखादि सभी उपभोगों का हेतु माना गया है। गीता इन दोनों को अनादि तो मानती है, किन्तु सांख्य की भाँति स्वयंभू अथवा स्वतन्त्र नहीं स्वीकार करती। कृष्ण प्रकृति को अपनी माया कहते हैं[13] और पुरुष को अपना ही अंश मानते हैं।[14] इसी प्रकार गीता सांख्य की अन्य अवधारणायें तथा पारिभाषिक पद तो ग्रहण करती है किन्तु उसके सन्दर्भ तथा प्रयोग अपने होते हैं।

इस प्रकार सांख्य ने मूल प्रकृति के रूप में जननशक्ति अथवा उपादान कारण की जो कल्पना की है उसके द्वारा अद्वैतवादी प्रस्थानों के लिए मायावाद का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। इसमें परोक्ष रूप से प्रायः वे सारे तत्त्व विद्यमान हैं जिनके आधार पर शुद्धाद्वैत सिद्धान्तों में माया को दृश्यमान् जगत् की उद्भाविनी अथवा उद्बोधिका स्वीकार किया गया है।

कार्य एवं कारण का अत्योन्याश्रयभाव विश्व का एक चिरंतन सत्य है। इसी के विश्लेषण एवं विवेचन को लेकर अनेक चिन्तन प्रणालियों का उदय हुआ है। माया, प्रकृति तथा अन्य सदृश अवधारणाओं की कल्पना इस सम्बन्ध के अन्वेषण को सुगम तथा युक्तियुक्त बनाने के उद्देश्य से की गई है। प्रत्ययवादी प्रस्थानों ने नानात्वमयी सृष्टि की सार्थकता को परिपुष्ट करने के लिए 'माया' की कल्पना की और उससे दृश्यमान् जगत् के मूलकारण के रूप में प्रस्थापित किया किन्तु इन्होंने इससे ज्ञातृत्व शक्ति तक ही सीमित रखा। वस्तुप्रत्ययवादी प्रत्यभिज्ञा प्रस्थान ने इसकी और स्पष्ट व्याख्या की तथा इसे ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व शक्ति के समन्वित रूप में प्रस्तुत किया अर्थात् इसे केवल

ज्ञान का साधन ही नहीं अपितु सृष्टि का उपकरण भी स्वीकार किया। किन्तु यह कहना गलत होगा कि यह कल्पना प्रत्ययवादी सिद्धान्तों तक ही सीमित रही। वस्तुवादी प्रस्थानों ने भी अपनी विश्वप्रक्रिया में ऐसे तत्त्वों की कल्पना की है जो अपने स्वरूप एवं आकार में भिन्न रहते हुए भी उपयोग की दृष्टि से प्रत्ययवादी अवधारणाओं से पर्याप्त सादृश्य रखते हैं। प्रणालीवद्ध चिन्तन की दृष्टि से सांख्य को प्राचीनतम सिद्धान्त कहा जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी। अतः इसके द्वारा प्रकल्पित 'मूल प्रकृति' में सृष्टि-विन्यास सम्बन्धी प्रायः सभी तत्त्व विद्यमान थे जिनका परवर्ती सिद्धान्तों ने अपने सन्दर्भों में विकास किया तथा विश्व-प्रक्रिया को व्याख्यायित करने के लिए उनका विनियोग किया।

सांख्य दर्शन के अनुसार त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही जगत् का मूल है तथा सत्त्व, रज एवं तम नामक गुण इस निखिल विश्व के उपादान कारण हैं। यही तीनों चेतन तत्त्व के संयोग से क्षुब्ध होकर अनेक सजातीय तथा विजातीय तत्त्वों में परिणत हो जाते हैं। ये क्रम से सुखात्मक, दुःखात्मक तथा मोहात्मक होते हैं तथा प्रकाश, प्रवृत्ति और नियमन करते हैं।[15] ये जब पृथक् रूप में गतिशील रहते हैं तो इसे इनकी साम्यावस्था कहा जाता है और जब इनमें परस्पर संयोग होता है तो इसे वैषम्यावस्था कहते हैं। पहली स्थिति में इनमें कोई परिणाम नहीं होता किन्तु दूसरी स्थिति में इनसे समूचे जगत् का निर्माण होता है। इनकी पूर्वास्था (साम्यावस्था) को ही मूल प्रकृति, प्रधान तथा अव्यक्त आदि अभिधान दिये गए हैं, जबकि दूसरी स्थिति को क्षुब्धावस्था अथवा सृष्टि की अवस्था कहा जाता है। इस अवस्था में स्वभाववश ये गुण कभी अपने में ही एक-दूसरे को दबाने की चेष्टा करते रहते हैं और कभी किसी कार्य की उत्पत्ति के लिए एक-दूसरे का आश्रय भी ग्रहण करते हैं।[16] इनका पारस्परिक संयोग ही महत् आदि पदार्थों की उत्पत्ति के रूप में परिणमित होता है। इसे ही सृष्टि कहते हैं। इस प्रकार सांख्य प्रणाली में विश्व का उपादान कारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। पुरुष तत्त्व से उसका संयोग इसका निमित्त कारण है। इस संयोग के ही परिणामस्वरूप जड प्रकृति सचेत (संक्षुब्ध) हो जाती है और उसकी सक्रियता निष्क्रिय पुरुष पर आरोपित हो जाती है और परिणाम यह होता है कि यही त्रिगुणात्मिका प्रकृति अनेक तत्त्वों के रूप में विन्यस्त होने लगती है। प्रत्यभिज्ञानिरूपित माया भी क्षोभ में आकर ही विश्व की रचना करती है।[17] यही नहीं, इसके सूत्र आगमों में भी विद्यमान है।[18] इसे उपादान कारण भी कहा गया है।[10] माया की कल्पना प्रत्यभिज्ञा दर्शन में दो रूपों में मिलती है—'शक्ति' के रूप में तथा 'तत्त्व' के रूप में। दोनों पर सांख्य की 'मूल प्रकृति' का प्रतिभास स्पष्ट परिलक्षित होता है।

काश्मीर शैवदर्शन सांख्य के पच्चीस तत्त्वों को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लेता है, किन्तु सृष्टि-प्रक्रिया में इनका अपने ढंग से विनियोग करता है। इस प्रकार 'पुरुष का' स्थान बारहवां तथा 'प्रकृति' का स्थान तेरहवां है। कला (छठा तत्त्व) से लेकर बाद के सारे तत्त्वों को अशुद्ध सृष्टि के अन्तर्गत माना जाता है। इस सृष्टि में अभिव्यक्त सभी तत्त्वों की गणना अशुद्धोऽध्वा के अन्दर की जाती है। जिस प्रकार शुद्ध सृष्टि के अधिष्ठाता परमशिव हैं उसी प्रकार अशुद्ध सृष्टि के अधिष्ठाता अनन्त हैं। इन्हीं की प्रेरणा से माया में क्षोभ उत्पन्न होता है और वह कला, विद्या, राग, कला तथा नियति इन पांच तत्त्वों के रूप में अपने को प्रकट करती है। ये पांच तत्त्व कंचुक कहलाते हैं और इन्हीं की सहायता से माया अशुद्ध सृष्टि का विस्तार करती है। मायासमेत इन छः कंचुकों से आवृत्त तथा संकुचित संवित् ही पुरुष तत्त्व कहलाता है। इसी को शून्य, जीव, अणु, पशु, पर, माया, प्रमाता आदि नाम भी दिया जाता है। इस माया प्रमाता का केवल 'इदम्' रूप में अवभासित प्रमेय तत्त्व ही प्रकृति तत्त्व कहलाता है।[20] यहां पुरुष तत्त्व अत्यन्त संकुचित 'अहम्' का नाम है और प्रकृति तत्त्व सामान्य आकार 'इदम्' होता है। अखिल विश्व इस 'इदम्' मात्र में उसी प्रकार विद्यमान रहता है जिस प्रकार मोर के पंखों के सभी विचित्र वर्ण उसके अण्डे के एक वर्ण वाले रस के भीतर समरस भाव से विद्यमान रहते हैं।

इसी प्रकार सांख्य की प्रकृति के अनिवार्य घटक सत्त्व, रजस् तथा तमस् को भी प्रत्यभिज्ञा दर्शन ने अपनी तीनों शक्तियों के सन्दर्भ में ग्रहण किया है। अपरिमित अवस्था अर्थात् शिवभाव में शुद्ध संवित्स्वरूप प्रमाता में असीम ज्ञान-शक्ति और क्रियाशक्ति के अतिरिक्त माया (अपोहन) शक्ति भी होती है जिसके कारण उसकी अपने भीतर अभेदात्मना विद्यमान विश्व को भिन्नतया प्रकट करने की उन्मुखता बनी रहती है। पशु दशा में प्रमाता में ये तीनों शक्तियां बनी रहती हैं। किन्तु इस स्थिति में वे संकोच के कारण सीमित रहती हैं, और दूसरे भेददृष्टि से आवृत्त रहती हैं। इस दर्शन में शक्ति और शक्तिमान् में भेद नहीं होता—'शक्तिशक्तिमतोरभेद':। अतः शिवभाव में ही ये सामर्थ्य शिव की शक्तियां मानी जाती हैं। पशु दशा में ये जीव की शक्तियां न कहलाकर जीव के गुण कहलाते हैं।[21] अभेदस्वभाव शिव तो स्वात्मरूप जगत् को समझता और उसका प्रथन करता है, किन्तु पशु (जीव) में तो अपने से भिन्न वस्तुओं के विषय में किंचित्ज्ञातृत्व और किंचित्कर्तृत्व ही रहता है। इस प्रकार संकुचित होकर शिव की ज्ञानशक्ति जीवन के सत्त्व गुण के रूप में, क्रिया शक्ति रजोगुण के रूप में तथा अपोहन शक्ति तमोगुण के रूप में प्रकट

होती है। यही तीनों गुण आनुभविक स्तर पर पुरुष के सुख, दु:ख तथा मोह बन जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सांख्य द्वारा प्रकल्पित गुणमय बीज रूप में महेश्वर की तीन शक्तियों में विद्यमान है।

आचार्य अभिनवगुप्त मूलप्रकृति से अन्तःकरण तत्त्वों की विकास प्रक्रिया के मध्य में एक अवस्था और मानते हैं और उसकी गणना प्रकृति तत्त्व के अन्तर्गत ही करते हैं। उनके विचार में जब तक प्रकृति अक्षुब्ध और शान्त भाव में रहती है तब तक उसमें परिणाम नहीं आता, और बिना परिणाम के अन्तःकरण तत्त्वों की सृष्टि नहीं हो सकती। अतः अन्तकरण तत्त्वों के अस्तित्व में आने के पूर्व प्रकृति की एक प्रक्षुब्ध अवस्था मानना ही होगा। यही प्रक्षुब्ध अवस्था उनकी दृष्टि में गुण तत्त्व है। परन्तु तत्त्व सन्दोह के क्रम में वह इसे एक अतिरिक्त तत्त्व मानने के पक्ष में नहीं है।[22]

शुद्धाद्वैत शास्त्र में प्रकृति को अनादि तथा मिथ्या मानकर इसके दो रूप स्वीकार किए गए हैं—निर्मल तथा समल। अपने निर्मल रूप में वह माया कहलाती है तथा इससे उपहित होकर ब्रह्म 'ईश्वर' कहलाता है और संसार का नियमन करता है। समल रूप में वह अविद्या कहलाती है तथा इससे संवलित होकर ब्रह्म जीव के रूप में प्रकट होकर संसारचक्र में फंसा रहता है।[23] इस प्रणाली में केवल ब्रह्म की सत्ता को पारमार्थिक अथवा यथार्थ स्वीकार किया गया है। प्रकृति, माया, अविद्या तथा जीवादि अन्य सत्ताओं की प्रतीति मात्र होती है। इनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। किन्तु अनादि काल से प्रतीयमान होते हुए विश्वप्रक्रिया को बनाये हुए हैं। इस क्रम में जीवों के कर्म भी अनादि ही माने गए हैं। इस प्रकार शुद्धाद्वयवादी एक ओर तो एकमात्र ब्रह्म की यथार्थ सत्ता मानते हैं ओर दूसरी और संसार की उपपत्ति के लिए माया, अविद्या ईश्वर, जीव तथा कर्म की भी प्रातिभासिकी सत्ता स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत ईश्वराद्वयवादी अनादि, नित्य और पारमार्थिक सत्ता केवल महेश्वर की मानता है। विश्व की उपपत्ति अथवा नियन्त्रण के लिए यदि उसे माया, अविद्या आदि की अपेक्षा हुई तो परमुखापेक्षित्व आ जायगा जो पराधीनता का दूसरा नाम है। पराधीनता जड का स्वभाव है चेतन का नहीं। इस प्रकार उपर्युक्त उपाधियों की कल्पना के कारण ब्रह्म में जडता की आपत्ति आती है। अतः महेश्वर को निरपेक्ष ही मानना होगा। इस प्रकार निरपेक्ष तथा परम स्वतंत्र शिव अपने स्वातन्त्र्य के विलास से अपने मानसपटल पर सभी प्रकार के शुद्ध, अशुद्ध, गुणातीत, गुणमय आदि तत्त्वों, भुवनों और भावों को आभासित करता रहता है इस प्रकार उसकी स्वतन्त्रता, परमेश्वरता तथा पराद्वैतता अभिव्यक्त होती रहती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सांख्य द्वारा विश्व की जनयित्री शक्ति के रूप में प्रकल्पित मूल प्रकृति की अवधारणा में मायावाद के बीज विद्यमान हैं। किन्तु यह धारणा शुद्धाद्वैतवादी माया की धारणा की अपेक्षा ईश्वराद्वयवादी धारणा के अधिक निकट बैठती है। सांख्य की प्रकृति अव्यक्त सूक्ष्म, जड तथा जगत् का उपादान कारण है। शंकर इसके अव्यक्त स्वरूप को तो स्वीकार कर लेते हैं और अपनी माया को सदसदनिर्वाच्य कहते हैं किन्तु वह जड प्रकृति को मूल कारण मानने को तैयार नहीं। उनके अनुसार ब्रह्म जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं संहृति का हेतु है। यही इस जगत् का निमित्त कारण भी है समवायि कारण भी। माया की इससे पृथक् कोई सत्ता नहीं है, अतः यदि सांख्य का जडत्व सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाय तो ब्रह्म पर जडत्व की अपात्ति आ जाती है। इसी प्रकार शंकर माया की सत्ता को यथार्थ नहीं मानते जबकि सांख्य की प्रकृति की यथार्थ तथा स्वतंत्र सत्ता है। न केवल इसकी अपितु इसके द्वारा प्रसूत जगत् की सत्ता भी यथार्थ है, क्योंकि ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं है, न ही इसकी उत्पत्ति दुष्ट अथवा भ्रमात्मक कारणों से हुई है।[24] सांख्य तो वस्तु का नियामक ही उसकी वास्तविकता को मानता है।[25] प्रत्यभिज्ञा दर्शन को भी यही स्थिति स्वीकार्य है। उसके अनुसार यदि वस्तु है तो वह यथार्थ अवश्य होगी, और यदि यथार्थ नहीं तो वह वस्तु ही नहीं है। उसके अनुसार जगत् का कर्ता उसके उपादान तथा जगत् तीनों ही यथार्थ हैं। जहां तक प्रकृति के जडत्व का प्रश्न है यह भी इसे स्वीकार्य है; क्योंकि इसकी माया भेदस्वभाव है और इसीलिए जड़ भी है। भिन्नवेद्यप्रथा माया का व्यापार है और वह तब तक सम्भव नहीं जब तक वह अचेतन अथवा जड न हो—'परिच्छन्नप्रकाशत्वं जडस्य हि लक्षणम्।' न केवल वह जड है, अपितु सांख्य की मूल प्रकृति की भांति 'व्यापिनी' है, 'सूक्ष्मा' है; और है 'नित्या' तथा जगत् का मूलकारण।[26] यद्यपि प्रकृति स्वयं जड है किन्तु सृष्टि के विकास के लिए सचेतन तत्त्व 'पुरुष' के साथ इसका संयोग अनिवार्य है। इसके बिना सृष्टि की कल्पना असंभव है और माया तो है ही महेश्वर की अव्यतिरेकिणी शक्ति। ये अपने सारे व्यापार 'अनन्त' की प्रेरणा से करती है। कार्य अपने कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है, विश्वप्रक्रिया सम्बन्धी यह मूल सिद्धान्त भी शैवों को सांख्य की ही देन है। जिस प्रकार प्रकृति समस्त प्रमेय तत्त्व की अधिष्ठान है और संक्षुब्ध होकर वह उनका आविर्भाव करती है, उसी प्रकार अशुद्धोध्वा के समस्त तत्त्व माया में प्रलीन रहते हैं और भगवान् अनन्त द्वारा प्रेरित होकर वह उसका प्रथन करती है। महेश्वर के अन्तस् में तो सभी छत्तीस तत्त्व अभेदात्मना विद्यमान रहते हैं, वह जब चाहता है अपनी भित्ति पर उनका

उन्मीलन करता है।[27] इस प्रकार न केवल माया की अवधारणा तथा विश्व-विकास-प्रक्रिया अपितु समस्त कार्य-कारण-सिद्धान्त के लिए प्रत्यभिज्ञादर्शन सांख्य का ऋणी है।

बौद्धों का प्रत्यभिज्ञान

प्रत्यभिज्ञा दर्शन तथा बौद्ध दर्शन पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि प्रत्यभिज्ञा प्रणाली बौद्ध प्रणाली का पुनरभिस्थापन मात्र है, विशेषरूप से विज्ञानवाद तथा शून्यवाद के सिद्धान्त प्रत्यभिज्ञा-तत्त्वमीमांसा पर स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होते हैं। यही बात शांकर वेदान्त के विषय में भी कही जा सकती है। यहां तक कि बौद्ध दर्शन के विषय में भी यदि कहा जाये कि प्राचीन बौद्धमत उपनिषदों के विचार की नये दृष्टिकोण से पुनरावृत्ति है, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। कोई भी चिन्तन प्रणाली स्वतः प्रसूत नहीं होती। उस पर अपने से पूर्व विद्यमान चिन्तनधारा का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। जहां तक उत्पल के दर्शन का प्रश्न है, इसका विकास एक ऐसी ऐतिहासिक प्रक्रिया से गुजरा था कि इसके ऊपर पूर्वप्रचलित तथा समकालिक दार्शनिक चिन्तनधाराओं का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता था। अपने सिद्धान्त के विकास के विषय में बुद्ध ने स्वयं स्वीकार किया था कि आत्म-संस्कृति के प्रयत्न द्वारा जिस धर्म की उन्होंने खोज की है वह एक प्राचीन मार्ग है और नित्य धर्म है। डा० राधाकृष्णन के अनुसार 'अपनी कल्पना के विकास के लिए बुद्ध को केवल उपनिषदों से वैदिक धर्म के बहुदेववाद एवं धर्म के साथ जो असंगत समझौते किये गये थे उन्हें निकाल देने की आवश्यकता थी; और ऐसे सर्वातिशायी परम तत्त्व को जिसकी अनुभूति विचार के द्वारा नहीं हो सकती और नीतिशास्त्र के लिए जो अनावश्यक था, दूर हटा देना था किंवा उपनिषदों के नैतिक सार्वभौमवाद पर अधिक बल देना था।'[28] आगे चल कर नागार्जुन, वसुवन्धु तथा धर्मकीर्ति आदि बौद्ध आचार्यों ने बौद्ध चिन्तन को एक अभिनव दिशा तथा गतिशील आयाम प्रदान किया। काश्मीर शैव दर्शन के तीनों मूर्धन्य चिन्तकों सोभानन्द, उत्पल तथा अभिनवगुप्त पर इन बौद्ध चिन्तकों, खासतौर पर नागार्जुन का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। यह बात अलग है कि अपने मूल चिन्तन-स्रोत आगमसम्मत अध्यात्म विद्या को परिपुष्ट करने तथा अपनी प्रणाली को अधिक जीवनोन्मुखी बनाने के लिए इन्होंने बौद्धों पर तीखे प्रहार किए।

'प्रत्यभिज्ञा', जिसको मूलभूत सिद्धान्त स्वीकार कर सोभानन्द ने इस दर्शन की आधारशिला रखी तथा जिसे शिव के साथ सामरस्य अथवा समावेश का अनन्य साधन माना गया, की धारणा प्रारम्भिक बौद्ध दार्शनिकों को ज्ञात थी।

बुद्धघोष (400 ई०) द्वारा प्रस्तुत प्रक्रिया के अनुसार संज्ञा की विशेषता, विशेष चिह्नों द्वारा वस्तु विशेष को पहचानना है जिसे बौद्ध दर्शन में 'पच्चभिज्जा' (प्रत्यभिज्ञा) नाम दिया गया है और जिन चिह्नों से पहचानते हैं उसे अभिज्ञान कहा गया है। एक अन्य व्याख्या के अनुसार किसी वस्तु के पहचानने के लिए उसके सम्पूर्ण स्वरूपों को साथ-साथ पहचानना आवश्यक होता है। इसे 'सब्बसंगहिकवसेन' द्वारा अभिहित किया गया है। चेतना का व्यापार विभिन्न स्वरूपों का समन्वय और उनका एक साथ बांधना (अभिसंदहन) है। चेतना विशेष रूप से पूर्ण शक्ति के साथ कार्य करने वाली है। इसका धर्म और प्रयत्न दोनों ही द्विगुणित होते हैं। इसलिए प्राचीन दार्शनिकों ने कहा है, 'चेतना उस भूस्वामी किसान की तरह से है जो अपने खेतों को काटने के लिए 55 शक्तिशाली आदमियों को इकट्ठा कर बड़े उत्साह के साथ उनको कार्य में लगा देता है और उनसे कहता है कि अपने-अपने हिस्से लेकर भाग में आने वाली फसल को काट डालो। वह उनके खाने पीने आदि की व्यवस्था सुचारु रूप से करता है। उनको प्रसन्न रखते हुए और उत्साहित करते हुए उनकी शक्ति के अनुसार खूब काम लेता है। इसी प्रकार चेतना एक भूस्वामी किसान के समान है। बोध ज्ञान की 55 नैतिक प्रवृत्तियां 55 शक्तिशाली श्रमिकों के समान हैं। चेतना इन 55 प्रवृत्तियों से कसकर दोहरा काम लेती है और ये प्रवृत्तियां चेतना के अंकुश के नीचे नैतिक अथवा अनैतिक कार्यों को बड़ी तेजी से करती हैं।[26] ऐसा लगता है संखार (संस्कार) के सक्रिय तत्त्व को चेतना के नाम से पुकारा गया है। संयुक्त निकाय में संखार की व्याख्या इस प्रकार की गई है—चूंकि वह समन्वय करता है (अभिसंखरन्ति) अतः इसे संखार कहते हैं। बौद्ध दर्शन में 52 संस्कार गिनाये गये हैं और साथ ही यह भी बताया गया है कि संस्कार तत्त्वसमूह को समुच्चित करता है। इस प्रकार संस्कार शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया गया है—(1) मनःस्थिति के अर्थ में (2) ऐसी क्रिया के रूप में जो विभिन्न तत्त्वों में समन्वय उत्पन्न करती है।

बुद्धघोष कहते हैं कि विज्ञान अथवा चित्त शब्द उन दोनों अवस्थाओं के लिए उपयोग में आता है जो प्राथमिक बौद्धिक प्रतिक्रिया के आरम्भ की होती है और जो उससे हुए अन्तिम बोध (ज्ञान) की होती है।

बौद्ध मनोविज्ञान की व्याख्या-प्रसंग में बुद्धघोष कहते हैं, "चित्त पहले वस्तु विशेष के सम्पर्क (फस्स अथवा स्पर्श) में आता है, फिर वेदना, प्रत्यय (संज्ञा) और चेतना की उत्पत्ति होती है। यह सम्पर्क एक विशाल भवन के स्तम्भों की तरह है और शेष इन खम्भों पर बने हुए ढांचे के समान (दब्ब संभार सदिसा) है। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि स्पर्श मानसिक प्रक्रिया का

आरम्भ है क्योंकि एक सम्पूर्ण-बोधचेतना की क्रिया में यह नहीं कहा जा सकता कि यह वस्तु पहले आती है या पीछे। इस प्रकार हम स्पर्श और वेदना, संकल्पना और चेतना को एक ही क्रिया का अंग मान सकते हैं। यह स्वयं में एक ऐसी स्थिति है जिसका विशेष महत्त्व अथवा अस्तित्व नहीं है परन्तु चूंकि इसके द्वारा वस्तुओं का भान होता है, इसीलिए इसको स्पर्श कहते हैं। स्पर्श से किसी वस्तु का भौतिक स्पर्श ही अभिप्रेत नहीं है, इसके द्वारा वस्तु का और मानसिक चेतना (चित्त) का संघात (सम्पर्क) होता है जिससे संभव होता है देखना, कानों में ध्वनि सुनना आदि। यहां ध्वनि का संघात श्रवण-शक्ति पर होता है। इस प्रकार स्पर्श का विशिष्ट गुण वस्तुओं के साथ सम्पर्क में आना है अथवा वस्तुसंघात स्पर्श का कार्य है। इस संघात अथवा सम्पर्क से बाह्य वस्तु का मानसिक स्वरूप में परिवर्तन होता है। अर्थात् बुद्धि या चेतना स्पर्श के कारण ही बाह्य सामग्री के रूप को ग्रहण करती है।"[1]

इसी प्रकार आगे चलकर क्षणिकवाद के निरूपण के प्रसंग में भी प्रत्यभिज्ञा प्रक्रिया प्रतिभासित होती है। बौद्ध दर्शन किसी वस्तु को स्थायी नहीं मानता। कोई भी पदार्थ एक क्षण में दृष्टिगोचर होता है और दूसरे क्षण में नष्ट हो जाता है। जो भी सत्ता में है, सभी क्षणभंगुर है। स्थायिता के सिद्धान्त का आधार 'स्व' अथवा 'आत्मा' को माना जाता है किन्तु बौद्धधर्म 'स्व' को ही नहीं मानता। 'स्व' के रूप में हमें जो बोध होता है वह केवल इन विचारों, भावनाओं तथा सक्रिय प्रवृत्तियों का एक समवाय मात्र है जो किसी क्षण विशेष में अवभासित होता है। वे अगले क्षण तिरोहित हो जाती हैं और उनसे प्रसूत दूसरी भावनायें और प्रवृत्तियां आभासित होती हैं। भावनाओं, प्रत्ययों और क्रियारूप प्रवृत्तियों से परे कोई 'स्व' अथवा आत्मा का अस्तित्व नहीं है। इसका समवाय ही आत्मा के एक भ्रमात्मक प्रत्यय की सृष्टि के लिए उत्तरदायी है। किसी क्षण विशेष में इस समवाय द्वारा आत्मा की अनुभूति पैदा होती है और चूंकि अगले क्षण ये भावना, प्रत्यय आदि बदल जाते हैं अतः स्थायी आत्मा जैसी किसी वस्तु की कल्पना नहीं की जा सकती। इसे और स्पष्ट करता हुआ क्षणिकवादी कहता है कि यह तथ्य कि "मुझे स्मरण है कि मैं चिरकाल से निरन्तर विद्यमान हूँ"—इस बात को सिद्ध नहीं कर देता कि चिरकाल से एक स्थायी आत्मा भी विद्यमान है। जब मैं कहता हूँ कि "यही वह पुस्तक है" मैं इस पुस्तक को अपने नेत्रों से वर्तमान क्षण में देखता हूँ किन्तु यह बात कि यह पुस्तक वही पुस्तक है (जो कि मेरी स्मृति में इस समय है) इन्द्रियगम्य नहीं है। उस पुस्तक से स्मृतिगत किसी भूतकालिक पुस्तक का बोध होता है जबकि यह पुस्तक आंख के सामने विद्यमान है। इस प्रकार स्थायिता

की सिद्धि के लिए प्रत्यभिज्ञा की जिस भावना का उपयोग किया जाता है वह स्मृतिगत किसी पदार्थ में, जो भूतकालिक है तथा सुतरां भिन्न है, वर्तमान-कालिक और इन्द्रियगम्य किसी पदार्थ का भ्रम पैदा करने के कारण जन्म लेती है। क्षणिकवादी का अडिग विश्वास है कि यह बात केवल बाह्य पदार्थों की प्रत्यभिज्ञा तथा स्थायिता पर ही नहीं प्रत्युत आत्मा के स्थायित्व की धारणा पर भी लागू होती है, क्योंकि आत्मा की प्रत्यभिज्ञा स्मृति में समुदित कुछ प्रत्ययों या भावनाओं के साथ वर्तमान क्षणागत तत्सदृश भावनाओं अथवा प्रत्ययों को मिला देने से प्रादुर्भूत होती है। किन्तु स्मृति भूतकालिक पदार्थों को अवभासित करती है, और प्रत्यक्ष वर्तमानकालीन पदार्थों को आभासित करता है, अतः इन दोनों को मिला देने से प्रत्यभिज्ञा सिद्ध नहीं होती। प्रत्येक क्षण संसार पदार्थों के विनाश तथा तिरोधान की प्रक्रिया से गुजरता रहता है फिर भी पदार्थ स्थायी जैसे प्रतीत होते हैं और प्रायः विनाश की क्रिया अवभासित नहीं होती। हमारे नख और केश बढ़ते हैं तथा काट दिए जाते हैं। उनके स्थान पर नए नख और केश निकल आते हैं किन्तु हमें ऐसा लगता है कि ये वही नख और केश हैं जो पहले थे। इसी प्रकार पुराने पदार्थों के स्थान पर हर क्षण नए पदार्थ जन्म लेते हैं किन्तु हमें ऐसा भान होता है कि हम उन्हीं पुराने पदार्थों को ही देख रहे हैं।[31] एक अन्य उदाहरण बहुधा क्षणिकता-बोध-प्रसंग में प्रस्तुत किया जाता है। दीपशिखा की लौ हर क्षण बदलती रहती है किन्तु हम यह समझते हैं कि यह वही लौ है जो पहले थी। उसी प्रकार हमारे शरीर, प्रत्यय, भावनायें तथा चतुर्दिक प्रसारित पदार्थ प्रत्येक क्षण नष्ट होते रहते हैं और अनुवर्ती क्षणों में नए पदार्थ उद्भूत होते रहते हैं, किन्तु जब तक नए पदार्थ अपने पूर्ववर्ती पदार्थों के समान होते हैं तब तक हमें यही आभास होता है कि ये वही पदार्थ हैं और विनाश जैसी कोई वस्तु नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'प्रत्यभिज्ञा' की धारणा एक ज्ञातृत्व तथा मानसिक प्रक्रिया के रूप में बौद्ध चिन्तन-धारा में विद्यमान थी, भले ही उसका परिप्रेक्ष तथा प्रयोग त्रिक-प्रक्रिया से भिन्न रहा हो।

इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञा दर्शन के 'आभासवाद' की प्रक्रिया का प्रतिभास बुद्ध की इस शिक्षा में देखा जा सकता है, "हे भिक्षुओ इसको रूपम् इसलिए कहते हैं कि ये अपने आपको प्रकट करता है (रूपायति)। यह अपने आपको किस प्रकार प्रकट करता है? इसके उत्तर में कहा गया है कि यह गर्मी, सर्दी भूख, प्यास आदि के स्पर्श के रूप में अपने आपको प्रकट करता है। मच्छर, कीट, वायु, सूर्य और सर्प आदि के स्पर्श के रूप में इस रूप को हम प्रत्यक्ष देखते हैं और इसीलिए उसको रूप कहते हैं।"[32]

धम्मसंगणि में रूप की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि चार महाभूत अथवा तत्त्व और उन महाभूतों के ग्रहण से जो कुछ उत्पन्न होता है उसे रूप कहते हैं।[33] बुद्धघोष रूप की व्याख्या करते हुए कहते हैं, कि चार महाभूत और उन पर निर्भर (निस्साय) जो कुछ है उससे जो उत्पन्न तत्त्व हैं उसे रूप कहते हैं। रूप में षडिन्द्रियां और उनसे उत्पन्न विकार सम्मिलित हैं। चार तत्त्वों को महाभूत क्यों कहा गया है, इसको स्पष्ट करते हुए बुद्धघोष कहते हैं "जिस प्रकार एक जादूगर (मायाकार) जल को कड़ा न होते हुए भी ठोस बना देता है, पत्थर सोना न होते हुए भी सोने के समान दिखाई देता है (नीलम् उपादा रूपम्); यद्यपि ये पीले, लाल श्वेत आदि नहीं हैं फिर भी पीत, लाल और श्वेत दिखाई देते हैं। अतः मायाकार के द्वारा प्रस्तुत दृश्यों के समान होने से इन तत्त्वों को महाभूत कहते हैं।[34] इस प्रकार हम देखते हैं कि रूप की इस व्याख्या के द्वारा 'आभासवाद' की पूरी प्रक्रिया का निरूपण कर दिया गया है। महेश्वर भी (एक जादूगर की भांति) अपने अन्तस्तल में स्थित समस्त तत्त्वों को जगतीतल पर बिखेर देता है और हम उसके नानात्व को देखकर चमत्कृत एवं उल्लसित होते हैं।

बौद्ध दर्शन में मायावादी तत्त्व

अब देखना यह है कि बौद्ध दर्शन में मायावादी तत्त्व कहां तक विद्यमान हैं। अज्ञान के सिद्धान्त को पहली बार लोकप्रिय स्वीकृति मिली महायान बौद्धमत में। नागार्जुन पहली बार जगत् की सत्ता के विषय में अपना पक्ष प्रस्तुत करता है जिसके अनुसार यह न तो यथार्थ है, न ही अयथार्थ, न सत् है, न ही असत्। उसके अनुसार सत्य के दो रूप हैं—(1) अज्ञान अथवा अविद्या से आवृत्त तथा सामान्य अनुभवजन्य सत्य जिसे संवृति सत्य कहते हैं और (2) परमार्थ सत्य जो अनुपहित तथा परमसत्य होता है। अनुपहित तथा परम-सत्य की कल्पना में संवृति सत्य अविद्या के अनुरूप हो जाता है, जिसका व्यापार सत्य को आवृत्त करना है, जिसके फलस्वरूप आनुभविक जगत् का आभास यदि अयथार्थ नहीं तो कम से कम असत्य के रूप में होता है।[35] बौद्ध प्रणाली में अविद्या की धारणा को सम्यक्रूपेण समझने के लिए प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त को समझना आवश्यक होगा।

प्रतीत्यसमुत्पाद (पतिच्चसम्पुपाद) की बौद्ध साहित्य में अनेक व्याख्यायें उपलब्ध होती हैं।[36] समुत्पाद का अर्थ है—प्रकट होना (प्रादुर्भाव) और प्रतीत्य (प्रति+ईय) का अर्थ है प्राप्त होने पर। इन दोनों पदों का संवलित अर्थ हुआ—'प्राप्त होने पर प्रादुर्भाव'। वे तत्त्व जिनसे प्रादुर्भाव होता है उनको हेतु और प्रत्यय (पच्चय) अर्थात् आधार कहते हैं। इन दोनों शब्दों का प्रयोग

कभी-कभी एक ही अर्थ में पर्याय की तरह होता है। किन्तु प्रत्यक्ष कभी-कभी विशेष अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। इस प्रकार जब यह कहा जाता है कि अविज्जा (अविद्या) संखार (संस्कार) का पच्चय (प्रत्यय) है तो उसका अर्थ होता है कि अविद्या संस्कारों से उत्पन्न होने की आधारभूमि (थिती) है। वह उनकी प्रक्रियाओं का भी आधार है—वह निमित्त है जिससे वे कायम रहती हैं (निमित्ताठ्यिती)।

नागार्जुन की माध्यमिक कारिकाओं का टीकाकार चन्द्रकीर्ति प्रतीत्य-समुत्पाद की व्याख्या इस पद के दो निर्वचनों से प्रारम्भ करता है—(1) प्रत्ययों के द्वारा अभाव की उत्पत्ति अर्थात् हेतु-प्रत्ययों पर ही प्रतीति निर्भर है, उससे अभाव का समुत्पाद होता है। (2) प्रतीत्य से तात्पर्य है प्रत्येक विनाशी पदार्थ अथवा व्यक्ति और प्रतीत्यसमुत्पाद से तात्पर्य है प्रत्येक विनाशी पदार्थ की उत्पत्ति। परन्तु इन दोनों निर्वचनों को वह निरस्त कर देता है। दूसरा निर्वचन तो पाली-ग्रन्थों के प्रतीत्यसमुत्पाद से मेल नहीं खाता। वहां प्रत्येक विनाशी पदार्थ की उत्पत्ति से तात्पर्य नहीं है किन्तु विशिष्ट व्यक्तिगत संवृतियों (जैसे चाक्षुष प्रत्यक्ष द्वारा आंख के व्यापार से पदार्थ की प्रतीति) की उत्पत्ति से है, जो विशिष्ट स्थितियों पर निर्भर होती है।

प्रथम निर्वचन को भी वह युक्तिसंगत नहीं मानता। वह कहता है कि यदि हम किसी समुत्पाद को लें, जैसे किसी चाक्षुष पदार्थ को, तो हम देखेंगे कि दृश्य ज्ञान और भौतिक इन्द्रिय के बीच कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता और इसलिए वह बात प्रमेय नहीं हो सकती कि दृश्य ज्ञान आंख पर निर्भर है। वह आगे कहता है कि यदि हम प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त का यह निर्वचन करें कि उसका अर्थ वह घटना है जो हो रही है तो उससे किसी भी समुत्पाद की परिभाषा नहीं हो सकेगी। समस्त समुत्पाद मिथ्या है, क्योंकि कोई भी पदार्थ न तो स्वतः उत्पन्न होता है, न अन्यों के द्वारा, न किसी कारण से, न ही किसी कारण के बिना, क्योंकि यदि कोई पदार्थ पहले से अस्तित्व में है तो पुनः अपने आप कैसे उत्पन्न हो सकता है? यदि यह मान लिया जाय कि वह अन्य के द्वारा समुत्पन्न है तो इसका अर्थ यह होगा कि वह पहले से विद्यमान किसी पदार्थ का समुत्पाद है। यदि अन्य कोई विशेषण जोड़े बिना यह कहा जाय कि एक पर निर्भर होते हुए इसकी वस्तु अस्तित्व में आती है तो इसका अभिप्राय यह होगा कि किसी भी एक पदार्थ पर निर्भर होते हुए दूसरा पदार्थ अस्तित्व में आ सकता है। इस तरह प्रकाश से अन्धकार अस्तित्व में आ जायगा। जब एक वस्तु न तो स्वयं उत्पन्न होती है न ही अन्यों के द्वारा, तो वह इन दोनों के समवाय से भी कैसे पैदा हो सकेगी? कोई भी पदार्थ बिना

किसी कारण के अस्तित्व में नहीं आ सकता अन्यथा सभी पदार्थ सभी कालों में अस्तित्व में आ जायेंगे। अतः मानना होगा कि जहां-जहां बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद की बात कही है उनका तात्पर्य उन भ्रमात्मक प्रत्यक्षों से है जो बुद्धि और (अज्ञान से आवृत्त) इन्द्रियों को प्रतीत होते हैं। इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद कोई वास्तविक नियम नहीं, अपितु अविद्याजन्य प्रतीति मात्र है। अविनाशी पदार्थ (अमोष धर्म) केवल निर्वाण है, अन्य समस्त ज्ञान के विषय और संस्कार मिथ्या हैं और प्रतीति के साथ ही समाप्त हो जाते हैं—'सर्वसंस्काराश्च मृषामोषधर्माणः।'

इस सिद्धान्त के विरोध में कभी-कभी कहा है कि यदि सभी प्रतीतियाँ मिथ्या हैं तो इनका कोई अस्तित्व नहीं होना चाहिए, इस प्रकार न तो अच्छे, बुरे काम होने चाहिए, न ही सृष्टिक्रम। जब इन सब का कोई अस्तित्व ही नहीं तो इनके बारे में विचार मात्र बौद्धिक व्यायाम होगा। इस पर शून्यवादी कहता है, हमारा उद्देश्य वस्तुओं को भ्रम के कारण सत्य मानने वाले लोगों की धारणा का निराकरण है। जो वस्तुतः विद्वान् हैं वे किसी भी वस्तु को सत्य या मिथ्या नहीं मानते। ज्ञानी व्यक्ति के लिए न कोई कर्म है न संसार। अतः वह प्रतीतियों की सत्ता अथवा असत्ता के चक्कर में नहीं पड़ता। 'रत्नकूट सूत्र' कहता है, चाहे कितनी गहरी खोज करो चित्त को नहीं खोजा जा सकता। जिसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता उसकी सत्ता नहीं कही जा सकती, जिसकी सत्ता नहीं उसका कोई भूत, भविष्य या वर्तमान नहीं, और इसीलिए उसका कोई स्वभाव भी नहीं कहा जा सकता। जिसका स्वभाव नहीं उसका समुत्पाद अथवा विनाश भी नहीं हो सकता। अपने ज्ञानविपर्यास के कारण जो व्यक्ति प्रतीतियों के मिथ्यात्व को नहीं समझ पाते वे संसारचक्र की यन्त्रणा में ग्रस्त हो जाते हैं। समस्त भ्रमों की तरह मिथ्या होने पर भी ये प्रतीतियां पुनर्जन्म और यन्त्रणा दे सकती हैं।

यहां पुनः आपत्ति की जा सकती है कि यदि कोई वस्तु सत्य नहीं तो यह कथन, कि समुत्पाद और समाप्ति नहीं है, भी सत्य कैसे हो सकता है? इसके समाधान में चन्द्रकीर्ति कहता है कि सत्य चरम शक्ति है। शून्यवादी भिक्षु विमर्श के प्रसंग में सामान्य जन के तर्कों को कुछ समय के लिए स्वीकार करके उन्हें समझाने के लिए उनकी भाषा में, समस्त प्रतीतियों को वास्तविकता बतलाने के लिए इन शब्दों का प्रयोग करते हैं। चन्द्रकीर्ति कहता है कि समस्त प्रतीतियों के मिथ्यात्व-प्रतिपादक तर्कों के बावजूद यह कहना युक्तियुक्त नहीं होगा कि प्रतीतियां अनुभव द्वारा परीक्षित हैं, क्योंकि जिसे अनुभव कहा जाता है वह केवल भ्रम है, मिथ्या है, इन कार्यों की कोई सत्ता नहीं।

जब प्रतीत्य समुत्पाद की परिभाषा 'वह जैसा कि वह है' के रूप में की जाती है तो उसका अर्थ होता है कि वस्तुएं प्रतीतियों के रूप में एक के बाद एक संकेतित की जा सकती हैं, किन्तु उनकी वास्तविक सत्ता अथवा स्वभाव नहीं होते। माध्यमिक वृत्ति में शून्यवाद का भी यही अर्थ प्रतिपादित किया गया है।[37] प्रतीत्य समुत्पाद और शून्यवाद का वास्तविक अर्थ है कि घटनाएं जो प्रतीत होती हैं, सत्य नहीं हैं। जब वे सत्य नहीं हैं तो न उत्पन्न होती हैं, न नष्ट होती हैं, वे मात्र माया की प्रतीतियां हैं। 'शून्य का तात्पर्य शुद्ध अभाव से नहीं' क्योंकि वह किसी वस्तु या स्थिति से जुड़ा हुआ होता है। उसका वास्तविक अर्थ है—वस्तुओं का कोई स्वभाव नहीं (निःस्वभावत्वम्)।

माध्यमिक तथा शून्यवादी दोनों ही नहीं मानते कि वस्तु में सत्य का स्वभाव होता है। उष्णता को अग्नि का स्वभाव नहीं कह सकते क्योंकि अग्नि और ताप अनेक स्थितियों के समवाय के परिणाम हैं और जो अनेक स्थितियों पर निर्भर है वह वस्तु का स्वभाव नहीं हो सकता। वस्तु का स्वभाव तो उसे कह सकते हैं जो किसी अन्य पर निर्भर न हो। चूंकि ऐसा कोई भी स्वभाव देखने में नहीं आता जो अपने आपमें अनिर्भर हो अतः उसका अस्तित्व हम कैसे मान सकते हैं? जब किसी वस्तु में सार या सत्ता नहीं है तो उसमें अन्य वस्तुओं का सार (परमान) भी कैसे हो सकता है? जब किसी वस्तु में किसी वस्तु का सकार नहीं हो सकता तो उसका नकार भी नहीं हो सकता। जब पहले कोई किसी वस्तु का भाव मानता है, बाद में समझता है कि वे नहीं है, तब वह उसका अभाव जानता है। किन्तु जब हम किसी वस्तु का भाव ही नहीं मानते तो अभाव भी कैसे मान लें?[38]

माध्यमिक प्रक्रिया अथवा क्रम में विश्वास नहीं करता। यहां प्रश्न उठता है कि यदि कोई क्रम नहीं है और संसार का अनेक यन्त्रणाओं वाला चक्र भी नहीं है तो फिर निर्वाण क्या है जिसे समस्त क्लेशों से मुक्ति बतलाया गया है? माध्यमिक कहता है कि उसके अनुसार निर्वाण समस्त घटनाओं के सार का अभाव है। उसे किसी वस्तु की समाप्ति या निरोध अथवा किसी वस्तु की उत्पत्ति के रूप में नहीं देखा जा सकता वह 'अनिरुद्धम् अनुत्पन्नम्' है। निर्वाण की कोई वस्तु-सत्ता अथवा कोई भाव नहीं है, क्योंकि वस्तुएं और सत्ताएं कारणों के कार्य होती हैं और विनाशगोचर भी होती हैं। यह अभाव नहीं है क्योंकि जब भाव ही नहीं तो अभाव कैसा? घटनाएं कभी उत्पन्न होती हैं, कभी नष्ट होती हैं किन्तु उन्हें अस्तित्वमूलक अथवा अनस्तित्वमूलक नहीं कहा जा सकता। निर्वाण से अभिप्राय है—इस प्रतीयमान प्रपंच-प्रवृत्ति की समाप्ति। उसे भाव या अभाव नहीं कह सकते। ये शब्द प्रपंचों के लिए ही प्रयुक्त हो

सकते हैं।[39] ऐसी स्थिति में कोई ज्ञान भी नहीं होता। यहां तक कि यह ज्ञान भी नहीं कि प्रपंच की समाप्ति हो गई है। स्वयं बुद्ध भी एक प्रपंच, आभास या स्वप्न ही हैं और उनकी शिक्षाएं भी इसी प्रकार हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सिद्धान्त के अनुसार बन्धन या मुक्ति जैसी कोई वस्तु नहीं। समस्त प्रपंच प्रतिबिम्ब मृगतृष्णा, स्वप्न, माया आदि के समान निःस्वभाव है। यह मानना, कि किसी को निर्वाण की प्राप्ति होती है, अज्ञान ही है।[40] यह मिथ्या अहंकार ही अविद्या है। सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो किसी यथार्थ सत्ता की कोई स्थिति नहीं है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अविद्या नहीं होती तो संस्कार भी नहीं होते और यदि संस्कार नहीं होते तो चित्त भी नहीं होता। किन्तु अविद्या के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि 'मैं संस्कार उत्पन्न कर रही हूं', परन्तु संस्कार के विषय में कहा जा सकता है "हम अविद्या के द्वारा उत्पन्न हो रहे हैं।" अविद्या है इसलिए संस्कार उत्पन्न होते हैं। इसी तरह अन्य पदार्थों के विषय में भी कहा जा सकता है। प्रतीत्य समुत्पाद की इसी प्रकृति को ही 'हेतूपनिबन्ध' कहते हैं।

इस सिद्धान्त पर एक अन्य दृष्टि से भी विचार किया गया है वह है— प्रत्ययोपनिबन्ध, अर्थात् समवाय अथवा सम्बद्धता पर निर्भरता। चार तत्त्वों एवं आकाश तथा विज्ञान के समवाय से ही मनुष्य का निर्माण होता है। पृथ्वी तत्त्व से शरीर ठोस होता है, जल तत्त्व से चर्बी बनती है, अग्नि तत्त्व से पाचन होता है, वायु तत्त्व से श्वास-प्रश्वास चलते हैं, आकाश तत्त्व से शरीर में अवकाशछिद्र या कूप बनते हैं और विज्ञान तत्त्व से मन, मस्तिष्क या चैतन्य की उत्पत्ति होती है। इन सबके समवाय के कारण ही हम मनुष्य को वैसा पाते हैं जैसा वह है। किन्तु इन तत्त्वों में से किसी को यह पता नहीं कि वह वे ही कार्य सम्पन्न कर रहा है जो उसे सौंपे गए हैं। इनमें से कोई तत्त्व स्वयं कोई सार, आत्मा या प्राणी नहीं है। अज्ञान के कारण हम इनको अपने आप में एक सत्ता मानकर इनके प्रति एक मोह पैदा कर लेते हैं। इस प्रकार अज्ञानवश ही संस्कारों का जन्म होता है, जिनमें राग, द्वेष और मोह आते हैं उनके बाद विज्ञान और चार स्कन्ध आते हैं। ये सब चार तत्त्वों से मिलकर नाम और रूप देते हैं इन सबसे इन्द्रिय (षडायतन) बनते हैं। इन तीनों के समवाय से स्पर्श पैदा होता है, उससे भावना, उससे तृष्णा और इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है। यह एक नदी के प्रवाह की तरह चलता है। परन्तु इसके पीछे कोई सार अथवा कोई ठोस आधार नहीं है। इस प्रकार प्रपंचों को सत् या असत् कुछ-नहीं कहा जा सकता और शाश्वतवाद या उच्छेदवाद में से किसी को भी सत्य नहीं ठहराया जा सकता। इसी कारण इन दोनों के बीच के इस सिद्धान्त

को मध्यमक (माध्यमिकवाद) कहा गया है।[41] अस्तित्व और अनस्तित्व में केवल एक सापेक्ष सत्य (संवृति सत्य) है, परमार्थ सत्य नहीं।

सांख्य, बौद्ध तथा प्रत्यभिज्ञा दर्शनों में प्रातिभासिकता का विवेचन

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सांख्य तथा बौद्ध दर्शन की कुछ मूल अवधारणाएं प्रत्यभिज्ञा-तत्त्वमीमांसा पर पर्याप्त रूप से प्रतिभासित होती है। यह बात अवश्य है कि काश्मीर के शैव चिन्तकों ने उन धारणाओं को मूल रूप में ग्रहण करके उनको व्यावहारिक, जीवन्त तथा अधिक युक्तिसंगत बनाने के लिए उनमें समुचित परिष्कार तथा विकास किया और जीवन, जगत् एवं जगदाधार के सम्बन्ध को अनबूझ पहेली न बनाकर उसकी स्पष्ट व्याख्या की। उदाहरणार्थ सांख्य की मूल प्रकृति, कार्यकारण-सिद्धान्त तथा त्रिगुणात्मक सृष्टि आदि की कल्पनाएं किसी-न-किसी रूप में प्रत्यभिज्ञा दर्शन में विद्यमान हैं किन्तु इसके अपने सन्दर्भ हैं, अपनी मीमांसाप्रणाली है। इसी प्रकार बौद्ध-दर्शन की 'पच्चभिज्जा' (प्रत्यभिज्ञा) 'रूपम्' तथा 'पतिच्चसमुत्पाद' (प्रतीत्य-समुत्पाद) का सादृश्य काश्मीर शैवों के ज्ञान-सिद्धान्त, आभासवाद तथा माया की अवधारणाओं में देखा जा सकता है; किन्तु दोनों प्रक्रियाओं में प्रर्याप्त भिन्नता है। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि काश्मीर के शैव चिन्तकों के समक्ष जो बुद्धिवादी परिवेश तथा तत्त्वचिन्तन का जो स्फीत आकाश था उससे वे पूर्ण सचेत थे। यही कारण था कि उनकी चिन्तन-प्रणाली एवं विमर्श-प्रक्रिया में पूर्वप्रचलित प्रायः सभी सिद्धान्तों और प्रमुख धारणाओं का सामंजस्यपूर्ण समावेश हुआ जिसके फलस्वरूप एक प्रौढ़ एवं परिपक्व चिन्तन-पद्धति का मार्ग प्रशस्त हुआ और जगत् तथा जगदाधार को एक सही परिप्रेक्ष में देखा जाने लगा।

जहां तक सांख्य दर्शन तथा बौद्ध दर्शन का सम्बन्ध है दोनों में कुछ दृष्टियों से पर्याप्त साधर्म्य है। दोनों में कुछ ऐसे समानधर्मी तत्त्व विद्यमान हैं जिनके आधार पर कुछ योरोपीय विद्वान् तो यहां तक कह देते हैं कि 'बौद्ध दर्शन ने सांख्य को ही क्रियात्मक रूप दिया।' दोनों ही प्रणालियों की एक सामान्य धारणा है कि यह जीवन दुःखमय है। प्रतिकूल वेदनीयत्व का समुच्छेद तथा अनुकूल वेदनीयत्व की खोज ही दोनों दर्शनों का उपजीव्य है। विल्सन के अनुसार प्रकृति के नित्यत्व से सम्बन्धित कुछ विषय द्रव्यों के तत्त्व एवं अन्तिम अवसान आदि सांख्य एवं बौद्ध दर्शन में समान हैं। जैकोबी और गार्बे के विचार में सांख्य अपनी द्वैत एवं तत्त्वों की गणना-सम्बन्धी प्रस्थापना में बौद्धों से प्राचीन है। यह सत्य है कि सृष्टि-रचना-सम्बन्धी सांख्य की कल्पना एवं बौद्ध दर्शन की कल्पना में कुछ सादृश्य है। उदाहरण के लिए, 'अविद्या' का सादृश्य प्रधान से

'संस्कार' का 'बुद्धि' से, 'विज्ञान' का 'अहंकार' से, 'नामरूप' का 'तन्मात्राओं' से तथा 'षडायतन' का 'इन्द्रियों' से है। इसी प्रकार सांख्य दर्शन की 'प्रत्यय-संघ' और बौद्धों के प्रतीत्यसमुत्पाद की धारणा में भी पर्याप्त सादृश्य है।[42] बौद्ध दर्शन के चार आर्य सत्य सांख्य शास्त्र के चार सत्यों के अनुकूल हैं। सांख्य प्रवचनभाष्य द्वारा प्रतिपादित चार सत्य हैं—(1) जिससे हमें छुटकारा पाना है वह दुःख है; (2) दुःख के विनाश का नाम मोक्ष है; (3) प्रकृति एवं पुरुष के बीच भेद न करने से ही दुःख उत्पन्न होता है जिसके कारण प्रकृति व पुरुष का परस्पर सम्बन्ध बना रहता है; (4) मोक्ष का उपाय सदसदविवेक सम्बन्धी ज्ञान ही है।

बौद्ध लोग सांख्य शास्त्र के प्रणेता कपिल को बुद्ध से बहुत पूर्ववर्ती मानते हैं और यह भी मानते हैं कि बुद्ध के समय में सांख्य के विचार प्रचलित थे। बुद्ध का सांख्य दर्शन से परिचय हो न हो, पर वह सांख्य के आरम्भ का वृत्तान्त अवश्य जानते होंगे। यह संसार पापमय है तथा प्रकृति से विच्छेद हो जाना ही मोक्ष है। इसी सिद्धान्त से बुद्ध को भी अपनी शिक्षाओं के विकास की प्रेरणा मिली होगी। आत्मिक प्रक्रिया के विषय में सांख्य द्वारा प्रतिपादित विचारों का प्रतिभास बुद्ध के स्कन्ध सम्बन्धी सिद्धान्त में देखा जा सकता है। किन्तु सांख्यसूत्रों में ऐसे अनेक विषयों का खण्डन है जो बौद्धों ने प्रतिपादित किये थे। उदाहरणार्थ सांख्यसूत्रों में बाह्य पदार्थ की क्षणिकता का खण्डन किया गया है। सांख्य-सूत्रकार इस बात को भी निरस्त कर देते हैं कि वस्तुओं का अस्तित्व केवल प्रत्यक्ष ज्ञान के ही अन्दर है और वे प्रमेयविषयक कोई सत्ता नहीं रखतीं। वे यह भी स्वीकार करने को तैयार नहीं कि शून्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[43] इससे तो यह पता चलता है कि सांख्यसूत्रकार बौद्ध दर्शन की अनेक शाखाओं से परिचित थे तथा उनकी रचना इनके बाद की है। डा० राधाकृष्णन तो यहाँ तक कहते हैं कि 'सांख्य दर्शन बहुत अर्वाचीन समय की कृति है जिसमें शताब्दियों का कार्य संग्रहीत है।'[44]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सांख्य तथा बौद्ध दर्शनों में अनेक अवधारणायें तथा प्रवृत्तियां ऐसी थीं जो एक दूसरे के चिन्तन में प्रतिभासित होती हैं। इनके विकास के विषय में पौर्वापर्य के विवाद में न पड़कर हम कह सकते हैं कि विश्वरचनाविधान तथा संसारगत अनुकूल वेदनीयता (सुख) एवं प्रतिकूल-वेदनीयता (दुःख) के प्रति संवेदनशीलता से अनुप्राणित एक चिन्तन-शृंखला अंकुरित हुई जो अपने में अधिक स्पष्ट न होते हुए भी अनेक कालखण्डों को चीरती हुई और तत्कालीन मानसिकता को अपने में समेटती हुई आगे बढ़ी तथा भावी चिन्तन-जगत् को विभिन्न आयाम देती गई। इसी का परिणाम था

कि शंकर सांख्य तथा बौद्ध प्रणालियों के तह में पहुंचकर जब बाहर निकले तो उनका चिन्तन बिल्कुल स्पष्ट था और विश्व-प्रक्रिया-सम्बन्धी उनकी धारणा में स्थिरता के संकेत थे। यद्यपि जगत् तथा उसकी उत्पत्ति के विषय में उनकी मिथ्यात्वसम्बन्धी कल्पना गले के नीचे नहीं उतरती, किन्तु एक बात उनकी प्रणाली में बद्धमूल है कि कारण पक्ष कार्य पक्ष की अपेक्षा अधिक सबल है तथा उसी का प्रसार यह दृश्यमान् जगत् है। काश्मीर शैव-चिन्तक 'कारण' की सबलता तो स्वीकार करता है किन्तु वह जगत् की मिथ्यात्व-कल्पना को अधिक व्यावहारिक नहीं मानता क्योंकि उसकी दृष्टि में कारण और कार्य में कोई भेद नहीं। कार्य तो वस्तुतः कारण की ही यथार्थ अभिव्यक्ति है अतः वह उससे भिन्न अथवा मिथ्या कैसे हो सकता है ? शंकर की चिन्तन-पद्धति पर एक ओर तो सांख्यों की प्रकृति-पुरुष कल्पना तथा गुणमयी सृष्टि की धारणा का प्रभाव है दूसरी ओर माध्यमिक बौद्धों के शून्यवाद का, और वह उस दलदल से बहुत बाहर नहीं निकल पाते। किन्तु शैव चिन्तक सांख्यों के प्रकृति-पुरुष-सम्बन्ध की अस्पष्टता तथा बौद्धों के क्षणिकवाद और शून्यवाद की अव्यवहारिकता से सर्वथा सचेत है और वह अपने चिन्तन में एक व्यावहारिक दृष्टि अपनाता है जिसके अनुसार जगत् तथा जगत् के कर्ता का सम्बन्ध बिल्कुल स्पष्ट है। वह स्वयं अपनी इच्छा से अपने को ही नाना रूपों में अभिव्यक्त करता है और अपनी इच्छानुसार पुनः अपने में विलीन कर लेता है अतः इस जगत् की उससे भिन्न कोई सत्ता नहीं। भिन्नता का आभास तो माया के कारण है जो उसकी अपनी ही अव्यतिरिक्त शक्ति है।

सांख्यों के अनुसार सृष्टि-विकास के सिद्धान्त को परिणामवाद कहा जाता है। इसके अनुसार दो ही पदार्थ नित्य हैं प्रकृति तथा पुरुष। प्रकृति एक है पुरुष असंख्य। प्रकृति जड है परन्तु अपने स्वभाव से ही पुरुषों के हित के लिए उसमें क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप तीनों गुणों (सत्त्व, रजस् और तमस्) की साम्यावस्था अदृश्य हो जाती है और उन गुणों में वैषम्य आ जाता है। इससे अन्तःकरण, बाह्यकरण, तन्मात्रायें तथा पञ्चमहाभूत ये सभी जड तत्त्व प्रकट हो जाते हैं। वस्तुतः प्रकृति ही इन तथ्यों के रूप में परिणत हो जाती है। इसी प्रक्रिया में अनेक भुवन-शरीर और भाव प्रकट हो जाते हैं और वे क्रम से पुनः प्रकृति में विलीन हो जाते हैं। इस सारी प्रक्रिया में पुरुष निर्लिप्त तथा निष्क्रिय है। वस्तुतः, पुण्य-पाप, ज्ञान-अज्ञान, सुख-दुःख ये सभी धर्म प्रकृति के हैं। पुरुष का तो केवल एक धर्म है, और वह है—चेतना। परन्तु पुरुष को एक अविवेक अनादि काल से घेरे हुए है जिससे वह प्रकृति के धर्मों को अपना धर्म समझ बैठा है और इसी कारण वह बुद्धि

के समस्त परिणामों का साक्षी बना रहता है। परन्तु जब उसका विवेक जागता है तो उसे पता चलता है कि वह सारा प्रपंच बुद्धि का है, वह तो पद्मपत्र की तरह निर्लिप्त और शुद्ध है तो उसे शरीर अन्तःकरण तथा अन्य सभी वस्तुओं से छुटकारा मिल जाता है। उसमें केवल चेतना शेष रह जाती है और वह एक चिरस्थायी अकेलेपन में शून्य गगन की तरह पड़ा रहता है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन ने उपर्युक्त सिद्धान्तों को मूल रूप में तो स्वीकार कर लिया है किन्तु उसकी प्रक्रियाओं के विषय में दोनों की दिशायें भिन्न-भिन्न हैं। उदाहरण के लिए सांख्य में प्रकृति और पुरुष के उद्गम के स्रोत को खोजने के प्रति उदासीनता तथा अविवेक और कर्मों को अनादि मानना आदि बातें काश्मीर शैव दार्शनिक को स्वीकार्य नहीं। इस प्रकार कैवल्य की दशा भी सुषुप्ति ही की एक भूमिका सिद्ध होती है। अतः इसे यथार्थ मुक्ति की दशा नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त प्रकृति का कोई भी परिणाम ऐसा नहीं होता जिसमें कोई विशेष प्रयोजन निहित न हो। प्रयोजन के अनुसंधान के बिना ऐसे विचित्र परिणामों का होना संभव नहीं। जड प्रकृति स्वयं ऐसा अनुसन्धान करने में अक्षम है। अतः उसको किसी सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् चेतन तत्त्व की प्रेरणा अवश्य मिलनी चाहिए। अतः प्रकृति के प्रेरक तथा नियामक के रूप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किए बिना सांख्य का परिणामवाद सफल नहीं हो सकता।[45] इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञा दर्शन सांख्य के सत्कार्यवाद का सिद्धान्त तो स्वीकार कर लेता है किन्तु सांख्य के जड सत्कार्यवाद से यह स्वतंत्र सत्कार्यवाद पूर्ण रूप से भिन्न है। सांख्य के अनुसार मूल प्रकृति का स्वरूप परिवर्तन हो जाने से उसमें अव्यक्त रूप से विद्यमान नाना पदार्थों के स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है किन्तु प्रत्यभिज्ञा दर्शन की दृष्टि में संसार के स्वरूप की अभिव्यक्ति महेश्वर की इच्छा के स्पन्दन से होती है। सांख्यों द्वारा प्रतिप्रादित आविर्भाव तथा तिरोभाव की प्रक्रिया का प्रत्यभिज्ञा-तत्त्वमीमांसा में समावेश तो कर लिया गया है किन्तु यहां इसका अभिप्राय स्वरूपपरिवर्तन मात्र नहीं। यहां तो आविर्भाव से अभिप्राय है उन्मीलन तथा तिरोभाव से अभिप्राय है निमीलन, अर्थात् यहां विश्व का तात्पर्य है स्वरूप-प्रथन, न कि स्वरूपपरिवर्तन और उसमें भी महेश्वर की इच्छा (स्वातन्त्र्य) ही प्रधान रहती है। यहां तक कि अशुद्ध विश्व का आविर्भाव (प्रथन) भी माया अनन्त की प्रेरणा से करती है तथा उन्हीं की प्रेरणा से इसका अपने में विलयन (तिरोभाव) भी करती है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार सृष्टि का विकास स्वरूपप्रकाशन है जब कि सांख्य द्वारा वह है—स्वरूपान्तरण अर्थात् सांख्य के अनुसार कार्य कारण में विद्यमान अवश्य रहता है किन्तु व्यक्त

होते ही उसका स्वरूप बदल जाता है, जबकि काश्मीर शैवदर्शन में कार्य कारण में विद्यमान ही नहीं रहता, अपितु उससे अभिन्न है।

इस प्रसंग को समाप्त करने के पूर्व इस बात की परीक्षा कर लेनी भी आवश्यक है कि काश्मीर शैव दर्शन पर बौद्ध दर्शन की कितनी छाप है तथा मूल अवधारणाओं को लेकर दोनों में कहां तक सहमति है।

बौद्धदर्शन के सर्वेक्षण से पता चलता है कि प्रारम्भिक काल में इसमें विशेष बल चार महान् सत्यों की ओर दिया गया था न कि प्रणालीबद्ध तत्त्वमीमांसा की ओर। दुःख, दुःख का कारण, दुःख का उच्छेद तथा उसके उपाय। वस्तुतः इन चारों सत्यों की व्याख्या तथा अनुसन्धान करने के लिए 'पतिच्चसमुत्पाद' सिद्धान्त की कल्पना की गई थी। जगत् नित्य है या अनित्य, तथागत मरण के पश्चात् रहते हैं अथवा नहीं आदि विषयों पर विचार करना धर्माचरण के विरुद्ध माना जाता था। शील, समाधि और प्रज्ञा पर विशेष बल दिया जाता था तथा आत्मा के अस्तित्व का निषेध ही किया जाता था। नागार्जुन, आर्यदेव तथा चन्द्रकीर्ति आदि ने जो सिद्धान्त विकसित किया वह वस्तुतः पूर्वकालिक बौद्धदर्शन का पुनरभिस्थापन ही था। जगत् नित्य है या अनित्य, तथागत मृत्यु के बाद रहते हैं या नहीं, कोई नित्य आत्मा नहीं है तथा सभी धम्म परिवर्तन-शील है, आदि बातों को लेकर यदि हम कोई निश्चित धारणा नहीं बना सकते तो फिर यही कहना होगा कि समस्त दृश्यमान् वस्तुयें सारहीन तथा आभास मात्र हैं। ये आभास आपस में सम्बद्ध प्रतीत होते हैं किन्तु उनमें कोई सत्य, सत्ता या वास्तविकता नहीं है। अश्वघोष द्वारा प्रतिपादित 'तथता' सिद्धान्त इन दो स्थितियों के बीच झूलता सा प्रतीत होता है कि समस्त धर्म निःसार हैं तथा इन निःसार धर्मों के आधार के रूप में कहीं कुछ और भी है। इसी को वह 'तथता' कहता है पर वह स्पष्ट रूप से नहीं कह पाता कि कोई स्थायी सत्ता कहीं विद्यमान रहती है या नहीं। यदि ध्यान से देखा जाय तो विज्ञानवाद, शून्यवाद एवं तथता सिद्धान्त का मिश्रण प्रतीत होता है। इसमें वस्तुतः समस्त दृश्य संवृतियों की व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। प्रश्न यह उठता है कि यदि सब कुछ निःसार है तो यह अस्तित्व में कैसे आया? विज्ञानवादी इसका उत्तर देता है कि ये सब संवृतियां मन की उपज हैं, तथा मन की अनादि वासनाओं द्वारा जनित प्रत्ययमात्र हैं। 'तथता' सिद्धान्त की कठिनाई यह है कि इन समस्त संवृतिरूपी प्रत्ययों को उत्पन्न करने के लिए इसके पीछे कोई वस्तुसत्ता होनी चाहिए। यही कठिनाई विज्ञानवाद के सामने भी रही है। विज्ञानवादी ऐसी किसी वस्तुसत्ता की स्थिति मानने में असमर्थ रहा है किन्तु उसका सिद्धान्त अन्ततोगत्वा इसी दिशा की ओर बढ़ता प्रतीत

होता है। वस्तुतः यह सिद्धान्त जिस सत्य को स्वीकार करके चला है, उसमें भी कोई सारतत्त्व नहीं है।

आचार्य शंकर तक के हिन्दू दार्शनिकों तथा शंकरकालीन या उनके पूर्ववर्ती बौद्ध दार्शनिकों में मौलिक भेद यही है कि बौद्ध किसी स्थायी आत्मा अथवा स्थायी जगत् के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। हिन्दू दार्शनिक चिन्तन का दृष्टिकोण बहुत कुछ व्यावहारिक है। यहां तक कि शंकर भी किसी न किसी रूप में स्थायी बाह्य जगत् का अस्तित्व स्वीकार कर लेते हैं। शंकर के अनुसार बाह्य जगत् निश्चित ही मायाकृत एवं भ्रममूलक है। किन्तु ब्रह्म के रूप में एक स्थायी आधार मिला हुआ है जो बाह्य जगत्-सम्बन्धी तथा आन्तरिक बौद्धिक संवृतियों के पीछे एकमात्र वास्तविक सत्य है।

काश्मीर शैवचिन्तक बौद्धों के शून्यवाद तथा विज्ञानवाद को मूल रूप में तो स्वीकार कर लेता है; किन्तु उसका स्पष्ट मत है कि प्रतिक्षण परिवर्तमान और नश्वर विज्ञानों के कारण जो संस्कार पड़ते हैं और जिन संस्कारों के सहारे लोकव्यवहार चलता है; उनको स्थिर रखने वाला और अनश्वर आधार तो अवश्य होना चाहिए। अन्यथा क्षणिक विज्ञानों में परस्पर कोई सम्बन्ध न होने के कारण स्मृति, कल्पना, अनुसन्धान, उत्प्रेक्षा तथा प्रत्यभिज्ञा आदि ज्ञान के विचित्र व्यापारों और उन पर अवलम्बित जगत् के नाना व्यवहारों का होना कभी भी संभव नहीं होगा।[46] अनुभवकर्ता के ऊपर उस अनुभव का संस्कार पड़ना अनिवार्य है। इस स्थिति में उसे ही उस अनुभव तथा अनुभूत विषय की स्मृति हो सकती है। जिसे इस क्षण निर्विकल्पक अनुभूति हो, अगले क्षण उसे उस अनुभूति के संस्कार के द्वारा निश्चयात्मक सविकल्पक अनुभूति हो सकती है। उत्प्रेक्षा, अनुसन्धान, प्रत्यभिज्ञा आदि सभी व्यवहार स्मृति के ही आधार पर चलते हैं। अतः स्मृति की सिद्धि के लिए क्षणिक अनुभूतियों के संस्कार के आधार के रूप में आत्मा की सत्ता को स्वीकार किए बिना काम नहीं चल सकता।[47] परम तत्त्व महेश्वर ही जब ओतप्रोत भाव से सभी चित्त-क्षणों और अनुभव क्षणों का सामान्य आधार बना रहता है, तभी उन क्षणिक वस्तुओं का परस्पर सम्बन्ध जुड़ सकता है। इस प्रकार अश्वघोष के तथता-सिद्धांत और विज्ञानवाद के इस आधार को लेकर जो कठिनाई तथा इसकी स्पष्ट व्याख्या को लेकर जो हिचक थी प्रत्यभिज्ञा दर्शन उसका निवारण कर देता है तथा बौद्धों के अनात्मवाद को सर्वथा निरस्त कर देता है।

जहाँ तक बौद्ध दर्शन में 'माया' की अवधारणा का प्रश्न है समूची प्रतीत्य-समुत्पाद की प्रक्रिया में मायावादी तत्त्व विद्यमान हैं। संवृति सत्य अविद्यामूलक है। अविद्या का व्यापार है विद्या (वास्तविक ज्ञान) का गोपन। माया भी अपोहन

व्यापारा तथा तिरोधानस्वभावा है तथा परमेश्वर के अभेदस्वभाव का गोपन करके उनमें भेद-दृष्टि उत्पन्न करती है और इस प्रकार अशुद्ध जगत् का अवभासन करती है। बौद्ध दर्शन के अनुसार चूंकि वस्तुओं का कोई स्वभाव नहीं होता (निस्वभावत्वम् पदार्थत्वम्) अतः विश्व की प्रतीयमान सत्ता पर एक अज्ञान अथवा अविद्या का एक गूढ़ आवरण पड़ा हुआ है। पहले भी कहा जा चुका है कि प्रतीत्यसमुत्पाद की एक व्याख्या के अनुसार 'घटनाएं जो प्रतीत होती है सत्य नहीं है'। जब वे सत्य नहीं हैं तो न आती हैं, न जाती हैं। वे माया की प्रतीतियां हैं। 'माध्यमिक सिद्धान्त के प्रमुख प्रवक्ता नागार्जुन का निष्कर्ष है—'जो लोग यह समझते हैं कि पदार्थों का अस्तित्व है अथवा यह कि उनका अस्तित्व नहीं, वे सत्य को नहीं समझ पाते।' क्योंकि सभी वस्तुएँ माया कहलाती हैं इसलिए कि वे विद्युत्स्फुरण की भांति मिथ्या हैं···चूँकि उनकी उत्पत्ति नहीं होती, फिर भी उनकी सत्ता की प्रतीति होती है, (तथा) चूँकि जगत् न तो यथार्थ से भिन्न है न ही उसके सदृश और यद्यपि जगत् को माया कह दिया जाता है (तथापि) माया को यथार्थ से विरहित नहीं माना गया है।' इस प्रकार बौद्धों की 'माया' शांकर वेदान्त की अपेक्षा ईश्वराद्वयवादी माया के धारणा के अधिक निकट है क्योंकि यहां तो माया तथा माया का कृतित्व (अशुद्ध सृष्टि) सभी यथार्थ हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सांख्य तथा बौद्ध प्रस्थानों में प्रवर्तित तथा प्रतिपादित अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों एवं अवधारणाओं को शिवाद्वयवादी दार्शनिकों ने अपनी चिन्तन प्रणाली में समाविष्ट तो कर लिया है किन्तु उनका वे अपने ढंग से तथा अपने सिद्धान्त के अनुरूप उपयोग करते हैं। उदाहरणार्थ माया का उपयोग वे जगत् की निःसारता अथवा मिथ्यात्व-प्रतिपादन के लिए नहीं अपितु उसकी यथार्थता को और अधिक पुष्ट करने के लिए करते हैं क्योंकि उनका महेश्वर तो परम यथार्थ है और यह जगत् है—उसका स्वभावप्रकाशन, अतः वह उससे भिन्न कैसे हो सकता है ? इस प्रकार वे अपने दर्शन को एक व्यावहारिक तथा उपयोगितावादी धरातल प्रदान करके उसे एक आस्थामूलक एवं जीवनोन्मुखी प्रणाली के रूप में प्रतिष्ठित कर देते हैं।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियां

1. असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
   शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥

   सां० का० 9

2. सां० त० कौ०-पृ० 9

3. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

भ० गी० 2-16

4. प्रकृतिरित्युच्यते विकारोत्पादकत्वादविद्याज्ञानविरोधित्वात् माया-विचित्रसृष्टिकरत्वात् ।

तत्त्वत्रय, पृ० 48

5. डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन 2
6. भेदानां परिमाणात् समन्वयात्, शक्तितः प्रवृत्तेश्च ।
   कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य ॥
   कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च ।
   परिणामतः सलिलवत्प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥

सां० का० 15, 16

7. हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम् ।
   सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥

सां० का० 10

8. डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन 2, पृ० 261
9. गी० र० भू०, पृ० 161-62
10. गी० र० भू०, पृ० 162
11. सां० का० 17
12. प्रकृति पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि ।

भ० गी० 13.19

13. देवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
    मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

भ० गी० 7.14

14. ममैवांशो जीवलोके जीवके जीवभूतः सनातनः ।

वही, 15.7

15. प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।

सां० का० 12

16. अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः

सां० का० 12

17. सा माया क्षोभमापन्ना, विश्वं सूते समन्ततः ।

तन्त्रा० 6, पृ० 128

18. मायातत्त्वं जगद्बीजं नित्यं विभु तथाव्ययम् ।
    तत्स्थं कृत्वात्मवर्गं तु युगपत् क्षोभयेत् प्रभुः ॥

हेलादण्डाहतायास्तु वदर्या वा फलानि तु ।
तिर्यगूर्ध्वमधस्तात्तु निर्गच्छन्ति समन्ततः ।।

स्वच्छं० तं०, 11.60

19. ततो जडत्वे कार्यत्वे पृथक्तत्त्वस्थितो ध्रुवम् ।
उपादानं स्मृता माया क्वचित्तत्कार्यमेव च ।।

तंत्रा० 6-158

20. तं० सा०, पृ० 83

21. भेदस्थितेः शक्तिमतः शक्तित्वं नोपदिश्यते ।
एषां गुणानां करणकार्यत्व-परिणामिनाम् ।

ई० प्र० 4.1.5

22. एवं क्षुब्धात् प्रधानात् कर्तव्यान्तरोदयः नाक्षुब्धात् इति क्षोभोऽवश्यमन्तरालेऽभ्युपगन्तव्य इति सिद्धं सांख्यापरिदृष्टं पृथग्भूत गुणतत्त्वम् ।

तं० सा०, पृ० 85

24. चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता ।
तमोरजः सत्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा ।।
सत्वशुद्धशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते ।।

पं० द०, 1.15,16

25. अवाधाददुष्टकारणजन्यत्वाच्च नावस्तुत्वम् ।

सां० सू० 1.79

25. नावस्तुनो वस्तुसिद्धिः ।

वही, 1.78

26. सा जडा भेदरूपत्वात्, कार्यं चास्याः जडं यतः ।
व्यापिनी विश्वहेतुत्वात् सूक्ष्मा कार्यैककल्पनात् ।
शिवशक्त्यविनाभावान्नित्यैका मूलकारणम् ।

तन्त्रा० 6.151, 152

27. स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति ।

प्र० हृ० सू०, 2

28. डॉ० राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, 1, पृ० 331
29. बुद्धघोष, अत्थसालिनी, पृ० 111
30. न्या० मं० (बी० एस० सिरीज) पृ० 449
31. न्या० मं० (बी० एस० सिरीज) पृ० 450
32. सं० नि०, अ० 3, पृ० 86

33. चत्तारो च महाभूत चतुन्नांच महाभूतानाम् उपादाय रूपम् ।
धम्मसंगणि, पृ० 124

34. अत्थशालिनी, पृ० 299

35. रूथ रीना, द कान्सेप्ट ऑफ माया फ्रॉम द वेदाज टू द ट्वेंटियथ सेन्चुरी, पृ० 8-9

36. मा० वृ०, पृ० 5 तथा आगे

37. मा० वृ०, पृ० 56

38. वही, पृ० 93-100

39. न चाप्रवृत्तिमात्रं भावाभावेति परिकल्पितुं पार्यते एवं न नभावाभाव-निर्वाणम् । मा० वृ०, पृ० 197

40. मा० वृ०, पृ० 101-108

41. वही, पृ० 160

42. कर्न, मैन्युअल आफ बुद्धिज्म, पृ० 47, पाद टिप्पणी 6

43. सांख्यसूत्र, 1 27-47

44. डा० राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, 1, पृ० 436

45. स च क्षोभः प्रकृतेस्तत्त्वेशाधिष्ठानादेव अन्यथा नियतं पुरुषं प्रति इति न सिद्धयेत् ।
तं० सा०, पृ० 85

46. एवमन्योन्यभिन्नानामपरस्परवेदिनाम्,
ज्ञानानामनुसंधानजन्मा नश्येज्जवस्थितिः ।
न चेदन्तः कृतानन्त विश्वरूपो महेश्वरः,
स्यादेकाश्चिद्वपुर्ज्ञानस्मृत्यापोहनशक्तिमान् ।
ई० पृ० 1-3-6,7

47. यतो हि असौ तन्संस्कारसंस्कृतान्वात् समानान्तरप्रत्ययात् उत्थितः स्मृतिबोधः, तेन तत्सदृशो भवतु, शाखासंनिवेश इव पूर्वसंनिवेश तुल्यः न तु, यो यत्संस्कारात जातः सतस्यवेदनस्वभावोभवति ।
......इति संस्करात परं सविषयतामात्रं स्मृतेः सिद्धं न तु अनुभव विषयत्त्वम्, नाप्यस्य विषयस्य पूर्वानुभवविषयीकृतत्त्वम् इति निश्चयः एषः ।
ई० प्र० वि० व्या०, पृ० 129-30

चतुर्थ उन्मेष

द्वैत तथा अद्वैत वेदान्तों में माया का स्वरूप

विश्व-प्रक्रिया दार्शनिक चिन्तन का प्रमुख प्रतिपाद्य है। इसको लेकर विश्व के प्रायः सभी दार्शनिक प्रस्थानों ने अपने-अपने सिद्धान्तों की उद्भावना की है तथा अपनी-अपनी व्याख्याएं एवं निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं। यही नहीं, वैज्ञानिक चिन्तकों को भी इस समस्या ने पर्याप्त रूप से आकृष्ट किया है तथा वे अपने विश्लेषणों द्वारा विश्व व्यवस्था के मूल स्रोत और उसकी नियामक शक्ति का अनुसंधान करने में निरन्तर प्रयत्नशील हैं। अब तो ऐसा लगता है कि दार्शनिक चिन्तन एवं वैज्ञानिक अनुसंधानों के बीच कुछ सामंजस्य स्थापित किया जाना चाहिए। इससे जगत् की सत्ता तथा संचालन को समझने में, संभवतः, सुगमता हो सकती है तथा चिन्तन को भी एक निश्चित दिशा मिल सकती है। योरोपीय एवं अमरीकी सृष्टि-चिन्तकों का ध्यान मूल प्रश्न की ओर गया है और यही कारण है कि आज पश्चिमी तत्त्व-चिन्तन अपनी पुरानी लीक छोड़ चुका है तथा उसमें सामंजस्यपूर्ण तत्त्व परिलक्षित होने लगे हैं। जहां तक भारतीय तत्वचिन्तक का प्रश्न है वह इस प्रश्न के अनेक पहलुओं पर शुरू से ही विचार करता रहा है। कोई इस सृष्टि को परमात्मा की विभूति मानता रहा है, किसी की दृष्टि में यह स्वप्न अथवा माया है, कोई इसे ईश्वर की इच्छा कहता रहा है तथा किसी का यह विश्वास है कि यह कालचक्र की देन है। कोई इसे भोग का साधन मानता है तो किसी के लिए यह जगत् क्रीडास्थल मात्र है। इन सबका प्रत्याख्यान करते हुए गौडपाद कहते हैं कि यह सृष्टि-प्रक्रिया वस्तुतः परमेश्वर का स्वभाव है और वह निरपेक्षभाव से इसका विधान करता है।[1] यहां यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सृष्टि परमसत्ता के स्वभाव का प्रकाशन तथा उसकी शक्ति की अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति तथा इसके निष्पादन में सहायक शक्ति को लेकर भारतीय दार्शनिक प्रणालियों में विभिन्न रूप से विचार किया गया है। द्वैत तथा अद्वैत प्रस्थानों में इसे 'माया' कहा गया है और विश्व-रचना-विधान में इसकी विशेष भूमिका स्वीकार

की गई है। नीचे की पंक्तियों में हम माया की अद्वैतवादी तथा द्वैतवादी परिकल्पनायें प्रस्तुत करके इस बात की परीक्षा करेंगे कि उक्त भूमिका कहां तक सार्थक है और इसका क्या स्वरूप है। उपनिषदों में निस्सन्देह मायावादी तत्त्व विद्यमान हैं अतः शाँकर को हम उद्भावक तो नहीं कह सकते किन्तु विश्व-रचना बोध के सन्दर्भ में सर्वप्रथम इसकी विशिष्ट भूमिका इन्होंने ही स्वीकार की है अतः हम अपना विचार इनके द्वारा उपस्थापित माया को अद्वैतवादी धारणा से प्रारम्भ करते हैं—

अद्वैत वेदान्त की माया

उपनिषदों से प्रस्रवित जिस वेदान्त-विद्या की आधारशिला गौडपाद ने रखी उसके प्रसार एवं पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य शंकर को है अतः इस चिन्तनधारा को शांकर वेदान्त कहा जाने लगा। इसका सारभूत तत्त्व अद्वैतवाद है। जीवजगत् में जो भिन्न-भिन्न आत्मा दृष्टिगोचर होती है, वह एक ही आत्मा है। वह एकात्मा ही शाश्वत सत्य है और सब कुछ मिथ्या है। प्राणियों में जो पार्थिव जगत् है वह भी असत्य है। अन्य दार्शनिक प्रणालियां जीवन में वस्तुसत्य का अनुसन्धान करती हुई पार्थिव जगत् में हमारे व्यवहार-हेतु प्रामाणिक तथ्य उपस्थित करती हैं। उसकी दृष्टि वस्तुवादी और संसार की व्यावहारिक मर्यादाओं से परिमित है। किन्तु अद्वैत वेदान्त इस दृश्यमान जगत् को अधिक महत्त्व नहीं देता। वह इसे माया का प्रतिबिम्ब मानकर उस मूलतत्व पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है जिससे यह निखिल सृष्टि प्रतिभासित है। वेदान्त चरम सत्य का अनुसंधान करने का प्रयास करता है जो इस अनेक विधि, सूक्ष्मतम पार्थिव व्यापार के मूल में अवस्थित है। शांकर वेदान्त में यह विचार बद्धमूल है कि सारी सृष्टि माया है। किन्तु इस संसार की मायामयी सृष्टि पर दृष्टिपात कर कोई कह सकता है कि सम्भवतः ईश्वर ने इस संसार को केवल क्रीडारूपेण अपने आनन्द के लिए बनाया है। हम अपने अस्तित्त्व और इस विश्व के अस्तित्त्व की दृष्टि से इसके कर्त्ता का अस्तित्त्व भी स्वीकार करते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि इस नानात्वमयी सृष्टि का कोई अस्तित्त्व नहीं तो इसके स्रष्टा का अस्तित्व किस लिए, वास्तविक दृष्टि से न सृष्टि का कोई अस्तित्व है न सृष्टिकर्त्ता का। विश्वात्मा के रूप में अवस्थित ब्रह्म ही इस निखिल प्रपंचका उपादान कारण भी है, विभिन्न कारण भी। कारण और कार्य में कोई भेद नहीं है। यह कार्य-रूपी संसार मायामय है। यह ब्रह्म की माया का प्रसरण है। नाम रूप भेद से जो अनेक वस्तुएँ दिखाई देती हैं उनमें मूलतः कोई भेद नहीं

है। मिट्टी की स्थाली और घड़े में नाम रूप का ही अन्तर है। यह विश्व ब्रह्ममय है अतः यही कार्यरूपेण अनेक नाम रूपों में अवस्थित होता है। यह उसका व्यावहारिक पक्ष है, किन्तु मूल कारण के रूप में वह अपने पारमार्थिक रूप अर्थात् शाश्वत ब्रह्म के रूप में अवस्थित है। वस्तुतः उसके इसी व्यावहारिक पक्ष की व्याख्या करने के लिए शांकर वेदान्त में 'माया' की परिकल्पना की गई है।

शांकराद्वैत प्रणाली में इस विश्वप्रपंच को माया कहा गया है; इसे मन की भ्रान्ति माना गया है किन्तु यह भ्रान्ति शुक्तिरजत भ्रान्ति से भिन्न है। 'शुक्ति में रजत की भ्रान्ति प्रातिभासिकी' है जो कुछ कालोपरान्त हमारी अन्य अनुभूतियों से असत्य सिद्ध हो जाती है। परन्तु इस सांसारिक भ्रान्ति का कभी अन्त नहीं होता। सारा लोक व्यवहार इसी भ्रान्ति के परिप्रेक्ष में होता है। अतएव यह भ्रान्ति 'व्यावहारिकी' भ्रान्ति कहलाती है। कहते हैं कि सारे वेदान्त का सार इस श्रुतिवाक्य में सन्निहित है—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।' अर्थात् एक मात्र सत्य ब्रह्म है, यह जगत् मिथ्या है, तथा जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं। जब तक हम इस भावबोध पर नहीं पहुंचते तब तक इस संसार को ही यथार्थ समझते हैं और तदनुकूल आचरण करते रहते हैं।

माया शब्द अद्वैत वेदान्त में अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। हम यहां कुछ प्रमुख अर्थ उपस्थित करते हैं जिनसे इसकी मूलधारणा को समझने में सुगमता होगी—

(1) यह जगत् अपनी व्याख्या स्वतः कर पाने में समर्थ नहीं है; अतः इसका आभास स्वरूप प्रकट होता है। माया द्वारा यही भाव व्यंजित होता है।

(2) ब्रह्म तथा जगत् के बीच की समस्या हमारे लिए एक अर्थ रखती है। इसलिए कि हम शुद्ध ब्रह्म के अस्तित्व को प्रेरक के रूप में स्वीकार करते हैं और फिर जगत् के साथ इसके सम्बन्ध की मांग एक तार्किक दृष्टिकोण से प्रस्तुत करते हैं। हम यह कदापि नहीं समझ सकते कि किस प्रकार परम यथार्थ सत्ता नानात्वमय विश्व के साथ सम्बद्ध है; क्योंकि दोनों विजातीय हैं। इसीलिए इसकी व्याख्या के लिए किए गए सारे प्रयत्न विफल रहते हैं यही दुर्बोधता माया कहलाती है।

(3) यदि ब्रह्म को जगत् का कारण माना जाय तो इसका अभिप्राय होगा कि जगत् ब्रह्म पर आश्रित है किन्तु ब्रह्म जगत् से सर्वथा अप्रभावित है और ब्रह्म पर आश्रित जगत् को माया कहा जाता है।

(4) ब्रह्म के जगत् रूप में आभासित होने के सम्बन्ध में जो कारण तत्व हैं उसे माया कहते हैं।

(5) यदि हम अपने ध्यान को व्यावहारिक जगत् तक ही सीमित रखें और तर्क-दृष्टि का प्रयोग करें तो हमारे समक्ष एक पूर्ण व्यक्तित्व का भाव आता है जिसमें आत्मभिव्यक्ति की शक्ति है। यही शक्ति माया कहलाती है।

(6) ईश्वर की यह शक्ति उपाधि, अथवा प्रतिबन्ध के रूप में परिणत हो जाती है जो अव्यक्त प्रकृति है और जिससे समस्त संसार उत्पन्न होता है। यह वह विषय है जिसके द्वारा सर्वोपरि विषयी अर्थात् ईश्वर विश्व का विकास करता है।[2]

ऊपर जिन 6 अर्थों की चर्चा की गई, वे वस्तुतः माया के 6 पहलू हैं और इन्हीं के परिप्रेक्ष में सम्पूर्ण शांकराद्वैत शास्त्र में माया की अवधारणा का व्यवहार हुआ है। यथार्थ ब्रह्म और अयथार्थ जगत् में परस्पर कैसा सम्बन्ध है शंकर इस प्रश्न का ही औचित्य नहीं मानते अतः इसका उत्तर भी नहीं देना चाहते। जब हम निरपेक्ष परब्रह्म का अपनी अन्तर्दृष्टि से साक्षात्कार करते हैं तो जगत के स्वरूप तथा इसका ब्रह्म के साथ क्या सम्बन्ध है, यह प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए कि उस सत्य का जो सब प्रकार के वाद विवाद को निःशेष कर देता है, एक तथ्य के रूप में प्रत्यक्ष दर्शन मिल जाता है। यदि हम तर्कशास्त्र का सहारा लें यो ऐसा विशुद्ध ब्रह्म है ही नहीं जिसका सम्बन्ध जगत् के साथ हो। किसी भी सम्बन्ध के लिए दो भिन्न पदार्थों की पूर्व-कल्पना आवश्यक है और यदि ब्रह्म तथा जगत् का परस्पर सम्बन्ध है तो उन्हें परस्पर भिन्न भी मानना आवश्यक होगा, किन्तु अद्वैत जगत् को ब्रह्म से पृथक् नहीं मानता। शंकर की दृष्टि में कार्यकारणत्व के वैज्ञानिक सिद्धान्त तथा अमन्यत्व के दार्शनिक सिद्धान्त में अन्तर है। ब्रह्म एवं जगत् अनन्य हैं।[3] इस प्रकार दोनों के मध्य सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। जगत् का आधार ब्रह्म के अन्दर है। यदि हम ब्रह्म तथा जगत् को पृथक् करें तो भी उनका बन्धन शिथिल ही रहेगा और वह कृत्रिम तथा बाह्य रूप में ही होगा। ब्रह्म और जगत् एक ही हैं तथा उनका अस्तित्व यथार्थता एवं आभास के रूप में है। जगत् ब्रह्म है क्योंकि ब्रह्म का ज्ञान होते ही जगत् के सम्बन्ध में सभी प्रकार के प्रश्न स्वतः विलुप्त हो जाते है। हमें निरपेक्ष परब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान हो जाय तो समस्त सीमित आकृतियां तथा सीमायें अपने आप समाप्त हो जाती हैं। जगत् माया है, क्योंकि यह ब्रह्म की अनन्त यथार्थता का प्रतिपादक नहीं है।

शंकर किसी भी प्रकार यह स्वीकार करने को तैयार नहीं कि 'यथार्थ का

सम्बन्ध अयथार्थ के साथ किसी प्रकार से संभव है।[4] यह कहना कि अनन्त ब्रह्म सान्त जगत् का कारण है तथा इसका निर्माण करता है, एक प्रकार से यह स्वीकार करता है कि अन्त कालसम्बन्धी प्रतिबन्धों के अधीन है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्म कारण है और जगत् कार्य है। इसका तात्पर्य होगा कि हम जगत् और ब्रह्म में भेद करते हैं। इसके अतिरिक्त जगत् सीमित और सोपाधिक है तो फिर एक अनन्त तथा निरूपाधिक ब्रह्म इसका कारण कैसे हो सकता है ? शंकर गोडपाद के 'अजाति' अथवा 'अविकास' के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। यह जगत् न तो विकसित हुआ है और न ही इसकी उत्पत्ति हुई है। इसकी केवल प्रतीति होती है, क्योंकि हमारी अन्तर्दृष्टि परिमित है। यह जगत् ब्रह्म से अव्यतिरिक्त तथा अभिन्न है। कार्य अभिव्यक्त जगत् है जो आकाश से प्रारम्भ होता है; कारण परम तत्त्व ब्रह्म है। इस कारण से परमार्थतः कार्य का तादात्म्य है। इससे परे उसकी कोई सत्ता नहीं।[5] जगत् की अन्तस्तम आत्मा ब्रह्म है। यदि यह ब्रह्म से स्वतंत्र प्रतीत होता है, तो हमें कहना होगा कि यह जैसा प्रतीत होता है वैसा नहीं है। इसी प्रकार हम अनन्त के अन्दर कोई क्रिया भी निर्दिष्ट नहीं कर सकते, क्योंकि प्रत्येक क्रिया के पीछे कोई न कोई उद्देश्य अथवा किसी न किसी वस्तु की प्राप्ति अभिप्रेत होती है। यदि यह कहा जाय कि निरपेक्ष ब्रह्म अपने को सीमित रूप में अभिव्यक्त करता है तो शंकर की दृष्टि में यह एक मिथ्या विचार है। सीमित जगत् हो न हो निरपेक्ष ब्रह्म सदैव अपनी अभिव्यक्ति करता रहता है, जैसे सूर्य सदैव भासित होता रहता है। यदि किसी समय हम उसे देख नहीं पाते तो यह उसका दोष नहीं है। निरपेक्ष ब्रह्म सदा अपने रूप में अवस्थित रहता है। हम उसके निरपेक्ष ब्रह्म की सत्ता तथा उसकी अभिव्यक्ति के बीच भेद नहीं कर सकते। वृक्ष के रूप में प्रकट होने वाले बीज का दृष्टान्त जगत् और ब्रह्म के सन्दर्भ में अनुपयुक्त है, क्योंकि ऐन्द्रिक प्रगति और विकास लौकिक प्रक्रियायें हैं। इनका प्रयोग नित्य तत्त्व अर्थात् ब्रह्म के सम्बन्ध में करने का तात्पर्य होगा कि हम उस नित्य को एक लौकिक पदार्थ के स्तर पर ला रहे हैं। शंकर परिणामवाद में विश्वास नहीं करते। क्या सम्पूर्ण ब्रह्म में अथवा उसके किसी एक भाग में परिवर्तन होकर जगत् का निर्माण होता है यदि सम्पूर्ण में होता है तो सम्पूर्ण ब्रह्म जगत् के रूप में हमारी आंखों के सामने फैला हुआ है और ऐसी कोई अतीन्द्रिय सत्ता उस अवस्था में नहीं रहती जिसकी खोज हमें करनी पड़े, और यदि उसके किसी भाग में परिवर्तन होकर जगत् का निर्माण होता है तो ब्रह्म की अखण्डता वाधित होती है। यदि किसी वस्तु के भाग, अथवा अवयव और

उसमें भेद हो तो वह नित्य नहीं रह सकती। श्रुति कहती है ब्रह्म अवयव रहित है।[6]

ब्रह्म तथा जगत् के सम्बन्धों को प्रकट करने के लिए वृक्ष का शाखाओं के साथ, अथवा समुद्र का उसकी लहरों के साथ अथवा मिट्टी का सम्बन्ध मिट्टी के बने हुए बर्तनों के साथ, आदि उदाहरण जो प्रस्तुत किए जाते हैं वे यहां नहीं लागू होते, क्योंकि इन सबमें पूरी इकाई जो उसके अवयव के साथ सम्बन्ध है तथा द्रव्य के साथ जो गुण का सम्बन्ध है उस प्रकार के बौद्धिक मानकों का उपयोग किया जाता है। ब्रह्म तथा जीवात्माओं के सम्बन्ध को न तो हम संयोग की कोटि में रख सकते हैं न ही समवाय की कोटि में। ब्रह्म को परिणमनधर्मी विश्व के साथ जोड़ने के सारे प्रयास असफल रहे हैं। परिमित विश्व का असीम आत्मा के साथ क्या सम्बन्ध है यह एक ऐसी गूढ़ पहेली है जिसके साथ मानवमस्तिष्क शुरू से उलझा हुआ है। ब्रैडले के लिए यह समझ पाना कठिन है कि 'यह विश्व कैसे और क्यों विद्यमान है, जिससे कि इसका जीवन सीमित है तथा प्रतीति रूप वस्तु कैसे संभव हो सकती है।[7] हम यह नहीं समझ पाते कि आभासरूप व्यावहारिक जगत् निरपेक्ष ब्रह्म के साथ किस प्रकार संपृक्त है। आधुनिक तत्त्व समीक्षक भी इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करने में अपने को अक्षम पाता है। डा० राधाकृष्णन लिखते हैं, 'ज्ञान में उन्नति हमें इस योग्य तो कर सकती है कि हम उन घटनाओं का वर्णन कर सकें जो विषय रूप जगत् को बनाती हैं और अधिकार व्यौरे तथा यथार्थता के साथ उसका वर्णन कर सकें, किन्तु अनन्त के अन्दर से सान्त जगत् की उत्पत्ति अर्थात् संसार की ऐतिहासिक प्रक्रिया की व्याख्या सर्वथा हमारी शक्ति के बाहर है।[8] माया शब्द हमारी सान्तता को हमारी मानसिकता से जोड़ देता है तथा हमारे बोध में जो रिक्तता है उसे रेखांकित करता है। रज्जु-सर्प दृष्टान्त का उपयोग शंकर ने इसी विश्वप्रपंच को स्पष्ट करने की दृष्टि से किया है। रस्सी की प्रतीति सांप जैसी क्यों होती है यह प्रश्न प्रत्येक जिज्ञासु उठाता है और उसका संतोषजनक समाधान देना आसान नहीं। इससे भी कठिन प्रश्न है ब्रह्म का जगत् के रूप में आभासित होना और इसका भी उत्तर देना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि ब्रह्म जगत् के रूप में ठीक वैसा ही प्रतिभासित होता है जैसा कि सांप रस्सी के रूप में।[9]

शंकर का विचार है कि जगत् ब्रह्म के ऊपर आश्रित तो है किन्तु वह ब्रह्म को किसी भी तरह प्रभावित नहीं कर सकता, तथा 'विवर्तोपादान' रूप कारण को 'परिणामोपादान' से भिन्न बनाता है अर्थात् उस कारण को जो अपने में बिना किसी प्रकार का परिवर्तन लाये कार्य को उत्पन्न करने की

क्षमता रखता है, ऐसे कारण से भिन्न बना देता है जो स्वयं कार्य के रूप में परिणत हो जाता है। विवर्त का अर्थ है—विपर्यास। ब्रह्म का विवर्त देश-कालादि से बद्ध यह जगत् है। विवर्त शब्द से अभिप्राय है निरपेक्ष पर ब्रह्म का देशकालबद्ध जगत् के रूप में प्रतीयमानता। मूलभूत तत्त्व तो वस्तुतः ब्रह्म ही है जिसका रूपान्तर यह जगत् देश तथा काल के स्तर पर माना जा सकता है। चूंकि रूपान्तर हमारे लिए किया गया है, मूल ब्रह्म अपने अस्तित्त्व के लिए रूपान्तर के ऊपर आश्रित नहीं है। अनेकतापूर्ण जगत् एक ऐसा रूप है जिसे परम सत्ता हमारे लिए ग्रहण करती है, अपने लिए नहीं। जब दूध दही का रूप धारण करता है तो उसे हम परिणाम अथवा परिवर्तन कहते हैं और जब रज्जु की प्रतीति सर्प के रूप में होती है तो वह विवर्त अथवा आभास कहलाता है।[10] शंकर ने जो रज्जु-सर्प, शुक्ति का रजत, तथा मरुभूमि एवं मृगतृष्णा आदि के दृष्टांत प्रस्तुत किए हैं उनमें उनका अभिप्रेत कार्य की कारण के ऊपर एक पक्षीय निर्भरता, और कारण को अपने यथार्थ रूप को सुरक्षित रखने का भाव आदि है। परिणाम की अवस्था में कारण और कार्य दोनों ही यथार्थता की समान भूमि पर प्रतिष्ठित होते हैं किन्तु आभास की प्रक्रिया में कार्य कारण से भिन्न सत् के एक भिन्न प्रकार के वर्ग का होता है।[11] जगत् ब्रह्म के अन्दर अवस्थित रहता है, ठीक उसी प्रकार जैसे सांप रस्सी के अन्दर।

समस्त अद्वैतवादी साहित्य में माया का जो निरूपण उपलब्ध होता है उसके अनुसार उसका 'सदसद्भ्यां अनिर्वाच्य' अर्थात् अपरिभाषेय स्वरूप ही निर्धारित पाता है।[12] माया की सत्ता ब्रह्म से भिन्न नही मानी जा सकती, क्योंकि ब्रह्म के समान दूसरी कोई सत्ता नहीं है। विश्व ब्रह्म के अन्दर किसी अन्य यथार्थ सत्ता के कुछ अंश जुड़ जाने से आविर्भूत नहीं हुआ है, क्योंकि जो अपने में परिपूर्ण है उससे अन्य किसी प्रकार के पदार्थ का संयोग नहीं हो सकता। माया का प्रयोग विभाजक शक्ति अर्थात् प्रतिबन्ध तत्त्व के लिए हुआ है। यह वह तत्त्व है जो अपरिमित को परिमित बना देता है और रूपरहित में रूप की सृष्टि करता है। माया परम सत्ता का एक विशेष लक्षण है न उसके समान है, न ही उससे भिन्न। इसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करने का अभिप्राय होगा द्वैतवाद को प्रश्रय देना। आनुभविक जगत् में जो भेद दृष्टिगोचर होता है है उसका कारण यदि हम नित्यब्रह्म में खोजने लग जाएगे तो उचित न होगा। मायोपहित ब्रह्म ही ईश्वर कहलाता है और माया ईश्वर की शक्ति को प्रकट करती है। किन्तु ईश्वर पर माया का किसी रूप में प्रभाव नहीं पड़ता। यदि माया का अस्तित्त्व है तो यह ब्रह्म के प्रतिबन्ध रूप में रहती है और यदि माया का अस्तित्व नहीं है तो जगत् के आभास की कोई व्याख्या नहीं बन सकती।

यह न तो ब्रह्म के समान यथार्थ ही है और न आकाशकुसुम के समान अभावात्मक ही।[13] इसका स्वरूप चाहे जो भी हो किन्तु जगत् प्रपंच की प्रतीति के लिए इसकी सत्ता को मानना आवश्यक है। यह जगत् में अनिवार्य रूप से उपस्थित रहती है तथा इसके अस्तित्व की नियामक है। माया द्रव्य नहीं है अतः इसे उपादान कारण नहीं माना जा सकता। इसे केवल एक व्यापार कहा जा सकता है जो ब्रह्मरूपी उपादान कारण से उत्पन्न होने के कारण भौतिक जगत् की सृष्टि करता है 'तज्जन्यत्वेसति तज्जन्यजनको व्यापारः'। इसके दो लक्षण माने गये हैं, आवरण तथा विक्षेप। पहले का अभिप्राय है ज्ञान को आवृत्त कर लेना अर्थात् उसका निराकरण तथा दूसरे का अर्थ है भ्रमात्मक प्रतीति उत्पन्न करना। इसके कारण केवल इतना ही नहीं कि हम परम सत्ता से साक्षात्कार नहीं कर पाते प्रत्युत उसके स्थान पर हमें किसी अन्य वस्तु का बोध हो जाता है। माया के ही कारण विविध नाम एवं रूप का विकास होता है और उन्हीं का पुंजीभूत रूप यह विश्व है। इस नाम और रूप के पुंज के पीछे माया नित्य ब्रह्म को भी हमारी दृष्टि से ओझल कर देती है।

इसे वंचनस्वभावा भी माना जाता है। इसीलिए इसे अविद्या अथवा मिथ्याज्ञान आदि नाम दिए गए हैं। यह केवल बौद्ध का अभाव ही नहीं, अपितु निश्चित रूप से भ्रान्ति है। इससे युक्त होकर ब्रह्म ही ईश्वर हो जाता है तथा सृष्टि का विधान करता है।[14] जैसाकि कहा गया माया ईश्वर की शक्ति है, उसका अन्तःस्थायी बल है जिसके द्वारा वह संभाव्यता को जगत् के रूप में परिणत कर देता है। यह अनिर्वाच्या माया दो आकार ग्रहण करती है—काम तथा संकल्प। ईश्वर नित्य है अतः उसकी उद्‌भाविनी शक्ति होने के कारण यह भी नित्य है। इसी शक्ति से संवलित होकर वह विश्व की सृष्टि करता है। इसका कोई पृथक् अधिष्ठान नहीं है। यह ईश्वर के ही अन्दर रहती है जिस प्रकार उष्णता अग्नि में रहती है। इसकी उपस्थिति का बोध इसके कार्यजाल को देखकर होता है।[15] माया के द्वारा नाम और रूप का भी बोध होता है जो अविकसित अवस्था में ईश्वर के अन्दर विद्यमान रहते हैं तथा विकसित होकर जगत् के रूप में प्रकट होते हैं। इस दृष्टि से इसे प्रकृति का पर्याय कहा गया है।[16] सृष्टि रचनाकाल में ईश्वर अपने रूप हीन तथा निरुपाधिक पदार्थों में ऐसे रूपों तथा गुणों का आधान करता है जो वह अपने अन्दर धारण किए हुए है। इस अविकसित तत्त्व को ही कभी 'आकाश' तो कभी 'अक्षर' और कभी माया के नाम से अभिहित किया जाता है।[17] सृष्टि-रचना की दृष्टि से यह भौतिक अधिष्ठान कहलाती है जो परिवर्तनों के माध्यम से विश्व को क्रमशः प्राकृतिक अवस्था में ले आती है। यह ईश्वर के कारण शरीर का निर्माण

करती है। सांख्य के प्रधान के विपरीत यह ईश्वर से स्वतंत्र नहीं है। इसे एक ऐसा प्रतिबन्ध माना गया है जिसे ईश्वर अपने ऊपर लागू करता है। माया को प्रकृति भी माना गया है। मायां तु प्रकृति विधाता···।[18] इस स्थिति में जगत् की समस्त संभाव्यता इसके अन्दर केन्द्रित होती है। जैसे उगने वाले वृक्ष की संभाव्यता बीच में विद्यमान रहती है। यह त्रिगुण्यात्मिका प्रकृति न तो ईश्वर की आत्मा है और न ही ईश्वर से पृथक्। यह रूप जगत् की जननी तथा क्रीड़ाभूमि है जो सदा अपने को अनन्त रूपों में ढालने के लिए समुत्सुक रहता है। अन्त में हम कह सकते हैं कि यह विश्व ईश्वर के लिए अथवा ऐसी विषयी के लिए जिसका सम्बन्ध सदा विषय के साथ रहता है आवश्यक है। ईश्वर को विश्व की आवश्यकता है जिसे हेगल ने ईश्वर की आत्माभिव्यक्ति का एक आवश्यक रूप माना है और माया उस विश्व की अभिव्यक्ति का एक अनन्य साधन है।

आचार्य शंकर तो मायावाद के प्रमुख प्रवक्ता हैं, किन्तु उसकी परवर्ती दार्शनिक प्रणालियों में भी (भले ही उनके सिद्धान्त को निरस्त करने के लिए) विश्व-रचना-प्रक्रिया के सन्दर्भ में माया पर किसी-न-किसी रूप में विचार किया गया है। इनमें रामानुज का विशिष्टाद्वैत, निम्बार्क का द्वैताद्वैत, मध्व का द्वैत तथा चैतन्य महाप्रभु का अचिन्त्य भेदाभेद प्रमुख हैं। इन वैष्णव चिन्तकों तथा सन्तों ने आस्थामूलक अध्यात्म चिन्तन के परिप्रेक्ष में जीवन एवं जगत् की यथार्थवादी व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया है और इस सन्दर्भ में माया की अवधारणा का सार्थक तथा युक्तिपरक विनियोग किया है। साथ ही शंकर के चिन्तन पर बौद्ध-प्रभाव को रेखांकित करते हुए इन्होंने उसकी अप्रासंगिकता को सबल तर्कों द्वारा निरस्त कर दिया है। नीचे की पंक्तियों में हम उक्त प्रणालियों द्वारा प्रस्तुत माया के स्वरूप एवं विवेचन पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

विशिष्टाद्वैत में निरूपित माया

विशिष्टाद्वैत के प्रवर्तक आचार्य रामानुज के माया विषयक सिद्धान्त को समझने के लिए जगत् विषयक सिद्धान्त को समझना आवश्यक होगा। वह जगत् को ब्रह्म से उत्पन्न अद्भुत रचना मानते हैं तथा माया को उसकी अद्भुत कार्यसम्पादिका अनन्य एवं यथार्थ शक्ति न कि आवरण शक्ति। अद्भुत रचना युक्त तथा अद्भुत नियम और विधि द्वारा नियन्त्रित यह समस्त जगत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है। उसी के द्वारा उसकी सत्ता का पोषण हो रहा है और अन्त में वह उसी में मिल जाएगा। ब्रह्म की महत्ता की कोई सीमा नहीं है। यद्यपि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और सहार त्रिविध गुण के अर्थ में व्यवहृत हैं, किन्तु

वे तीन द्रव्यों को लक्ष्य नहीं करते, केवल एक ही द्रव्य को लक्ष्य करते हैं जिसमें वे निहित थे। उसका सच्चा स्वरूप तो उसकी अपरिणामी सत्ता, नित्य सर्वज्ञता और देश, काल तथा लक्षणों में अपरिमितता में रही है। शंकर के इस सूत्र (1-1.2)[19] के विवरण का उल्लेख करते हुए रामानुज कहते हैं कि जो ब्रह्म को निर्विशेष मानते हैं वे ब्रह्मसूत्र (1-1-2) में अभिहित ब्रह्म के गुण को ठीक नहीं समझा सकते, क्योंकि ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है ऐसा कहने के बजाय उन्हें यों कहना चाहिए कि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का भ्रम ब्रह्म से है। किन्तु ऐसा कहने से भी ब्रह्म की निर्विशेषता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि भ्रम अज्ञानवश होगा और ब्रह्म सारे अज्ञान को प्रकट करने वाला कहा जायेगा। वह स्वप्रकाशरूप होने के कारण ऐसा कर सकता है और यदि उसमें यह भेद है तो वह न तो निर्विशेष ही हो सकता है और न भेदरहित। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या शंकर ने वस्तुतः उसी मत का प्रतिपादन किया कि जिस वस्तु में से जगत् की उत्पत्ति का भ्रम होता है वही ब्रह्म है ? शंकर के उपनिषदों तथा ब्रह्मसूत्र के भाष्य में निश्चय ही ऐसे अवतरण हैं जो ईश्वरवाद का प्रतिपादन करते हैं और यह भी कि जगत् की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा ही हुई है। शंकर को इन अवतरणों को समझाना था और उन्होंने सदैव अद्वैतपरक भाषा का कठोर प्रयोग नहीं किया, क्योंकि उन्होंने तीन प्रकार की सत्ता मानी है और सब प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है। किन्तु शंकर ने अपेक्षित सावधानी नहीं रखी और परिणाम यह हुआ कि कुछ पाठ ऐसे दिखते हैं जैसे वास्तव में ईश्वरवाद के समर्थक हों कुछ द्वयर्थक हैं तथा कुछ नितान्त अद्वैतवादी है। किन्तु शंकर के टीकाकारों तथा इस क्षेत्र के स्वतन्त्र चिन्तकों को प्रमाण माना जाए तो इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि शंकर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त शुद्ध अद्वैतवादी सिद्धान्त था। ब्रह्म निश्चित रूप से अपरिणामी तथा अनन्त है और वह विश्वप्रपंच का अधिष्ठान है तथा सबके अन्तर में विद्यमान एकमात्र सत्य है। किन्तु इस विश्व-प्रपंच के आभास में दो तत्त्वों का योग है। एक तो ब्रह्म जो सत् और चित् स्वरूप है दूसरा भेदमूलक एवं परिणामी तत्त्व माया है जिसके विकास या परिणाम से जगत् के नानात्व का अवभास संभव है। किन्तु ध्यानपूर्वक देखा जाए तो केवल ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण नहीं है, अपितु वह अविद्या के साथ उपादान कारण है, तथा जगत् ब्रह्माश्रित है और उसी में विश्रान्त हो जाता है।[20] प्रकाशात्मा कहते हैं कि जिस सर्जन व्यापार की चर्चा यहां (जन्माद्यस्य) की गई है वह ब्रह्म में नहीं और ब्रह्म के विषय में खोज का यह अर्थ नहीं कि वह इन गुणों से सम्बन्धित है।[21] भास्कर कहते हैं कि ब्रह्म ही जगत् के रूप से परिणमित हुआ है और यह

परिणाम सत्य है। उसकी शक्तियों का नानारूप यह जगत् है। किन्तु प्रकाशात्मा परिणामवाद के सिद्धान्त से असहमति प्रकट करते हुए कहते हैं कि विश्वप्रपंच, भले ही मायारूप क्यों न हो, चूंकि माया ब्रह्म से सम्बन्धित है अतः जगत् का बोध निषेध अथवा असत्ता हमारे अनुभव में नहीं आती, केवल इतना ही पता चल पाता है कि वह अन्ततोगत्वा सत् नहीं है।[22] माया का अधिष्ठान ब्रह्म है और जगत् प्रपंच माया का परिणाम होने के कारण ब्रह्म पर आधारित है तथा सद्रूप है। किन्तु उसकी अन्तिम सत्ता वहीं तक है जहां तक वह ब्रह्म पर आश्रित है अर्थात् उसकी सत्ता सापेक्षिक है। ब्रह्म और माया के संयुक्त कारणत्व का विचार तीन प्रकार से किया जा सकता है—

(1) ब्रह्म और माया दो तन्तु हैं जिनको बुनकर एक तन्तु बना दिया गया है।

(2) ब्रह्म और उसकी शक्ति माया जगत् का कारण है।

(3) ब्रह्म माया का आश्रय होने के कारण जगत् का गौणरूप से कारण है।[23]

माया ब्रह्म पर आश्रित है अतः माया का कार्य जगत् भी ब्रह्म पर आश्रित है। इस प्रकार शुद्ध ब्रह्म ही जगत् का कारण है।

सर्वसंक्षेप-शारीरिक कार शुद्ध ब्रह्म को उपादान कारण तो मानते हैं किन्तु वह माया को ब्रह्म के साथ संयुक्त कारण न मानकर उसे एक साधन अथवा उपकरण बताते हैं जिसके द्वारा ब्रह्म का कारणत्व नानात्वमय जगत् के रूप में प्रकट होता है। इस मत के अनुसार भी नानात्व का उपादान माया है, यद्यपि माया का इस रूप में प्रकट होना मूल कारण ब्रह्म के बिना संभव नहीं है।[24] प्रकाशात्मा के विचार में इस तथ्य से अद्वैतवाद के सिद्धान्त को बल मिलता है कि कारण को छोड़कर कार्य में कुछ भी नहीं है जिस पर विचार व्यक्त किया जा सके।[25] इस प्रकार शांकर वेदान्त के व्याख्याकारों तथा अनुयायियों ने यह मत दृढ़ कर दिया है कि यद्यपि ब्रह्म ही जगत् का मूल कारण है तथापि जगत् जिन पदार्थों से मिलकर बना है वह ब्रह्म न होकर माया तत्त्व है और इसीलिए जगत् की सत्ता सापेक्षिक है। यह ब्रह्म की सत्ता की तरह सत्य नहीं है।[26] शंकर स्वयं कहते हैं कि ब्रह्म की सर्वज्ञता, सभी विषयों को प्रकाशित करने और प्रकट करने की नित्य शक्ति में ही है। यद्यपि इस सर्वव्यापी चैतन्य में कोई भी क्रिया या साधन की आवश्यकता नहीं रहती तो भी वह ज्ञाता कहा जाता है, जबकि सूर्य स्वयं दाहक और प्रकाशक कहा जाता है, जबकि वह स्वयं ताप और प्रकाश की अभिन्नता के सिवाय और कुछ नहीं है। जगत् की उत्पत्ति के पहले, इस सर्वव्यापी चैतन्य का जो विषय है वह अनिर्वचनीय नाम रूप है

जिसे 'यह' या 'वह' कहकर निश्चित नहीं किया जा सकता।[27] ब्रह्म की सर्वज्ञता इसलिए सबको प्रकट करती है जिससे माया की समस्त सृष्टि बुद्धि का ज्ञानात्मक विषय बन जाती है। किन्तु यह प्रकट करना ज्ञान कर्म नहीं है वरन् चैतन्य का नित्य स्थिर प्रकाश है जिससे माया के मिथ्याभास प्रकाशित हो उठते हैं और जाने जाते हैं।

रामानुज उक्त निष्कर्षों से सहमत नहीं हैं। वह नहीं मानते कि कारण ही एकमात्र सत्य है और समस्त कार्यजाल मिथ्या है। कार्यरूप जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए एक कारण यह दिया जाता है कि कार्य अनित्य है। किन्तु इससे केवल इसका विनाशी तथा अनित्य स्वभाव ही सिद्ध होता है, मिथ्यात्व नहीं। अपने मत को पुष्ट करते हुए वह कहते हैं कि जब एक देश और काल में विद्यमान रहती हुई उसी देश और काल में नहीं रहती है तो वह मिथ्या कहलाती है किन्तु यदि वह दूसरे देश-काल में रहती हुई नहीं पाई जाती तो उसे मिथ्या नहीं कह सकते। वहां वह केवल नाशवान् तथा अनित्य है। हम यह नहीं कह सकते कि कारण का स्वरूप परिवर्तित नहीं होता। समय एवं स्थान के संयोग से नए तत्त्वों का उदय होता है जिसके परिणामस्वरूप उसमें परिवर्तन होता है। कार्य को न तो असत् कहा जा सकता है न ही भ्रम क्योंकि वह कारण से उत्पन्न होने के पश्चात् तब तक किसी देश और काल में बना रहता है जब तक नष्ट नहीं होता। हमारा यह अनुभव मिथ्या है इसे सिद्ध करने का कोई आधार नहीं है। जगत् ब्रह्म से अभिन्न है इस प्रकार जो श्रुति एवं शास्त्र प्रतिपादन करते हैं वे इस अर्थ में सही हैं कि ब्रह्म ही जगत् का मूल कारण है और कार्य-कारण अन्ततः भिन्न नहीं है। जब यह कहा जाता है कि घड़ा मिट्टी के सिवाय और कुछ नहीं है तो इसका अर्थ यह होता है घड़ा यद्यपि पानी आदि लाने का काम दे रहा है किन्तु है तो वह मिट्टी ही, कोई दूसरा द्रव्य तो नहीं है। इस प्रकार घड़ा मिट्टी की अवस्था विशेष है। जब यह अवस्था बदल जाती है तब हम कहते हैं कि कार्यरूप घड़ा नष्ट हो गया है, यद्यपि कारण अर्थात् मिट्टी वैसी बनी रहती है। उत्पत्ति का अर्थ पहली स्थिति का नाश और नई स्थिति का निर्माण है। वस्तुतः अवस्था या रूप जो पहले नहीं थे वे उत्पन्न होते हैं किन्तु जो अवस्था या रूप द्रव्य में दीखते हैं, उसकी द्रव्य से पृथक् सत्ता नहीं होती। उसकी नई उत्पत्ति कारण में पूर्वतः विद्यमान है। इस प्रकार एक ही ब्रह्म स्वयं जगत् रूप में परिणत हुआ है तथा अनेक जीव, उसकी विशेष अवस्थायें होने के कारण उसके समरूप हैं और तो भी उसके अंश रूप या अवस्था होने से वास्तव में अस्तित्व रखते हैं।

विशिष्टाद्वैत प्रणाली में पूर्ण अथवा अद्वैत तत्त्व को आत्मा (ब्रह्म) कहा

गया है। जीव और जड़ जगत् उसकी देह हैं। जब ब्रह्म जीव और जड़ जगत के सूक्ष्म रूप देह के साथ रहता है तब वह कारण अथवा ब्रह्म की कारणावस्था कहलाती है। जीव और जगत् की साधारण प्रकट अवस्था रूपी देह से युक्त हो जाने पर वह ब्रह्म की कार्यावस्था कहलाती है। जो लोग कार्य को मिथ्या मानते हैं वे यह नहीं कह सकते कि कार्य कारण से अभिन्न हैं, क्योंकि उनके अनुसार मिथ्या जगत् सत्य ब्रह्म से अभिन्न नहीं हो सकता। रामानुज इस बात को स्वीकार नहीं करते कि सन्मात्र रूप कोई वस्तु जीव और जगत् की सूक्ष्मावस्था रूप देह वाले नियामक तत्त्व ईश्वर से, अन्ततः अधिक सत्य हैं। वे ईश्वर को केवल सन्मात्र मानने के पक्ष में नहीं हैं क्योंकि वह सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता इत्यादि अनन्त गुणों से युक्त हैं। इस प्रकार रामानुज ईश्वर के अंश रूप जड़ और जीवक द्विविध सिद्धान्त को पकड़े रहते हैं। वह ईश्वर अन्तर्यामी है। वे सत्कार्यवाद के समर्थक हैं किन्तु उनका सत्कार्यवाद सांख्य के अधिक निकट है। कार्यकरण की परिवर्तित अवस्था विशेष है और इसलिए जड़ और जीव रूप में अभिव्यक्त जगत् को इसलिए कार्य माना गया है कि वह अभिव्यक्त अवस्था से पूर्व ईश्वर में सूक्ष्म और निर्मल अवस्था में विद्यमान था। किन्तु ईश्वर में जड़ और जीव का यह भेद हमेशा विद्यमान था और उसमें कोई ऐसा अंश नहीं जो इससे अधिक सत्य हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जगत् ब्रह्म के भीतर विद्यमान परिणामी शक्ति अर्थात् माया का प्रतिफलन है जो ब्रह्म से जगत् की रचना तो करवाती है किन्तु उसके स्वभाव को प्रभावित नहीं करती। परिवर्तन तो शरीर में होता है और चूंकि ब्रह्म जीव रूपी शरीर की आत्मा है अतः उसमें कोई विकार नहीं आता। अतः जीव को ब्रह्म का शरीर मान लेने पर भेद तथा अभेद दोनों बने रह सकते हैं। चूंकि रामानुज के सिद्धान्त में जीव को ब्रह्म का गुण माना जाता है और गुण को उसके धारक से पृथक् नहीं किया जा सकता अतः रामानुज सिद्धान्त के विषय में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यद्यपि जीव और ब्रह्म में भेद तो नहीं है फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि जीव ही ब्रह्म है अथवा ब्रह्म ही जीव है। इस प्रकार भेद भी बना ही रहता है; और यह भेद, रामानुज के विचार में, यथार्थ स्वाभाविक तथा नित्य है। यह भेद ब्रह्म की रहस्यमयी तथा समान रूप से यथार्थ और नित्य शक्ति माया के कारण है। यहां शंकर द्वारा प्रतिपादित अज्ञान रूपी अनित्य उपाधि नहीं मानी गयी है।[29]

रामानुज यथार्थ को ही ज्ञान का नियामक मानते हैं। उनके विचार में मिथ्या प्रत्यक्ष में प्रकट होने वाला पदार्थ भ्रान्तिमय नहीं, यथार्थ है, क्योंकि

'पंजीकरण' के सिद्धान्त के अनुसार भौतिक जगत् के समस्त पदार्थ संयुक्त द्रव्य हैं जो नानाविध अनुपातों में पांच तत्त्वों को अपने अन्दर धारण किये हुए हैं। एक वस्तु को रजत कहते हैं दूसरी को शुक्तिका। इसका कारण यह है कि किसी में किन्हीं तत्त्वों की कमी है तो किसी में अपेक्षाकृत आधिक्य है। हम देखते हैं कि सीपी चांदी के समान होती है, इस प्रकार हम स्वयं अनुभव करते है कि चांदी के कुछ तत्त्व सीपी में विद्यमान हैं। समानता पदार्थ की आंशिक एकता की द्योतक है। मृगतृष्णिका में हमें पानी का आभास होता है। इसका कारण यह है कि प्रकाश तथा रेत के कणों में पानी विद्यमान रहता है। सफेद श्वेत शंख पीलिया के रोगी को पीला इसलिए दिखता है कि उसकी आंखों का पीलापन नेत्र रूपी इन्द्रिय की किरणों के साथ-साथ शंख में संक्रमित हो जाती है और शंख के ऊपर का सफेद रंग धूमिल पड़ जाता है।

रामानुज की शिक्षा में सभी प्रकार की भूलों के समाधान का अवसर है। यह कहने में, कि समस्त ज्ञान यथार्थ का ही होता है, उनका यह आशय नहीं कि ज्ञान समस्त यथार्थ सत्ता का होता है। जब हम सीपी को भूल से चांदी समझ बैठते हैं तो हम कुछ लक्षणों को तो ध्यान में रखते हैं कुछ को भुला देते हैं। पीले शंख की भ्रान्ति में हम शंख की सफेदी को लक्ष्य करना छोड़ देते हैं। स्वप्नकालीन अनुभवों में हम इस तथ्य को भुला देते हैं कि स्वप्नगत पदार्थ व्यक्तिगत हैं जो केवल स्वप्नद्रष्टा से ही सम्बन्ध रखते हैं, अन्यों से नहीं। यहां तक कि जिसे हम सत्यज्ञान कहते हैं उसके ऐसे बहुत कुछ अंश को दृष्टि से ओझल कर देते हैं जो क्रियात्मक रूप में अनावश्यक है। सत्य ज्ञान तथा मिथ्या ज्ञान दोनों ही अपूर्ण हैं। किन्तु सत्य ज्ञान में हम ऐसे लक्षणों पर ध्यान देते हैं जो हमारी दृष्टि में हमारे हित तथा उपयोग के हैं और मिथ्या ज्ञान हमें लक्ष्य की प्राप्ति कराने में असफल रहता है। मृग-तृष्णा एक भ्रान्ति है। इसलिए कि उसका जल हमारी पिपासा को शान्त नहीं कर सकता। सत्य वह है जो यथार्थ वस्तु को प्रस्तुत करता है और जो क्रियात्मक रूप में उपयोगी है।

इस प्रकार रामानुज के मायावाद में मिथ्यात्व अथवा भ्रान्ति के लिए स्थान नहीं है। उनके लिए तो माया परमेश्वर की यथार्थ एवं परिणमन शक्ति है जिसके फलस्वरूप एकत्व (ईश्वर, आत्मा एवं प्रकृति) का भाव उदित होता है किन्तु उसमें भेद के लिए अवकाश बना रहता है।

निम्बार्क के द्वैताद्वैत में प्रतिपादित माया

शंकर द्वारा प्रतिपादित जगत् के मिथ्यात्व तथा मायावाद के आलोचकों में निम्बार्क का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ब्रह्मसूत्र के लघु भाष्यकार

तथा 'दशश्लोकी' एवं 'वेदान्त तत्त्वबोध' आदि अनेक ग्रन्थों के प्रणेता निम्बार्क वैष्णव धर्मावलम्बी तेलगू ब्राह्मण थे तथा रामानुज के कुछ समय पश्चात् और मध्व से पूर्व लगभग ग्यारहवीं शताब्दी में हुए थे।[30] उन्होंने जीव ईश्वर और जगत् के भेद को लेकर अपने विचार प्रकट किए हैं। इनका सिद्धान्त 'द्वैताद्वैत' अथवा भेदाभेद कहलाता है, जिसके अनुसार ब्रह्म जीव और जगत् से भिन्न होते हुए भी अभेदस्वरूप है। जिस प्रकार प्राण भिन्न क्रियात्मक और ज्ञानात्मक इन्द्रिय व्यापारों द्वारा अभिव्यक्त होता है फिर भी उनसे अपनी स्वतन्त्रता, अखंडता एवं भेद बनाये रखता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी अनन्त जीव और जड़ में अपने को खोये बिना अभिव्यक्त करता है। मकड़ी जिस प्रकार अपने में से जाल बनाने पर भी उससे स्वतंत्र रहती है इसी प्रकार ब्रह्म भी असंख्य जीव और जड़ में विभक्त होता हुआ भी अपनी पूर्णता तथा शुद्धता बनाये रखता है। जीव के सभी व्यापार तथा उनका अस्तित्व भी ब्रह्म पर इस अर्थ में अवलम्बित हैं (तादायत्त स्थिति पूर्विका) कि ब्रह्म सभी का उपादान एवं निमित्त कारण है।

निम्बार्क कहते हैं कि द्वैतवाद और अद्वैतवाद प्रतिपादन अनेक मत प्रचलित हैं। इन दोनों सरणियों में सामंजस्य स्थापित करने का ढंग यही है इस मध्यम मार्ग को स्वीकार करें कि ब्रह्म जीव और जड़ जगत् के साथ भिन्न होते हुए भी अभिन्न है। ब्रह्म का स्वरूप यहां इस प्रकार माना गया है कि वह जीव और जड़युक्त जगत् के साथ अभ्यास के कारण नहीं अपितु अपने विलक्षण चैतन्य स्वरूप के कारण भिन्न तथा अभिन्न है। इसी कारण इस सिद्धान्त को 'स्वाभाविक भेदाभेदवाद' कहा गया है।

अपने मायावादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने के लिए निम्बार्क तार्किक प्रणाली अपनाते हैं। जिस प्रकार किसी को, जिसके दृष्टिपथ में चन्द्र है, उसका चन्द्र के प्रतिपरोक्ष रूप से, वृक्ष-शाखा द्वारा ध्यान आकर्षित किया जा सकता है, इसी प्रकार ब्रह्म को भी अन्य प्रत्ययों द्वारा उद्बोधित किया जा सकता है। किन्तु यह बात स्वीकार्य नहीं हो सकती क्योंकि उपर्युक्त दृष्टान्त में चन्द्र और वृक्ष की शाखा दोनों इन्द्रियग्राह्य हैं जबकि ब्रह्म नितान्त इन्द्रियातीत है। ब्रह्म को तर्कसिद्ध कहना गलत होगा, और यदि वह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं तो 'शशविषाणवत्' तुच्छ है। यदि यह कहा जाय कि ब्रह्म के स्वयंप्रकाश होने के कारण इसको सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण अपेक्षित नहीं तो ब्रह्म के स्वरूप-संकीर्तन करने वाली कृतियां व्यर्थ हो जायेंगी। शंकर के अनुयायियों का यह कथन कि सारी अवस्था मिथ्या होने पर भी भासमान है और व्यावहारिक प्रयोजन साधती है, निराधार प्रतीत होता है, क्योंकि जब श्रुति-बन्धन का नष्ट

होना कहती है तो एक प्रकार से मान लेती है कि वह सत्य था और उसका विनाश भी सत्य है। इसके अतिरिक्त भ्रम किसी अधिष्ठान में ही शक्य होता है जबकि उसमें सामान्य एवं विशेष गुण होते हैं और भ्रम तभी उत्पन्न होता है जबकि पदार्थ उसके विशिष्ट गुणसहित ज्ञान न होकर सामान्य ज्ञान का ही विषय बनता है। किन्तु यदि ब्रह्म निर्गुण है तो उसका किसी भी भ्रम का अधिष्ठान होना असंभव है। इसी प्रकार यदि अज्ञान के किसी प्रकार के आश्रय या विषय को समझना कठिन है तो भ्रम भी स्वयं समझ के बाहर हो जाता है। शुद्ध प्रज्ञानघन होने के कारण ब्रह्म अज्ञान का आश्रय या विषय नहीं माना जा सकता। जीव स्वयं अज्ञान का कार्य होने के कारण अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त ब्रह्म शुद्ध प्रकाशस्वरूप है और अज्ञान तिमिर रूप। अतः पहले को दूसरे का आश्रय नहीं कहा जा सकता जिस प्रकार सूर्य को अन्धकार का आश्रय नहीं कह सकते।

भ्रम की उत्पत्ति के विषय में निम्बार्क का विचार है कि उसे हम अज्ञान द्वारा प्रसूत नहीं कह सकते क्योंकि अज्ञान अचेतन है इसलिए उसे कर्ता नहीं माना जा सकता। ब्रह्म को भी कारण नहीं माना जा सकता, इसलिए कि वह शुद्ध एवं निश्चल है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म को अनभीष्ट घटनाओं, जैसे पाप, हिंसा आदि के रूप में मिथ्याभास होना भी नहीं समझाया जा सकता, क्योंकि यदि ब्रह्म सर्वदा चेतन तथा स्वतंत्र है तो वह अपनी ऐसी अवांछनीय दशाओं में परिणाम होना स्वीकार नहीं कर सकता, जिसका अनुभव पुनर्जन्म द्वारा अनेक पशु-योनियों में भुगतना पड़ता है। यदि ब्रह्म ऐसे अनुभवों से युक्त नहीं है तो उसकी स्वप्रकाशता लुप्त हो जायगी क्योंकि ऐसी स्थिति में उसे अज्ञानी मानना होगा। अज्ञान को यदि सत् कहें तो द्वैतवाद स्वीकार करना पड़ेगा और यदि वह असत् है तो वह ब्रह्म को आवृत्त नहीं कर सकता। इसी प्रकार यदि ब्रह्म स्वप्रकाश है तो उसका गोपन कैसे किया जा सकता है? यदि शुक्तिका अपने स्वरूप से प्रकट होती है तो उसका रजत के रूप में भ्रमपूर्ण अनुभव नहीं हो सकता। अद्वैतवादी ब्रह्म को निर्गुण और अखंड मानते हैं। यदि यह माना जाय कि सामान्य से अज्ञान द्वारा केवल 'आनन्दांश ही आवृत्त होता है और सत् अंश अनावृत रहता है तो इसका अर्थ होगा कि ब्रह्म के विभाग हो सकते हैं और ब्रह्म का मिथ्यापन ऐसे अनुभवों द्वारा सिद्ध किया जा सकेगा-ब्रह्म मिथ्या है, क्योंकि उसमें घड़े की तरह अंश है—'ब्रह्म मिथ्या संशयत्वात् घटादिवत्।'

यदि यह कहा जाय, कि अज्ञान के विरोध में आक्षेप करना व्यर्थ है, क्योंकि अज्ञान तो सर्वथा मिथ्या ज्ञान है, जैसे उल्लू सूर्य के तीव्र प्रकाश में भी

अन्धकार ही देखता है वैसे ही मैं अज्ञ हूं यह अपरोक्ष अनुभव सभी को होता है, तो इसका उत्तर निम्बार्क सम्प्रदाय के व्याख्याकार अनन्तराम इस प्रकार देते हैं—'मैं अज्ञ हूं' इस अपरोक्ष अनुभव में 'मैं' को शुद्ध ज्ञान नहीं कहा जा सकता क्योंकि शुद्ध ज्ञान का अनुभव अज्ञ के रूप में नहीं हो सकता। इसको अहंकार मात्र भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वैसी स्थिति में 'अहंकार अज्ञ है' ऐसा अनुभव होता है। यदि अहंकार से अभिप्राय शुद्ध आत्मा से है तो ऐसी आत्मा का मुक्ति से पूर्व अनुभव नही हो सकता। अहंकार शुद्ध चैतन्य और अज्ञान से भिन्न कोई वस्तु नहीं हो सकती, क्योंकि वह स्थिति निस्सन्देह अज्ञान-जन्य स्थिति है जो ब्रह्म और अज्ञान के संयोग से पूर्व विद्यमान नहीं हो सकती। शांकरवेदान्त का यह पक्ष, कि अज्ञान केवल मिथ्या ज्ञान होने से ब्रह्म के स्वरूप को दूषित नही कर सकता, भी निम्बार्क मतावलम्बियों को स्वीकार्य नहीं। यदि अज्ञान को मिथ्या कल्पना ही माना जाय तो भी ऐसी कल्पना करने वाला कोई होना चाहिए। किन्तु ऐसी कल्पना करना न तो ब्रह्म के लिए संभव है, न ही अज्ञान के लिए। पहला शुद्ध निर्गुण है और दूसरा जड और अचेतन। यह भी सोचना उचित नहीं कि ब्रह्म शुद्ध चैतन्य रूप होने से अज्ञान का मूल विरोधी नहीं है, क्योंकि ऐसा कोई ज्ञान नहीं जो अज्ञान विरोधी न हो। निष्कर्ष यह कि ब्रह्म के सहयोग से विश्वप्रपंच का उद्भावक अज्ञान जैसा सार्वभौमिक सिद्धांत द्वैताद्वैत प्रणाली को स्वीकार्य नहीं। अज्ञान जीवात्मा का गुण है जो ब्रह्म से स्वरूपत: भिन्न और उसके सम्पूर्ण रूप के अधीन है। जीव तथा आत्मा उसके शाश्वत अंग हैं, अणुरूप हैं और शक्ति में मर्यादित हैं। कर्म की अनादि शृंखला से बंधे होने के कारण वे स्वाभाविक रूप से ज्ञान दृष्टि से अन्धे हैं।[31]

द्वैत प्रस्थान में निरूपित माया

द्वैत वेदान्त (माध्व वेदान्त) के संस्थापक आचार्य माध्व को शंकर का जन्मजात शत्रु कहा जाता है।[32] आनन्दतीर्थ अथवा पूर्णप्रज्ञ नाम से विख्यात आचार्य माध्व का जन्म दक्षिण कनारा जिले में उदीपी के निकट एक ग्राम में 1197 (अथवा 1199) ई० में हुआ और वह 79 वर्ष की अवस्था तक जीवित रहे। शांकर वेदान्त के अनुयायी अच्युतप्रेक्ष से दीक्षा लेकर माध्व ने अत्यन्त गम्भीर चिन्तन द्वारा द्वैतमत का विकास किया तथा अपने पक्ष को इतने सबल तथा प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया कि अन्ततोगत्वा इनके गुरु भी इन्हीं के पक्षधर हो गये। वह शंकर के इतने विरोधी थे कि उन्होंने इन पर वेदान्त की आड़ में शून्यवादी बौद्ध दर्शन का प्रचार का आरोप लगाया।[33] इस प्रकार हम देखते हैं कि द्वैतवादी सिद्धान्त का विकास शंकर की प्रणाली के

कट्टर विरोध के रूप में हमारे समक्ष आया तथा इसमें पांच महत्त्वपूर्ण भेदों पर बल दिया गया—ईश्वर और जीवात्मा, ईश्वर और प्रकृति, जीवात्मा तथा प्रकृति, एक जीवात्मा तथा अन्य जीवात्मा और प्रकृति का एक तथा अन्य अंश। मध्वरचित ब्रह्मसूत्र पर भाष्य एवं 'अनुव्याख्यान' आदि ग्रन्थों में इन्हीं और तत्त्वमीमांसा सम्बन्धी अन्य बातों की चर्चा तथा विमर्श है। माध्व-प्रणाली में द्रव्य को उपादान कारण माना गया है। एक द्रव्य परिणाम एवं 'अभिव्यक्ति' दोनों दृष्टियों से उपादान कारण होता है। इस प्रकार जगत् तो परिणाम के अधीन है जबकि ईश्वर अथवा जीवों की केवल अभिव्यक्ति हो सकती है, किन्तु उनका कोई परिणामी परिवर्तन नहीं होता। हां, अविद्या के परिणामी परिवर्तन भी होते हैं और वह अभिव्यक्ति का विषय बन सकती है। इस सिद्धांत में प्रकृति को एक द्रव्य माना गया है तथा उसे भौतिक जगत् का उपादान कारण स्वीकार किया गया है। इसे ही यहां माया भी कहा गया है तथा ईश्वर की सहचरी माना गया है। यद्यपि उसे 'दोषयुक्त' 'जड' तथा परिणामी कहा गया है, तथापि ईश्वर के पूर्ण नियन्त्रण में होने के कारण इसे उसकी इच्छा अथवा शक्ति भी कहा जा सकता है—'हरेरिच्छाथवा वलम्'। यह जगत् के लिए सभी बन्धनों का कारण (जगबन्धनात्मिका) होती है।[34]

यहां भ्रम का अर्थ है एक वस्तु को जैसी वह है उससे भिन्न समझना—'अन्यथा विज्ञानम् एव भ्रान्तिः।' 'शुक्ति-रजत अन्यथा विज्ञान अथवा अन्यथाख्याति का सरल उदाहरण है तथा इसमें 'सदसद्विलक्षणत्व' अथवा 'ज्ञाननिवर्त्यत्व' जैसी कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि उसका अस्तित्व ही नहीं है। यहां यह आक्षेप किया जा सकता है कि यदि उसका अस्तित्व नहीं होता तो हमें उसका प्रत्यय (प्रतीति) प्राप्त नहीं हो सकता था। कोई व्यक्ति ऐसी वस्तु का प्रत्यय प्राप्त नहीं कर सकता जिसका अस्तित्व ही न हो। किन्तु शुक्ति-रजत का अपरोक्ष प्रत्यक्षीकरण होता है। इसके उत्तर में द्वैतवादी कहता है कि प्रतिपक्षी भी यह स्वीकार नहीं करता कि ऐसी कोई सहवर्तिता है कि जिस वस्तु का अस्तित्व न हो उसका कोई प्रत्यय प्राप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि जब प्रतिपक्षी किसी वस्तु को 'असत् विलक्षण' अथवा असत् से भिन्न कहता है तो उसमें असत् का प्रत्यय होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु (जैसे घट) को किसी अन्य वस्तु (जैसे पट) से भिन्न ज्ञात करना चाहता है तो इससे पूर्व इस भिन्नता को ज्ञात हो जाना चाहिए कि वह वस्तु क्या है।[35] प्रश्न उठता है कि क्या असत् का ज्ञान प्राप्त करना सभव है ? इसी प्रकार दूसरा प्रश्न उठ सकता है कि क्या मानव के मस्तक पर सींग है ? इस वाक्य से जो अर्थ निकलता है वह किसी सत् सत्ता का है अथवा असत् सत्ता

का ? वह सत् सत्ता का अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि उस अवस्था में हमें वस्तुतः सींग दिखने चाहिए अर्थात् सींग की असत् सत्ता का प्रत्यय होना चाहिए। अतः यह मानना पड़ता है कि हमें असत् सत्ताओं का ज्ञान हो सकता है। यह भी कहना संभव नहीं कि यह सत्ता असत् नहीं अपितु अनिर्वचनीय है, क्योंकि यदि शशभृंग अथवा मानवशृंग जैसी सत्ताओं को भी असत् नहीं कहा जायेगा तो फिर शुक्ति-रजत को किससे भिन्न समझा जाना चाहिए। असत् विलक्षण का कुछ अर्थ स्वीकार करना होगा। इसका अर्थ अनिर्वचनीय नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में शुक्ति-रजत जिसे असत् से विलक्षण कहा जाता है, वर्णनीय हो जायेगी।[36] असत् न केवल ज्ञान का विषय बन सकता है बल्कि वह क्रिया का कर्ता अथवा कर्म भी हो सकता है। जैसे जब यह कहा जाता है कि घट उत्पन्न किया जा रहा है—'घटो जायते' तो इससे असत् घट की सूचना मिलती है जो 'जायते' क्रिया का कर्ता है। अतः चूंकि असत् का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है इसलिए यह आपत्ति स्वीकार नहीं की जा सकती कि शुक्ति-रजत असत् नहीं हो सकती। शांकर वेदान्त के अनुसार भ्रम किसी वस्तु का उस वस्तु में आभास है जो वैसी नहीं है (अतस्मिंस्तद् इति प्रत्यय इति)। इसे हम अन्यथा ख्याति नहीं कह सकते, क्योंकि भ्रम का आधार (शुक्ति) स्वरूप से मिथ्या नहीं है बल्कि अपने रजतमय आभास के रूप में मिथ्या है, अथवा मिथ्या आभास से सम्बन्धित होने के रूप में मिथ्या है। किन्तु मिथ्या आभास स्वरूप में भी मिथ्या है और प्रेक्षक के सम्मुख विषय से सम्बन्धित होने के रूप में भी मिथ्या है। अन्यथा ख्याति के समर्थकों के विचार में शुक्ति एवं रजत दोनों यथार्थ हैं तथा केवल शुक्ति का रजत से और रजत का शुक्ति से तादात्म्याभास मिथ्या है।[37] मिथ्या अथवा असत् का यह आभास अपरोक्ष होता है, जैसा कि अनुभव से ज्ञात होता है, तथा यथार्थ सत्ता से युक्त होता है, अन्यथा उसमें किसी की प्रवृत्ति न होती। जब तक भ्रम का निवारण नहीं हो जाता तब तक असत् रजत् का 'इदम्' के साथ यह साहचर्य प्रेक्षक के सम्मुख यथार्थ रजत के प्रत्यक्षीकरण से किंचिन्मात्र भी भिन्न नहीं होता। शांकर वेदान्ती पुनः कहेंगे कि यह मिथ्या और असत् का साहचर्य नहीं है, जैसाकि माध्ववादी मानते हैं। उनके इस आक्षेप को समझना कठिन है क्योंकि रजत का शुक्ति से ऐसा साहचर्य यथार्थ (सत्) नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता तो वह केवल भ्रम की अवस्था में ही क्यों भासित होता ? 'यह रजत नहीं है' इस वाक्य में जो यह सोचते हैं कि भ्रम की अवस्था में रजत अनिर्वचनीय होती है उनसे यह पूछा जा सकता है कि जो अनिर्वचनीय रूप में भासित होती है उसका स्वरूप क्या है ? क्या वह असत् अथवा मिथ्या के रूप में भासित होती है। ऐसा होता तो कोई भी शुक्ति को

रजत समझकर उसे उठाने का प्रयत्न न करता। अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वह सत् के रूप में भासित होती है। परन्तु उसका अस्तित्व यथार्थ नहीं है, क्योंकि तब वह अनिर्वचनीय नहीं हो सकती। यदि वह असत् है तो स्वीकार करना होगा कि असत् अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) अनुभव में भासित होता है तथा सत् जैसा प्रतीत होता है। इस पर प्रतिपक्षी यह कह सकते हैं कि यह उनकी समझ में परिस्थिति जैसी है उसका सही विश्लेषण नहीं है। उनके मत में शुक्ति में यथार्थ 'इदम्' तथा रजत के साथ उसका संसर्ग उतना ही अनिर्वचनीय है जितनी कि अनिर्वचनीय रजत स्वयं है। अतः रजत के आभास में रजत अनिर्वचनीय है और इसीलिए उसका परस्पर सम्बन्ध भी अनिर्वचनीय है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि उनको अनिर्वचनीय कहने में ठीक-ठीक तात्पर्य क्या है? वह सामान्य अनुभव के अनुरूप नहीं है क्योंकि मिथ्या रजत किसी व्यावहारिक उपयोग की नहीं होती। यदि वह मिथ्या (प्रातिभासिक) है तो क्या वह उसी रूप में भासित होती है अथवा वह ऐसी भासित होती है कि वह व्यावहारिक स्वरूप की हो? यदि वह प्रातिभासिक रूप में अवभासित होती तो किसी को उसे समझने में धोखा न होता। यदि वह व्यावहारिक स्वरूप की होती तो फिर मिथ्या नहीं हो सकती थी। यदि व्यावहारिक स्वरूप न होते हुए भी वह वैसी भासित होती है तो फिर यह मानना पड़ता है कि अपरोक्ष प्रत्यक्षीकरण में 'असत्', 'सत्' के रूप में भासित हो सकता है। यदि व्यावहारिक अनुभव के किसी विषय के रूप में रजत के इस आभास को अनिर्वचनीय मान लिया जाए तो इसके सम्बन्ध में एक के बाद दूसरे प्रश्न उठते ही रहेंगे और इस प्रकार अनवस्था दोष आ जाएगा और किसी स्तर पर कोई समाधान पाना संभव न होगा।[38] अतः हम कह सकते हैं कि मिथ्या एवं असत् भी यथार्थ तथा सत् के रूप में आभासित हो सकता है और जगत्-प्रपंच को अनिर्वचनीय नहीं मानना चाहिए। इसके अतिरिक्त माध्वादी मत में संभावना को भी भ्रम माना जाता है। इसे 'ऊहा' भी कहा जाता है। अर्थात् जहां कई व्यक्ति अथवा वस्तु हों उनमें से एक की ही संभावना अधिक होती है। जैसे बहुत संभव है कि यह वही मनुष्य है जो उद्यान के बाहर खड़ा था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि माध्व तत्त्वमीमांसा में माया को भ्रान्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि चेतना के समक्ष एक प्रमेय पदार्थ अवश्य प्रस्तुत किया जाता है, भले ही हम उसके स्वरूप के विषय में भूल कर बैठें। यह या तो इन्द्रियों के किसी दोष के कारण होता है अथवा ज्ञान के किन्हीं अन्य साधनों के कारण भी हो सकता

है। मिथ्या प्रत्यक्ष ज्ञान के अवयव मिथ्या नहीं होते। वे अनुभूतिजन्य तथ्य हैं। किसी दोषवश हम प्रमेय विषय का पूरा-पूरा ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते, किन्तु हम इसका जो अंश देखते हैं वह स्वरूप में उसके समान वस्तु का स्मरण दिलाता है, यद्यपि उससे भिन्न है। भ्रान्ति की प्रत्येक अवस्था में दो यथार्थ वस्तु-सत्ताओं का संकेत होता है—एक प्रस्तुत वस्तुत का और दूसरा सांकेतिक वस्तु का। संसार की अयथार्थता का आशय यह है कि यथार्थ वस्तु कुछ है अवश्य किन्तु भूल से हम उसे अन्यथा समझ बैठे हैं। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं हो सकता कि यथार्थ वस्तु एकदम कुछ है ही नहीं।

अचिन्त्यभेदाभेद में प्रतिपादित माया

वैष्णव भक्ति आन्दोलनों में महाप्रभु चैतन्य के आन्दोलन का एक विशिष्ट स्थान है। निम्बार्क और वल्लभ के धार्मिक आन्दोलनों को नई दिशा देते हुए चैतन्य ने इसे कट्टरवादिता से मुक्त किया और उदार भूमि पर प्रतिष्ठित किया। फलतः, इनका आन्दोलन अत्यन्त लोकप्रिय हो गया तथा इसने अधिकाधिक लोगों को अपनी ओर आकृष्ट किया यहाँ तक कि कई मुस्लिम भक्त भी इनके आन्दोलन में सम्मिलित हो गये और इनके प्रमुख अनुयायी बन गए। महाप्रभु ने अपनी तो कोई कृति नहीं छोड़ी जिससे इनके दार्शनिक विचारों का पता चल सके किन्तु इनके दो प्रमुख अनुयायी जीव गोस्वामी तथा बलदेव ने इनके मत को दार्शनिक भित्ति पर, प्रतिष्ठित किया। जीव गोस्वामी कृत 'षट्सन्दर्भ' तथा उस पर उन्हीं का अपना भाष्य 'सर्वसंवादिनी' और ब्रह्मसूत्र पर बलदेवकृत 'गोविन्दभाष्य' तथा 'प्रमेय रत्नावली' इस मत के प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं जिनमें चैतन्य के दार्शनिक विचारों को उपनिबद्ध किया गया है। ये दोनों अपनी विचार-प्रणाली में रामानुज और मध्व से भी प्रभावित प्रतीत होते हैं।

ईश्वर, आत्मा, माया, प्रकृति और स्वरूपशक्ति इन पांच तत्त्वों को आधार बनाकर इन्होंने अपनी दार्शनिक प्रणाली विकसित की है जिसे अचिन्त्यभेदाभेद नाम दिया गया है। जीव गोस्वामी (अथवा कविराज गोस्वामी) ने पुरी में वासुदेव सार्वभौम के साथ चैतन्य के विचार-विमर्श का जो विवरण प्रस्तुत किया है उससे महाप्रभु के दार्शनिक विचारों पर प्रकाश पड़ता है और वही वस्तुतः इस मत के विकास का आधार है। उक्त संवाद में इस बात के संकेत हैं कि चैतन्य शंकर की अद्वैतवादी विचारधारा से सहमत नहीं थे और उन्होंने उसका खंडन करने का प्रयास किया था।[39] उनके विचार में ब्रह्म निर्विशेष नहीं हो सकता। उसको निर्विशेष सिद्ध करने का प्रयास विपरीत दिशा में ही ले जायेगा और उसे सर्वशक्तिमान् सिद्ध करेगा। उन्होंने तीन प्रकार की शक्तियां

मानी है—विष्णुशक्ति, क्षेत्रज्ञ शक्ति तथा अविद्या शक्ति। विष्णु शक्ति पर पुनः तीन दृष्टि से विचार किया जा सकता है—ह्लादिनी, संधिनी तथा संवित्। ये तीनों शक्तियां आनन्द सत् एवं चित्, ईश्वर की पराशक्ति (विष्णु-शक्ति) में पुंजीभूत रहती हैं। क्षेत्रज्ञ शक्ति अथवा जीवशक्ति और अविद्या शक्ति (जिसके द्वारा जगदाभासों की सृष्टि होती है) ईश्वर के परा पक्ष में अस्तित्व नहीं रखती। वस्तुतः ब्रह्म सभी 'प्राकृत' गुणों से रहित और अप्राकृत गुणों से परिपूर्ण है। इसी विचार से उपनिषदों में ब्रह्म का निर्गुण (गुणरहित) तथा सर्वशक्तियों से रहित (निःशक्तिक) सत्ता के रूप में वर्णन किया गया है। जीवात्मायें 'माया शक्ति' द्वारा नियन्त्रित रहती हैं किन्तु मायाशक्ति पर स्वयं ईश्वर का नियन्त्रण रहता है और उसके माध्यम से वह जीवात्माओं पर भी नियन्त्रण रखता है। ईश्वर अपनी अचिन्त्य शक्तियों से जगत् की रचना करता है, किन्तु वह स्वयं अपरिवर्तित रहता है। इस प्रकार, चैतन्य के विचार में, जगत् को मिथ्या नहीं कहा जा सकता। हां, एक सृष्टि होने के कारण वह नाशवान् अवश्य है। चैतन्य 'ब्रह्मसूत्र' की शंकरवादी व्याख्या को गलत ठहराते हैं तथा उसे उपनिषदों के आशय के अनुकूल नहीं मानते। चैतन्य के ये विचार अचिन्त्यभेदाभेद, सिद्धान्त की आधारभित्ति का काम करते हैं जिसको दृष्टि में रखकर जीव गोस्वामी ने अपनी तत्त्वमीमांसा-प्रणाली विकसित की तथा जीवन एवं जगत् को लेकर अपने भक्तिपरक विचार प्रस्तुत किए।

इस प्रणाली के अनुसार सत् चित् एवं आनन्द शक्तियों से युक्त परम यथार्थ सत्ता विष्णु है। वह निर्गुण है, इसलिए कि वह प्रकृति के गुणों से रहित है, सगुण है, इसलिए कि उसमें सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिमत्ता आदि गुण विद्यमान है। ये गुण ब्रह्म के स्वरूप को भी अभिव्यक्त करते हैं तथा उसके अन्दर निहित भी है। वही इस विश्व का विकास (उत्पत्ति स्थान) आधार तथा संघटक है और उपादानकारण भी है, निमित्त कारण भी। अपनी उच्चतर (परा) शक्ति के कारण वह इस विश्व का निमित्त कारण है और उपादान कारण अपनी अन्य शक्तियों के कारण है जिनका नाम अपराशक्ति और अविद्या शक्ति है। उसकी पराशक्ति अपरिवर्तनीय है जबकि अपराशक्ति परिवर्तनशील है। ईश्वर का मुख्य स्वरूप प्रेम (प्रीत्यात्मा) और सुख की शक्ति है। अवतार सर्वोपरि ब्रह्म के तादात्म्य सम्बन्ध से हैं अन्य जीवात्माओं की भांति अंश नहीं है। ईश्वर अनन्त रूप धारण करता है जिसमें प्रधान है—कृष्ण रूप, जिसका सर्वश्रेष्ठ सुख प्रेम में है। कृष्ण जब सर्वोपरि शक्ति का रूप धारण करता है तो उसमें चित् माया और जीव की तीन प्रधान शक्तियां

आ जाती हैं। प्रथम शक्ति के द्वारा वह अपने बुद्धि तथा इच्छा के स्वरूप को स्थिर रखता है, दूसरी शक्ति से सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण होता है और तीसरी शक्ति से जीव उत्पन्न होते हैं ? कृष्ण की सर्वोच्च अभिव्यक्ति आह्लाद-शक्ति में है। राधा इस आह्लाददायक शक्ति का सारतत्त्व है। यह विश्व और उसके प्राणी ईश्वर की शक्ति द्वारा ही आविर्भूत हुए हैं। ये न तो ईश्वर के साथ एकत्व ही रखते हैं और न ही उससे भिन्न हैं। एक प्रकार का दुर्बोध भेदाभेद (अचिन्त्य भेदाभेद) ही पदार्थों के विषय में सत्य है। यह जगत् तात्त्विक तथा यथार्थ है, भ्रान्तिमय नहीं। अपने स्वरूप के कारण यह माया कहलाता है क्योंकि मानव-मात्र को वह अपनी ओर आकृष्ट करता है और ईश्वर से दूर रखता है। ईश्वर का सेवक मायाशक्ति के द्वारा जगत् का दास बन जाता है।

आत्मा प्रभु द्वारा नियन्त्रित होने के कारण उससे भिन्न है। ईश्वर विभु है जबकि जीवात्मा अणु आकार का है। जीव गोस्वामी कहते हैं कि ईश्वर की स्वरूपशक्ति अपनी जीवशक्ति को सहारा देती है जो तटस्थ शक्ति भी कहलाती है और उसके द्वारा आत्माओं का निर्माण होता है। यह जीवशक्ति मायाशक्ति को सहारा देती है। इनमें से कोई भी ईश्वर से पृथक् नहीं रह सकती। सृष्टि-रचनाकाल में पराशक्ति प्रलय के ठीक पूर्ववर्ती जगत् के संव्यूहन का स्मरण करती है और अनेक रूप में अभिव्यक्त होने की इच्छा करती है। अर्थात् भोक्तारूप जीवात्माओं तथा योग्य पदार्थों को पृथक् अस्तित्व देती है और वे उसी में विलीन हो जाते हैं। वह महत् तत्त्व के महान् तत्त्व को लेकर नीचे ब्रह्माण्ड और ब्रह्मा तक समस्त जगत् की रचना करती है। तदनन्तर वह वेदों को प्रकट करती है और ठीक उसी व्यवस्था के अनुसार जैसे कि वे पूर्व सृष्टि में थे और पुनः उन्हें ब्रह्मा के अन्दर संक्रमित करती है जो सृष्टि-रचना की अवस्थितियों का कर्ता है। वेदों की सहायता से ब्रह्मा मूलादर्श-सम्बन्धी आकृतियों को स्मरण करता है और वैसे ही पदार्थों की रचना करता है जैसे वे पूर्वसृष्टि में थे। रामानुज आत्माओं तथा प्रकृति को ईश्वर के विशेषण मानते हैं, जबकि जीव गोस्वामी तथा बलदेव उनको ईश्वर की शक्ति के व्यक्त रूप मानते हैं। ये दोनों जड प्रकृति को ईश्वर का विशेषण मानने के पक्ष में नहीं है क्योंकि इसके कारण ईश्वर के स्वरूप में एक प्रकार की विषमता आ सकती है। इस प्रकार जीव गोस्वामी प्रकृति को ईश्वर की बाह्यशक्ति मानते हैं जो प्रत्यक्ष रूप से उससे सम्बद्ध रहती है, यद्यपि उसी के अधीन रहती है। बलदेव माया तथा प्रकृति को एक ही मानते हैं जिसमें ईश्वर के ईक्षण मात्र से गति आ जाती है। जीवात्मायें मायाशक्ति के द्वारा संसार के बन्धनों से जकड़ी जाती हैं, परिणामतः वे अपने स्वरूप को भूल बैठती हैं। किन्तु यदि

हमारे अन्दर भक्ति हो तो कर्म की शक्ति पर विजय प्राप्त की जा सकती है।[40]

स्वरूपशक्ति एवं मायाशक्ति दोनों परस्पर विरुद्ध होती हैं तथापि वे दोनों ईश्वर में ही अन्तर्निहित होती हैं।[41] ईश्वर की शक्ति एक साथ ही स्वाभाविक और 'अचिन्त्य' होती है। साधारण जगत् में भी वस्तुओं की शक्तियां अचिन्त्य होती हैं, अर्थात् न तो उनका वस्तुओं के स्वरूप से निगमन किया जा सकता है और न उनका साक्षात् प्रत्यक्ष ही किया जा सकता है, किन्तु उनको मानना पड़ता है क्योंकि इसके बिना कार्य की व्याख्या सम्भव नहीं होगी। अचिन्त्य शब्द का एक अर्थ यह भी है कि यह कहना कठिन है कि शक्ति और द्रव्य एक ही पदार्थ है अथवा भिन्न-भिन्न। एक ओर तो शक्ति को द्रव्य से बाह्य नहीं माना जा सकता दूसरे यदि वह उससे अभिन्न होती तो कोई परिवर्तन, कोई गति, कोई कार्य नहीं हो सकता था। द्रव्य का प्रत्यक्ष हो सकता है, शक्ति का नहीं। किन्तु, चूंकि एक कार्य अथवा एक परिवर्तन उत्पन्न होता है अतः उपपत्ति यह होती है कि द्रव्य ने अपनी शक्ति अथवा शक्तियों से कार्य किया होगा। इस प्रकार द्रव्य में स्थित शक्तियों के अस्तित्व को तर्क द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता, किन्तु एक उपपत्ति के रूप में स्वीकार किया जाता है।[42] अचिन्त्यत्व को प्रत्यक्षतः विरुद्ध प्रत्ययों का सामंजस्य करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। 'अन्तरंग स्वरूपशक्ति' ब्रह्म के स्वरूप तथा वैकुण्ठ आदि नामों से सूचित उसकी विविध अभिव्यक्तियों के रूप में भी स्थित रहती है। द्वितीय शक्ति का प्रतिनिधित्व जीवात्मा में करती हैं। तृतीय शक्ति (बहिरंग माया शक्ति) का प्रतिनिधित्व सर्व ब्रह्माण्डीय पदार्थों के विकासक्रम एवं उनकी 'मूलप्रधान' के द्वारा किया जाता है। यहां सूर्य, उसकी किरणें और परावर्तन के फलस्वरूप अभिव्यक्त विभिन्न रंगों के सादृश्य को प्रस्तुत किया जाता है। माया की बाह्य शक्ति जीवों को प्रभावित कर सकती है, किन्तु ब्रह्म को नहीं।

'जीव' शरीर को ज्ञात कर सकते हैं, किन्तु परम तत्व एवं सभी पदार्थों के चरम द्रष्टा को ज्ञात करने का सामर्थ्य उनमें नहीं है। माया के द्वारा विभिन्न वस्तुयें एक आभासी स्वतन्त्र अस्तित्व प्राप्त करती हैं और जीवों के द्वारा ज्ञात की जाती हैं, किन्तु ब्रह्म का यथार्थ एवं अनिवार्य रूप सभी वस्तुओं में सदैव एक जैसा रहता है चूंकि उस अवस्था में कोई द्वैत नहीं होता, इसलिए कुछ भी ज्ञेय नहीं होता और न ही उससे पृथक् कोई रूप होता है। जो परम तत्व सभी पदार्थों को अभिव्यक्त करता है वह अपने आपको भी अभिव्यक्त करता है। वह्नि की उष्ण रश्मियां जो अपना अस्तित्व वह्नि से प्राप्त करती हैं वे स्वयं वह्नि को नहीं जला सकतीं।[43] गुण (सत्त्व, रजस् व तमस्) जीव में स्थित

रहते हैं, न कि ब्रह्म में, अतः जब तक जीव माया की शक्ति से अज्ञान में रहते हैं तब तक द्वैत का आभास होता है, जो ज्ञाता एवं ज्ञेय के आभास को भी उत्पन्न करता है। पुनः माया के दो रूप माने गये हैं—गुण माया, जो जडात्मिका होती है और आत्ममाया, जो ईश्वर की शक्ति होती है। आत्ममाया ईश्वर की स्वरूपशक्ति होती है।[44] जब माया का प्रयोग आत्ममाया अथवा स्वयं परमेश्वर की 'माया' के रूप में किया जाता है तो उसके तीन अर्थ होते हैं अर्थात् उसकी स्वरूपशक्ति, ज्ञान व क्रिया से समाविष्ट उसकी इच्छा तथा चैतन्य के रूप में उसकी शक्ति का विलास (चिच्छक्तिविलास)[45]। वैकुंठ में कोई माया नहीं होती, क्योंकि वह स्वयं 'माया' अथवा 'स्वरूपशक्ति' के रूप का होता है, इस प्रकार वैकुंठ मोक्ष का समरूप होता है अर्थात् दोनों में कोई भेद नहीं होता।

जीव गोस्वामी इस सामान्य वेदान्त मत को स्वीकार नहीं करते कि ब्रह्म शुद्ध चैतन्य है तथा पदार्थों (विषय, माया अथवा अज्ञान) का आश्रय है। वह माया और ब्रह्म के सम्बन्ध को अनुभव से परे एवं तर्कातीत मानते हैं। जिस प्रकार एक औषधि विशेष में विभिन्न एवं विरोधी तत्व विद्यमान होते हैं उसी प्रकार आभासों को उत्पन्न करने वाली शक्तियां परमेश्वर में स्थित होती हैं, उनके साहचर्य का रूप सर्वथा अव्याख्येय एवं अचिन्त्य हो सकता है। द्वैत का आभास ब्रह्म में 'अज्ञान' की उपस्थिति के कारण नहीं, अपितु उसकी अचिन्त्य शक्तियों के कारण होता है। जगत् के द्वैत का परम अद्वैत से सामंजस्य परमेश्वर की अनुभवातीत शक्तियों के अस्तित्व की मान्यता के आधार पर ही किया जा सकता है। इस प्रकार इस प्रणाली में माया को परमात्मा की शक्ति के रूप में निरूपित किया गया है। इसका प्रयोग विभिन्न सन्दर्भों में विभिन्न अर्थों में किया जाता है। कहीं उसे परमेश्वर की बाह्य शक्ति माना गया है कहीं स्वरूप-शक्ति तथा कहीं उसे प्रधान के अर्थ में व्यवहृत किया गया है। साथ ही परमेश्वर के साथ उसके साहचर्य को अपरिभाषेय अथवा अचिन्त्य माना गया है। कुछ भी हो, विश्वरचना तथा विश्वबोध की दृष्टि से इसकी भूमिका इस सिद्धान्त में भी अनिवार्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्वैत, अद्वैत तथा द्वैताद्वैत वेदान्त के सभी प्रमुख प्रस्थानों में माया अथवा मायावादी तत्वों की परिकल्पना की गई है तथा उसकी विश्वप्रक्रिया अथवा विश्वरचनाबोध के सन्दर्भ में एक अनिवार्य भूमिका स्वीकार की गई है। किन्तु यह विवेचन तब तक पूर्ण नहीं माना जायगा जब तक हम विभिन्न प्रस्थानों की मायावादी धारणा पर एक तुलनात्मक दृष्टि से विचार न कर लें और इस बात की परीक्षा न कर लें कि इनमें परस्पर कहां

तक साम्य और कहां तक वैषम्य है। अतः नीचे की पंक्तियों में हम इसी पहलू पर विचार करेंगे।

अद्वैत एवं अद्वैतेतर प्रस्थानों में मायाविषयक साम्य एवं वैषम्य

शांकर एवं शांकरोत्तर वेदान्त-चिन्तन का सिंहावलोकन करने के पश्चात् यह धारणा दृढ़ हो जाती है कि शंकर ने जगत् की रचना एवं विकास को लेकर जो अवधारणायें विकसित कीं उन पर आगे चलकर एक बहुत बड़ा प्रश्न चिह्न लगा गया। यहां तक कि उनके अपने अनुयायी भी उनके अधिकांश निष्कर्षों से सहमत नहीं हुए और उनके द्वारा उठाये गए अनेक मुद्दों पर एक लम्बी पड़ताल शुरू हुई। इसी का परिणाम था कि रामानुज से लेकर चैतन्य तक वेदान्त तत्त्वचिन्तन कई आयामों से गुजरा तथा अनेक दार्शनिक प्रणालियां और सम्प्रदाय अस्तित्व में आये। इनमें जगत् की सर्जक-शक्ति को लेकर तो बहुत कुछ सहमति थी किन्तु उसके स्वरूप तथा सृष्टि प्रक्रिया के सम्बन्ध में अनेक मतभेद उठ खड़े हुए और अनवरत चलते रहे। विशेष रूप में जगत् के सम्बन्ध में, मिथ्यात्व की कल्पना एवं माया की अनिर्वचनीयता के सिद्धान्त ने शंकर को अत्यन्त विवादास्पद बना दिया और उनके अनुयायियों को बहुत बड़ी चुनौती स्वीकार करनी पड़ी।

रामानुज शंकर के मायावाद तथा जगत् के मिथ्यात्व का विरोध करते हुए कहते हैं कि यदि जगत् में विद्यमान भेद मनुष्य के अपने मन की अपूर्णता के कारण है तो फिर ईश्वर की दृष्टि में इस प्रकार का कोई भेद नहीं होना चाहिए। किन्तु धर्मशास्त्र का निर्देश है कि ईश्वर संसार की रचना करता है और भिन्न-भिन्न आत्माओं को उनके कर्म के अनुसार फल देता है। इस प्रकार धर्मशास्त्र का संकेत है कि ईश्वर संसार के अन्दर वर्तमान भेदों को स्वीकार करता है। इसी प्रकार यह कहना, कि अनेकत्व मृगतृष्णिका की भांति मिथ्या है, युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। मृगतृष्णिका तो इसलिए मिथ्या है कि उसके द्वारा प्रेरित हमारी क्रियायें निष्फल होती हैं किन्तु संसार को प्रत्यक्ष करके हम जो क्रियायें करते हैं वे निष्फल नहीं होतीं। शंकरवादियों द्वारा यह कहना, कि जगत् की यथार्थता, जो प्रत्यक्ष द्वारा प्रमाणित होती है, शास्त्र के प्रमाण से अन्यथा सिद्ध हो जाती है, भी तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, क्योंकि प्रत्यक्ष तथा शास्त्र के क्षेत्र एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं और इसलिए वे एक दूसरे के विरोधी नहीं हो सकते।[46] समस्त ज्ञान पदार्थों को प्रकाश में लाना (अर्थ प्रकाश) है। यह कहना कि पदार्थों का अस्तित्व नहीं है, केवल इसलिए कि वे स्थिर नहीं रहते, बड़ी विचित्र बात है। इस तर्क में एक विरोधाभास है,

जो विरोधी तथा परस्पर भिन्न पदार्थों है भेद न करने के कारण उत्पन्न हुआ है। भेद के कारण किसी पदार्थ का निषेध नहीं किया जा सकता तया जहां पर दो प्रकार के ज्ञान परस्पर विरोधी हों वहां दोनों ही यथार्थ नहीं हो सकते। किन्तु घडे, कपड़े के टुकड़े आदि एक दूसरे के विरोधी इसलिए नहीं हैं कि देश तथा काल के भेद से वे अलग-अलग हैं। यदि किसी पदार्थ का अभाव एक ही समय तथा एक ही स्थान में ज्ञान का विषय बना जहां और जिस समय उसका अस्तित्व भी देखा गया तो यहां दो ज्ञानों का विरोध मिलता है। किन्तु जब किसी पदार्थ का जो किसी देश, काल में देखा गया है किसी अन्य स्थान तथा अन्य काल में अभाव देखा जाये तो कोई विरोध नहीं उत्पन्न होता।[47] रस्सी को भूल से सांप समझ लेने के दृष्टान्त में अभाव का बोध पूर्व से निर्धारित स्थान और समय के सम्बन्ध में उत्पन्न होता है। इस प्रकार वहां विरोध है। किन्तु यदि एक समय में देखा गया कोई पदार्थ अन्य समय अथवा अन्य स्थान में नहीं रहता तो हमें तुरन्त यह निष्कर्ष निकाल लेना चाहिए कि वह पदार्थ मिथ्या है। शंकर और रामानुज दोनों ही सारूप्य के तर्क पर बल देते हैं। रामानुज केवल इतना कहते हैं कि यथार्थ-सारूप्य परस्पर भेद तथा निश्चित रूप को उपलक्षित करता है यद्यपि यह परस्पर विरोध तथा निषेध का उपलक्षण नहीं है।

निम्बार्क का यह सुदृढ़ मत है कि विश्व की उपेक्षा केवल भ्रान्ति मात्र कह कर नहीं की जा सकती क्योंकि जो कुछ ईश्वर के स्वरूप में सूक्ष्म रूप से विद्यमान है उसी का यह विश्व अभिव्यक्त रूप (परिणाम) है। निम्बार्क शंकर द्वारा प्रतिपादित विवर्तवाद के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहते हैं कि यदि संसार यथार्थ न होता तो इसे दूसरे के ऊपर अध्यस्त नहीं किया जा सकता था। मध्व तो शंकर के सिद्धान्त का कदम-कदम पर विरोध करते हैं। वे अपना आधार अनुभव अथवा ज्ञान को मानते हैं। उनका तर्क है कि ज्ञाता तथा ज्ञात के बिना कोई ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। ज्ञान के कर्ता अथवा ज्ञात प्रमेय पदार्थ के बिना ज्ञान के विषय में कुछ भी कहने का कोई अर्थ नहीं। जानने वाला प्रमाता तथा ज्ञात प्रमेयों का अस्तित्त्व आवश्यक है। यहां संसार अयथार्थ किसी भी हालत में नहीं है। यदि हम पदार्थों के बीच भेद को स्वीकार नहीं करते तो हम विचारों में परस्पर भेद की व्याख्या भी नहीं कर सकते। हमारा ज्ञान हमें बतलाता है कि भेद विद्यमान है। हम उसे केवल मात्र औपचारिक नहीं मान सकते, क्योंकि औपचारिकता भेद उत्पन्न नहीं करती। चैतन्य के मत में भी यह जगत् तात्त्विक तथा यथार्थ है भ्रान्तिमय

नहीं है। इसके स्वरूप के कारण इसे माया कहा जाता है, क्योंकि यह मनुष्यों को अपनी ओर आकृष्ट करता है और ईश्वर से दूर रखता है।

इसी प्रकार शंकर के 'अनिर्वचनीयत्व सिद्धान्त का निराकरण करते हुए निम्बार्कवादी आचार्य अनन्तराम कहते हैं कि शंकरवादी माया को अनिर्वचनीय कहते हैं। अनिर्वचनीय का अर्थ वे यह लेते हैं कि जो प्रत्यक्ष में दीखे किन्तु अन्ततः वाधित हो जाता हो। माया की घटनाएं अनुभव में भासमान होती हैं और इसलिए उसे अस्तित्वयुक्त मान्य है। वह वाधित हो सकती है इसलिए उसे असत माना गया है। माया में यह सत्-असत् का जो एकत्व है वही उसकी अनिर्वाचनीयता है किन्तु बाध होना अभाव का अर्थ रखता है। घड़ा दंड के प्रहार से नष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार एक ज्ञान दूसरे ज्ञान को नष्ट कर सकता है। दंड के प्रहार से घड़े का टूटना इस विचार का सूचक नहीं है कि घड़ा असत् था। अतएव पूर्वज्ञान का परवर्ती ज्ञान से वाध पहले मिथ्यात्व या अनस्तित्व सिद्ध नहीं करता। सभी ज्ञान अपने में सत्य हैं जो कि उनमें से एक दूसरे को नष्ट कर सकते हैं। निम्बार्क मतावलम्बी इसे ही सत्ख्यातिवाद कहते हैं। उनके अनुसार सत्ख्यातिवाद का अभिप्राय है कि सभी ज्ञान किसी सत्पदार्थ से उत्पन्न होते हैं जिन्हें उनका कारण मानना चाहिए (सद्हेतुका ख्यातिः सत्ख्यातिः)। अतः इस मत के अनुसार मिथ्या ज्ञान का मूलकारण कोई अस्तित्ववान् पदार्थ होना चाहिए। माध्ववादी अनिर्वचनीयता का निरास करते हुए कहते हैं कि यह मत सही नहीं है कि शुक्ति-रजत अनिर्वचनीय है, क्योंकि इसका अभिप्राय यह होगा कि वह न सत् है, न असत् है और न सदसत है। इनमें से प्रथम तथा अन्तिम विकल्पों को तो माध्ववादी भी स्वीकार कर लेते हैं। दूसरा विकल्प इसलिए सही नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसे अस्वीकार करना कठिन है कि असत् रजत का हमारे समक्ष उपस्थित होने का आभास हुआ था। इसका यह उत्तर दिया जा सकता है कि उक्त आभास दोषों की उपस्थिति के कारण हुआ था, क्योंकि जो असत् था वह ज्ञान का विषय नहीं बन सकता था, तथा जैसा कि शंकरवादी जानते हैं कि अधिष्ठान का ज्ञान एक सत्य अन्तःकरणवृत्ति है तो फिर कोई दोष कैसे उत्पन्न हो सकता है ?[48] यदि यह अनिर्वचनीय है तो फिर शुक्ति-रजत प्रत्यक्षीकरण के समय सत् और उसके पश्चात् असत् क्यों भासित होता है, तथा वह किसी भी काल में अनिर्वचनीय भासित क्यों नहीं होता ? इसके अतिरिक्त शंकरवादी के लिए इस बात की व्याख्या करना कठिन हो जायेगा कि असत् क्या है।

शांकर वेदान्त जगत् की व्याख्या के सन्दर्भ में तीन प्रकार की सत्तायें स्वीकार करता है—पारमार्थिक, व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक। जैसा कि पहले

कहा जा चुका है कि व्यावहारिक सत्ता ही माया का दूसरा रूप है और इसी के माध्यम से शांकरवेदान्त आनुभविक जगत् की व्याख्या करता है। जगदाभास की यह व्यावहारिक सत्ता न तो सत् है और न असत्। श्रुतियां इसे मिथ्या कहती हैं, क्योंकि यह सत् नहीं है और फिर भी चूंकि यह पूर्णतः असत् नहीं है अतः उसके अन्तर्गत पाये जाने वाले प्रमाणादि स्वयं उसके मिथ्यात्व तथा परमसत्ता के निरपेक्ष सत् स्वरूप को सिद्ध कर सकते हैं।[48] माध्यवादी कहता है कि यह मान्यता युक्तिसंगत तब मानी जा सकती थी जब यह सिद्ध हो सकता कि जगत्-प्रपंच न तो सत् है न ही असत्। किन्तु ऐसा करना संभव नहीं है, क्योंकि 'असत्' 'सत्' के अभाव के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। अत: जो सत् से भिन्न है वह असत् होना चाहिए और जो असत् से भिन्न है वह सत् होना चाहिए। यहां कोई मध्यम मार्ग नहीं चल सकता। श्रुतियां भी यह नहीं कहतीं कि जगत्प्रपंच का ऐसा स्वरूप है जो सत् एवं असत् से भिन्न (सदसद्-विलक्षण) हो।

शंकर के मायावाद पर पुनः प्रहार करते हुए विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं कि शंकर के अनुसार अविद्या और माया दो भिन्न-भिन्न प्रत्यय हैं। माया दूसरों को भ्रम में डालती है और अविद्या अपने को। शंकरमतानुयायी माया का अनेक अर्थों में प्रयोग करते हैं किन्तु उनका कोई अर्थ सन्तुष्ट नहीं करता। यदि ऐसा माना जाये कि माया में यह विलक्षणता है कि वह अपने भिन्न रूप दूसरों पर प्रकट करती है और उन्हें मोहित करती है तो इसे अविद्या से पृथक् करना कठिन हो जाता है। यदि यह माना जाये कि अविद्या का प्रयोग भ्रम उत्पन्न करने वाले कर्ता के संकुचित अर्थ में किया जाता है, जैसे रजत-शुक्ति दृष्टान्त में, तो माया को भी अविद्या कहा जा सकता है क्योंकि वह भी जगत्प्रपंच का प्रत्यक्ष कराती है। इसका कोई भी कारण नहीं है कि रजत-शुक्ति-भ्रम के कारण को अविद्या क्यों कहा जाये और ऐसे भ्रम को सापेक्ष रूप से बाधित करने वाले यथार्थ ज्ञान को क्यों न कहा जाए। ईश्वर को भी अविद्याग्रस्त कहा जा सकता है, क्योंकि सर्वज्ञ होने के नाते उसे सभी जीवों का ज्ञान रहता है जिसके अन्तर्गत मिथ्या ज्ञान भी आता है। यदि यह माना जाये कि माया और अविद्या में यह भेद है कि अविद्या भ्रममय अनुभवों को उत्पन्न कर अनुभव करने वालों के हितों को हानि पहुंचाती है, जबकि ब्रह्म जो इन जीवों को और उनके अनुभवों को अपनी माया-दृष्टि से देखता है जो उसके हित को उन्नति नहीं पहुंचाती है, तो इसका उत्तर यह होगा कि यदि माया किसी के हितों को हानि नहीं पहुंचाती तो उसे दोष नहीं कहा जा सकता। यहां इस पर शंकरवादी कह सकता है कि दोष का हानिकारक एवं लाभप्रद फलों से कोई सम्बन्ध नहीं

है। उसका सम्बन्ध तो केवल सत्य और मिथ्या से है। किन्तु यह मत भी स्वीकार्य नहीं क्योंकि मिथ्या और सत्य का उपयोग की दृष्टि से महत्त्व है। ऐसा न होता तो कोई मिथ्या के निवारण का प्रयत्न क्यों करता ? यदि माया को नित्य और सत् मान लें तो हमें द्वैतवाद मानने को विवश होना पड़ेगा। यदि माया को ब्रह्म के अन्तर्गत मान लिया जाये तो ब्रह्म के प्रकाशमय होने के कारण माया की जगत् को उत्पन्न करने की शक्ति भी समाप्त हो जायेगी। इसके अतिरिक्त माया को नित्य मानने से उसका मिथ्यात्व खत्म हो जायेगा। इस प्रकार यदि जीव और ब्रह्म एक ही हैं तो जीवगत अज्ञान ब्रह्म में नहीं आयेगा ऐसा मानना तर्क-संगत न होगा। पुनः जीव और ब्रह्म यदि सचमुच भिन्न हैं तो उनके तादत्म्य का बोध कैसे हो सकेगा। इस प्रकार माया तथा अविद्या को एक दूसरे से भिन्न नहीं समझा जा सकता; जैसाकि शंकरवादी मानते हैं।

इस प्रकार निम्बार्कवादी शंकर द्वारा प्रतिपादित मायावाद के अन्य पहलुओं पर भी असहमति व्यक्त करते हैं। शंकर की मान्यता है कि भ्रम के अधिष्ठान का अपूर्ण या खण्ड ज्ञान होता है। भ्रम में अज्ञान पर विशिष्ट आभासों का अध्यास होता है। वृक्ष के स्थाणु अंश में एक लम्बी वस्तु का आभास होता है किन्तु उसका अन्य भाग इन्द्रियगोचर नहीं होता। केवल इसी भाग के सम्बन्ध में भ्रम का आरोपण अर्थात् मनुष्य का आरोपण होता है। किन्तु ब्रह्म अखण्ड है अतः उसमें विभागों की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः ब्रह्म का पूर्ण रूप से ही ज्ञान होना चाहिए जहां भ्रम का कोई स्थान नहीं रहता। पुनः यह कहना कि ब्रह्म अधिष्ठान होने के कारण मिथ्या नहीं हो सकता, तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि यद्यपि अधिष्ठान भ्रम का मूल है, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि अधिष्ठान सत्य होना चाहिए। यह आक्षेप भी व्यर्थ है कि अधिष्ठान की स्वतंत्र सत्ता है क्योंकि वही अज्ञान से सम्बन्धित है जो भ्रम का आधार बन सकता है। परम्परागत क्रम में जहाँ प्रत्येक अवस्था अविद्या से सम्बन्धित है वहां अधिष्ठान भी असत् हो सकता है। इसके अतिरिक्त यदि अविद्या और उसके प्रकार सर्वथा असत् हैं तो उन पर आरोपण नहीं हो सकता। जो वस्तुतः अस्तित्ववान् है उसी का अध्यारोपण हो सकता है, किन्तु जिसका कोई अस्तित्व ही नहीं उसका अध्यारोपण किस प्रकार हो सकता है ? शशविषाण जैसी तुच्छ वस्तु कभी अध्यास का आश्रय नहीं बन सकती, क्योंकि जो सर्वथा असत् है वह हमारी कल्पना में ही नहीं आ सकता।

इसी प्रकार मध्व एवं चैतन्य के अनुयायियों ने भी शंकर द्वारा प्रतिपादित

माया के स्वरूप एवं प्रक्रिया को लेकर प्रबल विरोध किया तथा उसके विभिन्न पक्षों का सशक्त शब्दों में खंडन किया। मध्व तथा उनके अनुयायियों ने तो शंकर की प्रणाली पर प्रबलतम प्रहार किये। मध्व का आविर्भाव उस समय हुआ जब वाचस्पति, प्रकाशात्मा, सुरेश्वर तथा शंकर के अन्य प्रमुख व्याख्याता उनके सिद्धान्त के समर्थन में अपने पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों की रचना कर चुके थे। मध्व, जयतीर्थ तथा व्यासतीर्थ आदि मध्वमतानुयायियों ने जगत् के मिथ्यात्व के पक्ष में दी गई अद्वैतवादी युक्तियों का खण्डन करने का भरसक प्रयत्न किया तथा जगत् की यथार्थता एवं अनेकता जीवात्मा तथा ब्रह्म के भेद और ब्रह्म के सगुणत्व को स्थापित करने का पूर्ण प्रयास किया। उन पर शांकर मत के अनुयायियों द्वारा फिर से आक्रमण किया गया और फलतः इन दो महत्त्वपूर्ण विचारधाराओं में परस्पर आक्रमण एवं प्रत्याक्रमण की एक लम्बी प्रक्रिया चल पड़ी। यहां पर यह कुतूहल हो सकता है कि मध्व और रामानुज के सम्प्रदायों का सम्बन्ध कैसा था और उनमें कहां तक सहमति एवं असहमति थी। स्वयं मध्व तो ऐसा कोई संकेत नहीं देते जिससे कि रामानुज के विरुद्ध आक्रमण समझा जा सके। किन्तु उनके कुछ परवर्ती अनुयायियों ने विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के खण्डन का प्रयास किया तथा उसका उन्हें उत्तर भी मिला। सोलहवीं शताब्दी में रामानुज के अनुयायी परकालयति द्वारा रचित 'विजयीन्द्र पराजय' नामक ग्रन्थ इस बात का प्रमाण है। इसमें माध्व प्रणाली के प्रमुखतम सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है।[50]

इसी प्रकार अन्य दर्शन-प्रणालियों में भी परस्पर बहुत अधिक विरोध नहीं था। उनका बस एकमात्र लक्ष्य शांकर-वेदान्त था। विशेष रूप से वे उसकी जगत् के मिथ्यात्व सम्बन्धी कल्पना तथा माया की अनिर्वाच्यता के सिद्धान्त से असहमत थे तथा उसकी अव्यावहारिकता पर उन्होंने तीखे प्रहार किये। किन्तु आश्चर्य यह है कि शंकर के प्रति विरोध का स्वर जितना अधिक तीव्र हुआ उनके सिद्धान्त को उतनी ही अधिक लोकप्रियता मिली और आज भी शांकराद्वैत प्रणाली संभवतः सर्वाधिक प्रतिष्ठित लोकप्रिय प्रणाली है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियां

1. विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः।
स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता॥
इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः।
कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः।

भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे।
देवस्यैष स्वभावो यमाप्तकामस्य का स्पृहा ॥ गौ० का० 1 : 7-9

2. ईश्वरस्यात्मभूते इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्याम् अनिर्वचनीये संसारप्रपंचबीजभूते...ईश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते। शां० भा० 2 : 1, 14

3. अतश्च कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्म कार्यत्वात् तदनन्यत्वात्
शां० भा० 2 : 1, 20

4. न हि सदसतोः सम्बन्ध : मांडूक्योपनिषद्, शां० भा० 2 : 7

5. कार्यम् आकाशादिकं बहुप्रपंचं जगत् कारणं परं ब्रह्म, तस्मात् कारणात् परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः कार्यस्यावगम्यते।
शां० भा० 2 : 1, 14

6. श्वेता० उपनि० 6 : 19

7. ब्रैडले : अपीएरेन्स ऐण्ड रियलिटी, पृ० 204, 413

8. डॉ० राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, 2, पृ० 567-68

9. मायामात्रं ह्येतद् यत् परमात्मनोऽवस्था त्रयात्मनावभासनं रज्जवेव सर्पादि भावेन। शां० भा० 2 : 1, 9

10. शां० भा०, 2 : 1, 28

11. परिणामो नाम उपादानसमसत्ताकार्यापत्तिः, विवर्तो नाम उपादानविषमसत्ताक कार्यापत्तिः। वेदान्त परिभाषा, 1

12. नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका।
सदसद्भ्याम् अनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी ॥
(सूर्यपुराण, सांख्यप्रवचन भाष्य, 1 : 26 में उद्धृत)

13. शां० भा० 1 : 4, 3

14. अप्रमाणं शुद्धमेकं समभवद् अथ तन्मायया कर्तृसंज्ञम्।
शतश्लोकी, पृ० 24

15. निस्तत्त्वा कार्यगम्यास्य शक्तिर्मायाग्निशक्तिवत्। पंचदशी

16. ईश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिः। शां० भा० 2 : 1, 14

17. अविद्यात्मिका हि सा बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या तदेतद् अव्यक्तं क्वचिद् आकाश शब्दनिर्दिष्टं क्वचिद् अक्षरशब्दोदितं क्वचित्मायेति सूचितम्। शां० भा० 1 : 4, 3

18. श्वेता० उपनि० 4-10

19 जन्माद्यस्य यतः

20. अविद्यासहित ब्रह्मोपादानं जगत् ब्रह्मण्येवास्ति तत्रैव च लीयते ।
वाचस्पति मिश्र, भामती 1 : 1.2
21. न हि नानाविध कार्य—क्रियावेशात्मकत्वं तत्प्रसवशक्तयात्मकत्वं वा जिज्ञास्य-विशुद्ध ब्रह्मान्तर्गतम् भवितुं अर्हति । पं० वि०, पृ० 205
22. सृष्टेश्च स्वोपाधौ अभावतयावृतत्वात् सर्वे च सोपाधिकधर्माः स्वाश्रयोपाधौ अवाध्यतया सत्या भवन्ति सृष्टिरपि स्वरूपेण न वाध्यते किन्तु परमार्था सत्यत्वांशेन । पं० वि०, पृ० 206
23. वही, पृ० 212
24. सर्वज्ञात्मा मुनि सं० शा० 1 : 332, 334
25. उपादानव्यतिरेकेण कार्यस्य अनिरूपणात् अद्वितीयता ।
26. वही, पृ० 232 पं० वि०, पृ० 221
27. शां० भा० 115
28. श्री भाष्य, पृ० 444, 454 (बम्बई संस्करण)
29. रूथ रीना, द कॉन्सेप्ट आफ माया फ्रॉम द वेदाज टू द ट्वेंटियथ सेन्चुरी, पृ० 22
30. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन 2, पृ० 753
31. परमात्मभिन्नोऽन्यशक्तिस्तदभिन्नः सनातनस्तदंशभूतोऽनादि कर्मात्मिका विद्यावृत धर्मभूताज्ञानो जीव क्षेत्रज्ञादि शब्दाभिधेयस्तत्प्रत्ययाश्रय इति । वे० त० बो०, पृ० 12
32. जिस प्रकार हेगेल को मिस्टिसिज्म का जन्मजात शत्रु कहा जाता है, उसी प्रकार मध्वाचार्य को शंकर का जन्मजात शत्रु कहा जा सकता है ।
चक्रधर शर्मा, ए क्रिटिकल सर्वे आफ इण्डियन फिलॉसफी, पृ० 372
33. यच्छून्यवादिनः शून्यं तदेव ब्रह्मवादिनः । तत्त्वोद्योत, पृ० 245
34. भागवत् तात्पर्य
35. यो यत् विलक्षण प्रत्येति स तत् प्रतीतिमान् यथा घट विलक्षणः पट इति प्रतीतिमान् देवदत्तो घट प्रतीतिमान् इत्यनुमानात्
न्यायसुधा, पृ० 57
36. निरूपाख्याद् इति चेत् तर्हि तद्वैलक्षण्यं नाम सोपाख्यानत्वम् एव ।
वही, पृ० 58
37. अन्यथाख्यातिवादिभिरधिष्ठानारोप्योरुभयोरपि संसृष्टरूपेणैव असत्त्वं स्वरूपेण तु सत्त्वम् इत्यंगीकृतम् । न्यायसुधा, पृ० 58
38. न्यायसुधा, पृ० 59

39. डॉ० सुना० दासगुप्त, भा०द०इ० 4, पृ० 394
40. रूपकृत 'उज्ज्वल नीलमणि' में भक्ति का निरूपण किया गया है उससे इसके इसी स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है।
41. ते च स्वरूपशक्ति मायाशक्ति परस्परविरुद्धे तथा तयोर्वृत्तयः···एवं परस्परविरुद्धा अपि बह्वयः तथापि तासामेकं निधानं तदेव।
षट्सन्दर्भ, पृ० 59
42. लोके हि सर्वेषां मणिमन्त्रादीनां शक्तयः अचिन्त्यज्ञानगोचराः अचिन्त्यं यज्ज्ञानं कार्यान्यिथानुपयान्ति प्रमाणकं तस्य गोचराः सन्ति।
षट्सन्दर्भ, पृ० 63-64
43. षट्सन्दर्भ, पृ० 71
44. मीयते अनया इति माया शब्देन शक्तिमात्रमपि भण्यते, वही, पृ० 71
45. वही, पृ० 73-74
46. आकाशशय्यादिभूता······पदार्थग्राहिप्रत्यक्षम् ; शास्त्रं तु प्रत्यक्षाद्य-परिच्छेद्य सर्वान्तरात्मत्वसत्यत्वाद्यनन्त विशेषण विशिष्टब्रह्मस्वरूपा ······विषयम्, इति शास्त्रप्रत्यक्षयोर्न विरोधः'
वेदार्थसंग्रह, पृ० 87
47. देशान्तरकालान्तरसम्बन्धितयानुभूमान्यतस्यदेशकालयोरभाप्रतिपत्तौ न त्रिरोधः। श्रीभाष्य 1 : 1,1
48. मायावादिमते अधिष्ठानज्ञानस्य अन्तःकरणवृत्तित्वेन सत्यत्वान्न दोष-जन्यत्वम्। न्यायसुधा, पृ० 55
49. तत्र व्यावहारिकस्य प्रपंचस्य सदसद्विलक्षणस्य सद् विलक्षणत्वाद् उपपन्नं श्रुत्यादिना मिथ्यात्व समर्थनम्. असद्विलक्षणत्वात् तद्-अन्तर्गतस्य प्रमाणादेः साधकत्त्वं च इति। न्यायसुधा, पृ० 35
50. द्रष्टव्य सुरेन्द्रदास गुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, 4, पृ० 92-93

☐

पंचम उन्मेष

माया, अविद्या, विकल्प, अज्ञान तथा अन्य सदृश अवधारणायें

माया की जहां सृष्टि-व्यवस्था में विशिष्ट भूमिका है, वहीं जगदाभास की प्रतीति अथवा विश्वबोध-व्यापार में भी उसका महत्त्वपूर्ण योगदान है। भारतीय दार्शनिक प्रणालियों में भ्रान्त ज्ञान को लेकर पर्याप्त चर्चा हुई है। वस्तुतः निरपेक्ष प्रत्ययवादी प्रणालियों ने इसके माध्यम से अपनी परम सत्ता की एकमात्रता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। माया अथवा अज्ञान को इसी भ्रामक ज्ञान की प्रतिनिधि अवधारणा स्वीकार किया गया है। जहां अद्वैतवादी तथा माध्यमिक एवं योगाचार बौद्ध इसे प्रतिषेधमूलक तथ्य अथवा भ्रम-चेतना मानकर चलते हैं वहां शैव निरपेक्षवादी भ्रामक ज्ञान का अस्तित्व नहीं स्वीकार करते। वे ऐसे ज्ञान को अपूर्ण ज्ञान कहते हैं। पारिभाषिक पदावली में माध्यमिकों ने इसे असत्ख्याति कहा है, योगाचारों ने 'आत्मख्याति' तथा शांकर वेदान्ती इसे 'अनिर्वचनीय ख्याति' की संज्ञा देता है। शिवाद्वयवाद में इसे 'अपूर्णख्याति' कहा गया है। इसी अज्ञानमूलक ज्ञान की व्याख्या के लिए विभिन्न प्रणालियों ने अपनी-अपनी अवधारणाएं तथा शब्दावली विकसित की हैं। नीचे की पंक्तियों में हम उन्हीं अवधारणाओं की तुलनात्मक समीक्षा तथा माया के साथ उनके सादृश्य का आकलन करेंगे।

माया एवं अविद्या

माया तथा अविद्या वेदान्त शास्त्र के सारभूत तत्त्व हैं। वे परस्पर इतना घनिष्ट रूप से सम्बद्ध हैं कि एक पर विचार किए बिना दूसरे पर विचार करना संभव नहीं। उपनिषदों में अविद्या शब्द अधिकांशतः अज्ञान के लिए प्रयुक्त हुआ है और वह व्यक्ति रूप विषयी के ज्ञान से भिन्न है।[1] आचार्य शंकर इसे तार्किक विधि के रूप में निरूपित करते हैं जो मानवीय मन की सीमितता का निर्माण करती है। शंकर की कृतियों में ऐसे वाक्य आते हैं जिनमें अविद्या को आनुभविक जगत् का कारण प्रतिपादित किया गया है।

जगत् के आभास रूप होने का कारण बुद्धि के स्वरूप के अन्दर खोजना चाहिए, ब्रह्म के अन्दर नहीं। छोटे से लेकर बड़े सभी पदार्थों में ब्रह्म सम्पूर्ण तथा अविभक्तरूपेण विद्यमान है और नानात्व की प्रतीति बुद्धि के कारण है जो देश-काल और कारण-कार्य के विधान के अनुसार कार्य करती है। ब्रह्मसूत्र के भाष्य की प्रस्तावना में शंकर कहते हैं कि अविद्या की शक्ति हमें जीवन रूप स्वप्न में उतारती है। इन्द्रियातीत तथा लौकिक दृष्टिकोणों को परस्पर मिला देने की प्रवृत्ति अथवा अध्यास, कितना भी भ्रान्तिमय क्यों न हो, मनुष्य के मस्तिष्क के लिए स्वाभाविक हैं। शंकर के अनुसार यह हमारे बोधग्रहणकारी तन्त्र का परिणाम है।[2] अनुभव के विषयीनिष्ठ पक्ष की परीक्षा के द्वारा शंकर तर्क करते हैं कि हम यथार्थ सत्ता का ज्ञान तब तक नहीं प्राप्त कर सकते जब तक हम अविद्या में फंसे हैं। अन्तर्दृष्टि रूप ज्ञान के साधन से पतन होने का नाम अविद्या है तथा यह परिमित आत्मा की मानसिक विकृति है, जिसके कारण दैवीय सत्ता सहस्रों भिन्न-भिन्न अंशों में बंट जाती है। प्रकाश के अभाव का नाम अन्धकार है। ड्यूसन अविद्या को 'हमारे ज्ञान का आन्तरिक धुंधलापन'[3] मानता है। अविद्या या तो ज्ञान का अभाव है अथवा सन्दिग्ध या भ्रान्तिमय ज्ञान है। इसका केवल निषेधात्मक ही नहीं किन्तु भावात्मक रूप भी है। शंकर के इस तर्कपूर्ण कथन कि अविद्या का शासन सबके ऊपर है, का आशय यही है कि सीमित होना एक तथ्य है। हर व्यक्ति यह समझता है कि उसे सभी बातों का ज्ञान नहीं है।[4]

जैसाकि पहले कहा गया उपनिषदों में अविद्या शब्द केवल अज्ञान के लिए व्यवहृत हुआ है। शंकर की प्रणाली में इसे मानवीय मन की परिमितता को जन्म देने वाली तार्किक विधि माना गया है। इसकी सत्ता वन्ध्यापुत्र की भाँति अभावमूलक नहीं है क्योंकि हमें इसकी प्रतीति होती है। यह एक यथार्थ और निरपेक्ष सत्ता रूप वस्तु भी नहीं, क्योंकि अन्तर्दृष्टि के ज्ञान से इसका नाश हो जाता है। यदि यह असत् होती तो यह किसी पदार्थ की उत्पादक नहीं हो सकती थी, और यदि सत् होती तो इससे उत्पन्न वस्तुओं की सत्ता भी यथार्थ होती न कि आभास मात्र। 'यह न तो यथार्थ है, न आभासमात्र है और न यह दोनों ही है।'[5] इसे ब्रह्म के साथ सम्बद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि ब्रह्म का स्वरूप नित्यप्रकाश है और अविद्या के प्रतिकूल है। सर्वज्ञात्ममुनि ब्रह्म को इसका अधिष्ठान मानने के पक्ष में नहीं और वाचस्पति मिश्र के अनुसार यह व्यक्ति में भी नहीं रह सकती। यह कहना कि परिवर्तित ब्रह्म अविद्या का आवासस्थान है एक अर्थहीन निष्कर्ष है। प्रश्न यह है कि ब्रह्म में अविद्या के बिना परिवर्तन हो ही कैसे सकता है? रामानुज का आक्षेप है कि हमें प्रत्येक

आत्मा के लिए एक भिन्न अविद्या की कल्पना करनी होगी, अन्यथा एक व्यक्ति की मोक्ष प्राप्ति अन्यों पर भी लागू हो जायेगी। निष्कर्ष रूप से हम कह सकते हैं कि अविद्या आत्माओं की भिन्नता का ज्ञान तो रखती है, किन्तु यह उसका कारण नहीं है और इसीलिए उसका समाधान नहीं कर सकती। शंकर कहते हैं, 'हम स्वीकार करते हैं कि ब्रह्म अविद्या की उपज नहीं है, अथवा स्वयं भ्रांत भी नहीं हैं, किन्तु हम यह भी नहीं मानते कि अन्य कोई भ्रान्त चैतन्ययुक्त प्राणी ब्रह्म के अतिरिक्त है जो अज्ञान को उत्पन्न करने वाला हो सकता है।'[6] संक्षेप शारीरककार के मत में 'भेदशून्य परमबुद्धि अविद्या का आश्रय तथा विषय है।'[7] ड्यूसन के अनुसार 'यथार्थ में केवल एकमात्र ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं। यदि हम इस प्रकार की कल्पना करें कि हम इस जगत् में उसके विकार का प्रत्यक्ष करते हैं तो यह व्यक्तित्वों के अनेकत्व में उसका भेद अविद्या के ऊपर आश्रित है। किन्तु यह होता कैसे है? हम क्यों कर एक परिवर्तन तथा अनेकत्व को देखकर, जबकि यथार्थ में एकमात्र ब्रह्म ही सत् है, अपने को धोखा देते हैं इस प्रश्न के ऊपर हमारे ग्रन्थकार प्रकाश नहीं डालते।[8] शंकरोत्तर व्याख्याकार प्रायः इस बात को स्वीकार कर लेते हैं कि भ्रान्ति में डाल देने वाली अविद्या की शक्ति की उत्पत्ति का कोई भी समाधान संभव नहीं है। यह मिथ्या ज्ञान की जननी है और मूलभूत स्वयंभू ब्रह्म के नित्य स्थायी तथा निरपेक्ष भाव के रहते हुए भी किसी न किसी प्रकार लौकिक अस्तित्व में प्रकट हो गई है।

अब हमें देखना है कि माया तथा अविद्या में तात्त्विक दृष्टि से भेद क्या है? जब हम विषय पक्ष के दृष्टिकोण से समस्या पर विचार करते हैं तो हम 'माया' शब्द का प्रयोग करते हैं किन्तु विषयी पक्ष की दृष्टि से निरीक्षण करने पर उसी वस्तु के लिए हम अविद्या शब्द प्रयुक्त करते हैं। जिस प्रकार ब्रह्म और आत्मा एक हैं उसी प्रकार माया और अविद्या एक ही हैं। जो वस्तुतः एक है उसे अनेक रूप मानकर देखने की जो मानवीय मस्तिष्क की प्रवृत्ति है, वही अविद्या है और यह सभी व्यक्तियों में समान रूप से उपलब्ध होती है। शंकर जब अविद्या की बात करते हैं तो उनका तात्पर्य किसी व्यक्ति विशेष से नहीं होता। वह व्यक्तित्वहीन एक ऐसी शक्ति है जो हमारे व्यक्तिगत चैतन्यों के साथ संयुक्त हो जाती है, यद्यपि यह उनसे ऊपर भी उठती है। ज्ञानसम्पादन का हमारा यन्त्र ऐसी वस्तुओं के सम्बन्ध में काम करता है जिनकी रचना पहले से हो चुकी है एवं जिनका हम प्रत्यक्ष ज्ञान तो प्राप्त करते हैं किन्तु जिनका निर्णय हम स्वयं नहीं करते। इस जगत् की सृष्टि ईश्वर ने उस व्यवस्था के अनुसार की है जिसका विवरण श्रुति में है और जिसे हम भी

देखते हैं।[9] माया के दोनों ही रूप हैं—विषयीनिष्ठ तथा विषयनिष्ठ एवं व्यक्तिगत तथा व्यापक। यह वह वस्तु है जिसके अन्दर से बुद्धि तथा विषय-निष्ठ जीवन से सोपाधिक रूप की उत्पत्ति होती है। यदि यह शक्ति जिसके कारण यह प्रतीयमान जगत् अपने को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करता है केवल विषयीनिष्ठ ही हो तो यह केवल कल्पना मात्र है और गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर इसे जगत् का उपादान कारण नहीं माना जा सकता। उस अवस्था में यह कुछ-कुछ सांख्य की प्रकृति के समान होगी और ऐसी स्थिति में यह केवल व्यक्तिगत अज्ञान का रूप नहीं हो सकती। व्यक्तिगत अविद्या तथा ब्रह्म की प्रकृति दोनों एक साथ उत्पन्न होती हैं। इनमें से किसी एक पर विचार दूसरे से पृथक् रूप में नहीं किया जा सकता और इस प्रकार अविद्या भी परमसत्ता के ऊपर आश्रित है। काण्ट तथा बर्गसां का भी विचार है कि प्रकृति की भौतिकता हमारे चैतन्य की बुद्धिसम्पन्नता के साथ-साथ उत्पन्न होती है। बुद्धि तथा यह दृश्यमान् जगत् एक साथ ही उत्पन्न हुए तथा एक दूसरे के अन्दर ओतप्रोत हैं। लौकिक आत्मा तथा व्यावहारिक जगत् परस्पर निहित तथ्य हैं। अविद्या और प्रकृति दोनों एक समान नित्य हैं और आनुभविक जगत् से सम्बद्ध हैं।[10] यथार्थता का देश-काल और कारण-कार्य सम्बन्धी रूप हमें अविद्या से ही प्राप्त हुआ है और इस प्रकार के जगत् को हमारे समक्ष प्रस्तुत करने के प्रयोजन की अनुकूलता अविद्या में है। शंकर न तो मानसिकतावाद में और न भौतिकवाद में फंसते हैं। हम यह नहीं कह सकते कि प्रकृति हमारे चैतन्य का गोचर-विषय है और न यही कह सकते हैं कि भासमान आत्मा प्रकृति की उपज है। विषय-निष्ठ अनुभव की संभावना की अवस्थाएं तार्किक आत्मत्व अथवा आत्म-चैतन्य की संभावना की अवस्थाएं भी हैं। हमारे मन इस प्रकार की भ्रामक विधि से क्यों काम करते हैं? अविद्या का अस्तित्व क्यों है, देश-काल और कारणकार्य-भाव से युक्त जगत् क्यों उत्पन्न हुआ? माया का अस्तित्व क्यों है? ऐसे सभी प्रश्न उसी एक समस्या को सुलझाने के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं जिनका समाधान संभव नहीं है। विशुद्धज्ञान आत्मा ही किसी न किसी प्रकार से ह्रास को प्राप्त होकर अविद्या के रूप में परिणत हो जाती है, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार ब्रह्म, जो कि विशुद्ध सत् है, पथभ्रष्ट होकर देश-काल तथा कारण-कार्य-सम्बन्धी जगत् के रूप में प्रकट होता है, अविद्या के द्वारा ही हम विद्या तक पहुंचते हैं, जिस प्रकार हम इस आनुभविक जगत् द्वारा ही ब्रह्म से साक्षात्कार करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अविद्या और माया एक ही मूलभूत अनुभव रूपी तथ्य के विषयीनिष्ठ तथा विषयनिष्ठ पक्ष को प्रस्तुत करती हैं। यह अविद्या इसलिए कहलाती है क्योंकि ज्ञान के द्वारा इसका उच्छेद हो जाता

है, किन्तु विषयनिष्ठ शृंखला माया कहलाती है, इसलिए कि यह सर्वोपरि व्यक्तित्व के साथ-साथ नित्यस्थायी है। शंकर प्रलयावस्था में भी इसका अस्तित्व, स्वीकार करते हैं। सर्वज्ञईश्वर में, जो अपनी माया पर नियन्त्रण रखने में समर्थ है, अविद्या का प्रभाव नहीं होता। यदि शंकर यत्र-तत्र एक भिन्न प्रकार की कल्पना को मान लेते हैं तो यह केवल आलंकारिक अर्थों में है और वह यह कि ईश्वर के अन्दर वह शक्ति है जो एक व्यक्ति के अन्दर अविद्या का नेतृत्व करती है। सांख्य ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता किन्तु दृश्यमान् जगत की उत्पत्ति एक पूर्वतः विद्यमान अविद्या से बताते हैं जो अनादि कही जाती है। अविद्या बुद्धि का एक गुण है और इसलिए उसका स्थान भी बुद्धि में होना चाहिए और तार्किक दृष्टि से अविद्या के अनादिस्वरूप की बुद्धि में भी, जो इसका स्थान है, उसके कारण मानना चाहिए। इस प्रकार बुद्धि प्रकृति का ही एक व्यक्त रूप है और प्रकृति मूलभूत द्रव्य है। 'विवरण-प्रमेयसंग्रह में कहा गया है 'इसमें सन्देह नहीं कि अविद्या, चैतन्य का एक दोष है, क्योंकि यह अद्वैतभाव के यथार्थ ज्ञान के मार्ग में बाधक है और द्वैतभाव को उत्पन्न करती है किन्तु दूसरी ओर इसका एक उत्तम गुण भी है; और वह यह कि यह एक उपादान कारण की सृष्टि करती है और इस प्रकार ब्रह्म की पहचान को संभव कर देती है।[11] अनन्त तक पहुंचने के लिए सान्तता एक सोपान का काम करती है।

शंकर स्वयं तो इन दोनों की प्रक्रिया तथा स्वरूप की दृष्टि से कोई विशेष भेद नहीं करते किन्तु कुछ अर्वाचीन अद्वैतवादियों ने इनके बीच भेद पर बल दिया है। माया जहां एक ओर ईश्वर की उपाधि है दूसरी ओर अविद्या व्यक्ति की उपाधि है। विद्यारण्य के विचार में माया में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ईश्वर कहलाता है और अविद्या में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जिसमें रजोगुण तथा तमोगुण भी उपस्थित हैं जीव कहलाता है।[12] शंकर भी इसी मत के पक्षधर हैं। वे कहते हैं, 'जो सर्वोच्च ब्रह्म है वह विशुद्ध प्रतिबन्ध के साहचर्य से तब निम्न श्रेणी का ईश्वर बन जाता है जब कोई उसके विषय में विचार करता है।'[13] अविद्या से समुत्पन्न ईश्वर की भी शक्तियां हैं। यह जगत् ईश्वर के स्वरूप की अभिव्यक्ति है, यह मनुष्य के तार्किक मस्तिष्क के ऊपर भी सापेक्ष रूप से निर्भर है। जगत् के पदार्थ के दोनों रूप हैं—अर्थात् दैवी मस्तिष्क के विचार एवं मानवीय ज्ञान के प्रस्तुत विषय। ईश्वर को जगत् का स्थायी कारण कहा गया है और तो भी यह जगत् जिसका कर्ता ईश्वर है उसे अविद्या द्वारा निर्मित भी कहा जाता है।[14] ब्रह्म एवं माया विश्व के अन्दर विद्यमान हैं और जगत्

के उपादान कारण हैं। दोनों ही एक सूत्र में आबद्ध हैं, एक यथार्थ और दूसरा विवर्त रूप में इसके मूल में विद्यमान है।

माया एवं विकल्प

विकल्प एक बौद्ध प्रक्रिया है जिसका प्रयोग बोध-व्यापार के सन्दर्भ में किया जाता है। माया के साथ इसका सम्बन्ध उसके अपोहन-व्यापार को लेकर है। अपोहन एक विकल्प प्रक्रिया है जो दो विपरीत स्वरूप वाली वस्तुओं के बीच निश्चय की परिचायिका है, जैसे वह्नि एवं अवह्नि के बीच अथवा घट और अघट के बीच। अपोहन शक्ति समस्त विकल्प ज्ञान के लिए अनिवार्य होती है।

बौद्ध प्रक्रिया के अनुसार बोध दो प्रकार की बुद्धियों में प्रकट होता है—प्रविचय बुद्धि तथा विकल्पलक्षणग्रहाभिनिवेशप्रतिष्ठापिका बुद्धि। प्रविचय बुद्धि चार प्रकार से वस्तुओं का बोध कराती है—एकत्वान्यत्व (या तो यह या वह) का विवेचन करके, उभयानुभव का विवेचन करके (दोनों या दोनों नहीं) अस्ति-नास्ति का विवेचन करके तथा नित्यानित्य का विवेचन करके। पर वस्तुत: प्रपंचों के बारे में इन चारों में से कोई भी प्रकार पूरा नहीं बैठता। दूसरी प्रकार की (विकल्प) बुद्धि मन की उस प्रवृत्ति में निहित है जिस कारण वह वैविध्य उत्पन्न करता है तथा उनको अपने परिकल्पों द्वारा किसी एक बौद्धिक, तार्किक आनुपूर्वी या क्रम में कर्त्ता, कर्म, विषय, विषयी, कार्यकारण आदि, के सम्बन्धों में बिठाकर रखता है। जिन्हें इन दोनों बुद्धियों के व्यापार का ज्ञान है वे जानते हैं कि बाह्य भौतिक जगत् की कोई सत्ता नहीं है और यह केवल मन के अनुभव के रूप में आभासित अथवा प्रतीत होता है। जल कहीं नहीं है—यह केवल स्नेहात्मिका ऐन्द्रिय मानस प्रवृत्ति है जो बाह्य पदार्थ के रूप में जल की कल्पना करती है, ताप अथवा शक्ति की ऐन्द्रिय कल्पना अग्नि की निर्मिति कर लेती है तथा गति की ऐन्द्रिय कल्पना वायु की निर्मिति कर लेती है। इस प्रकार असत्य में सत्य का अभिनिवेश करने की मिथ्या प्रवृत्ति (मिथ्यासत्याभिनिवेश) के कारण पांच स्कन्ध प्रकट होते हैं। यदि ये सब एक साथ प्रकट होते तो हम कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं मान सकते थे। यदि ये एक के बाद एक के क्रम में प्रकट होते तो इनमें परस्पर कोई सम्बन्ध न होता क्योंकि उन्हें एक संयुक्त रखने का कोई साथ नहीं होता। अत: न तो कोई पदार्थ उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। यह तो हमारी निर्मित्यात्मक कल्पना ही है जो प्रत्यक्षीकृत बस्तुओं का द्रष्टा या प्रत्यक्षकर्ता के साथ वस्तुओं को उनके सम्बन्धों सहित पैदा कर देती है। वस्तुओं को ज्ञात रूप में अभिहित करना भी एक परम्परा (व्यवहार) मात्र है। जो भी हम वाणी द्वारा कहते हैं

वह वाग्विकल्प है। वह यथार्थ नहीं है। वाणी में किसी भी वस्तु को कार्यकारण सम्बन्धों में बांधे बिना हम अभिहित नहीं कर सकते, किन्तु इन बातों में कोई भी सत्य नहीं है। परमार्थ को वाणी द्वारा अभिहित नहीं किया जा सकता।

शून्यता-बोध के लिए जो सात स्थितियां विज्ञानवादियों ने प्रतिपादित की हैं, उनमें वस्तुतः विकल्प की धारणा का ही संकेत है। विज्ञानवाद अथवा योगाचार का उल्लेख कुमारिल तथा शंकर आदि प्रमुख हिन्दू चिन्तकों ने किया है। यह बौद्ध दर्शन की एक प्रमुख शाखा है तथा शून्यवादियों से बहुत भिन्न नहीं है। इसके अनुसार समस्त धर्म (गुण और सार) अज्ञानी मस्तिष्क की कृत्रिम उपज हैं। बाह्य जगत की कोई सत्ता नहीं है अतः हम उसमें किसी गति या जीवन की कल्पना नहीं कर सकते। इसका निर्माण हमारे द्वारा ही होता है और हमें ही "यह विद्यमान है" ऐसा मोह हो जाता है (निर्मित प्रतिमोही)।[15] हमारे मन में दो क्रियाएं होती हैं—एक तो वह जो प्रत्यक्ष करती है (ख्याति विज्ञान), दूसरी वह जो उन्हें काल्पनिक निर्मितियों में रखती (वस्तु प्रतिकल्प विज्ञान)। ये दोनों व्यापार परस्पर संवद्ध, निर्भर और अविभाज्य हैं (अभिन्न लक्षणे, अन्योन्यहेतुके)। दृश्यमान् जगत् के सम्बन्ध में जो अनादि, सहज प्रवृत्तियां निहित होती हैं उनके कारण ये व्यापार होते हैं।[16] इसके अनुसार वस्तुओं की शून्यता को समझने के लिए जिन सात स्थितियों की ऊपर चर्चा की गई, वे इस प्रकार हैं—

(1) सभी पदार्थ अन्योन्यनिर्भर हैं और उनका अपना कोई लक्षण नहीं है। उनमें जब स्वयं का कोई लक्षण नहीं है तो अन्य के लक्षण से भी उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। क्योंकि जब उनका कोई लक्षण ही नहीं है तो अन्य भी अलक्षण अर्थात् अपरिभाषित अथवा अनिर्धारित होगा अतः सभी वस्तुएं लक्षण-शून्य हैं।

(2) चूंकि वे अभाव अर्थात् स्वभाव-शून्यता से उत्पन्न (स्वाभावाभावोत्पत्ति) हैं, अतः उनमें कोई भाव नहीं (भावस्वभावशून्यता) हैं।

(3) वे अज्ञात अभाव से उत्पन्न (अप्रचरित शून्यता) है, क्योंकि समस्त स्कन्ध निर्वाण में जाकर विलीन हो जाते हैं।

(4) अभूत होते हुए भी वे प्रपंचों के रूप में संबद्ध प्रतीत होते हैं, क्योंकि उनके स्कन्धों में न तो अपने आप में वस्तुसत्य है न वे किसी अन्य से संबद्ध हैं फिर भी वे कार्य-कारण-संगत और संबद्ध प्रतीत होते हैं।

(5) उनका किसी भी प्रकार विवेचन या वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता (निरभिलप्यशून्यता)।

(6) दीर्घकाल से हमारी दृष्टि को दूषित करने वाले मिथ्याभास के अतिरिक्त अन्य किसी ज्ञान के द्वारा उनका बोध नहीं किया जा सकता।

(7) हम वस्तुओं को कालविशेष और देशविशेष में स्थित बतलाते हैं, जबकि वे ऐसी नहीं हैं। (इतरेतर-शून्यता)।

इस प्रकार इस प्रस्थान के अनुसार केवल अभाव का ही अस्तित्व है पर वह भी न तो अनादि है न ही विनाशी। जगत् एक स्वप्नमात्र है, माया है। ऐसी वस्तु, जिसका न तो भाव है, न अभाव। इसके बारे में विद्यमानता का प्रतिपादन मूढ़ मस्तिष्क की कल्पना ही कही जा सकती है।

यह मत इस सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित इस विचार के विरोध में जाता है कि वस्तुसत्य को तथागत गर्भ (तथता में समाने वाले पदार्थ का गर्भ) कहा जाता है और स्कन्धों, धातुओं (तत्त्वों) तथा आयतनों (ऐन्द्रिय विषयों) के आभास इसे दोषों से ढक लेते हैं। इस प्रकार यह सिद्धान्त एक सार्वभौमिक आत्मा को ही अन्तिम सत्य स्वीकार करने वाले मत के निकट पहुंच जाता है। इस विरोधाभास का निराकरण लंकावतार सूत्र में इस प्रकार किया गया है कि तथागतगर्भ को ही चरम वस्तु सत्य बतलाना केवल एक गुडजिह्निका मात्र है जो उन व्यक्तियों को सन्तुष्ट करने के लिए दी जाती है जिनके लिए नैरात्म्य सिद्धान्त की रुक्षता असह्य है।[17]

बोधिसत्वों द्वारा सिद्धि प्राप्त करने के लिए चार प्रकार के ज्ञान बतलाये गये हैं—

1. स्वचित्तदृश्यभावना
2. उत्पादस्थितिभंग विवर्जना
3. बाह्यभावाभावोपलक्षणता
4. स्वप्रत्ययार्थज्ञानाधिगमाभिन्नलक्षणता।

इनमें से प्रथम का अर्थ है कि समस्त वस्तुएं केवल चित्त की कल्पना मात्र हैं। दूसरे का अभिप्राय है कि चूंकि वस्तुओं में कोई सार नहीं है अतः उनकी उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश की कल्पना नहीं की जा सकती। तीसरे का तात्पर्य है कि वाह्य वस्तुओं का भाव तथा अभाव क्या है? इसका आशय यह है कि यह सब उपलक्षण मात्र हैं, एक मृगतृष्णा के समान है। यह वासना की ही उपज है जो इस सब विधिप्रपंच को पैदा करती है, उसका प्रत्यक्ष कराती है। चौथे का अभिप्राय है वस्तुओं के स्वभाव के ज्ञान का अधिगम।

थैरवाद बौद्ध प्रस्थान में इन ध्यानों (ज्ञान के साधनों) का कुछ भिन्न रूप में वर्णन किया गया है। पर वहां पर इनके नाम हैं—(1) बालोपचारिका (2) अर्थप्रविचय (3) तथतालम्बन तथा (4) तथागत। प्रथम ध्यान श्रावक और

प्रत्येक बुद्ध लगाते हैं। इसमें पुद्गल-नैरात्म्य सिद्धान्त पर ध्यान लगाया जाता है, ये मानते हैं कि यह सब क्षणिक, दुःख एवं अशुद्ध है। इस प्रकार प्रारम्भ से समाप्ति तक ध्यान लगाते हुए साधक उस स्थिति को पहुँच जाता है जहाँ उसे संज्ञा नहीं रहती (असंज्ञानिरोधात्) तब इसे बालोपचारिका ध्यान (भिक्षुओं का ध्यान) कहा जाता है।

दूसरा ध्यान इससे आगे की स्थिति है। इसमें यह ज्ञान हो जाता है कि आत्मा नहीं है, साथ ही यह भी कि न तो सांसारिक पदार्थों की सत्ता है न ही अन्य सिद्धान्तों की। कोई भी धर्म जो आभासित होते हैं उनकी सत्ता नहीं है। इसे अर्थप्रविचय इसलिए कहते हैं क्योंकि इसमें साधक वस्तुओं के वास्तविक अर्थ की खोज करते हैं। तीसरे में बुद्धि यह महसूस करती है कि वस्तुओं की सत्ता नहीं है, आत्मा तथा आभास सब कुछ नहीं हैं। यह सिद्धान्त भी कल्पना की उपज मात्र है और अन्ततः तथता में विलीन हो जाता है। इसीलिए इसे 'तथतालम्बन' कहा गया है क्योंकि तथता को ही आधार मानकर यह चलता है। चौथा तथा अन्तिम ध्यान वह स्थिति है जहाँ मन तथता में इस प्रकार विश्रान्त हो जाता है कि प्रपंचों का अनस्तित्व एवं अविज्ञेयत्व पूर्णतः ज्ञात हो जाता है। निर्वाण वह स्थिति है जिसमें ज्ञान के रूप में प्रकट होने वाली सभी वासनायें नष्ट हो जाती हैं और बुद्धि, जो ज्ञान तथा प्रत्यक्ष द्वारा आभासों एवं मिथ्या वस्तुओं की प्रतीति कराती है, कार्य करना बन्द कर देती है। इसे मृत्यु नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मृत्यु के बाद तो पुनर्जन्म की संभावना हो जाती है। इसके बाद ऐसा नहीं होता। इसे विनाश भी नहीं कह सकते, क्योंकि संस्कृत वस्तुओं का ही विनाश हो सकता है। इस प्रकार यह मृत्यु और विनाश दोनों से विलक्षण है। यह श्रावकों तथा प्रत्येक बुद्ध के निर्वाण से भी विलक्षण है, क्योंकि वे तो उस स्थिति को ही निर्वाण कह देते हैं जब विनाशी वस्तुओं की क्षणिकता और दुःखत्व का आभास होने के कारण वे पदार्थों से अनासक्त हो जाते हैं और उन्हें मिथ्या ज्ञान नहीं होता।[18]

इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार वस्तुओं का कोई आधार अथवा कारण नहीं है। जब हम कहते हैं कि जगत् माया अथवा भ्रम है तो उसका अर्थ यही होता है कि इसका कोई आधार या कारण नहीं है। पदार्थों की जो उत्पत्ति, स्थिति और विनाश दृष्टिगोचर होता है वह विदुष्ट कल्पना (विकल्प) की उपज है। अनादि मूल वासनाओं से विदुष्ट कल्पना के रचनात्मक क्रिया-कलापों से अलग होना ही तथता है।[19] तथता की स्थिति माया से पृथक् नहीं है। जब माया के निर्माण का क्रम बन्द हो जाता है तो तथता ही माया का

स्थान ले लेती है। इसीलिए कभी-कभी इसे 'चित्तविमुक्त' अथवा चित्त से अलग कहा गया है, क्योंकि यह सर्वकल्पनाविरहित होती है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन ने चूंकि बौद्धों के क्षणिकपाद के सिद्धान्त को आंशिक रूप से (आभास के रूप में) स्वीकार कर लिया है, अतः इस दर्शन में इस अवधारणा का विनियोग एक प्रकार से तर्कमूलक परिणाम ही कहा जायगा।[20] इसे इस दर्शन की प्रक्रिया में गुणमयी सृष्टि के साथ संबद्ध किया गया है। यहां भी इसे एक मानसिक प्रक्रिया ही माना गया है। इसका बाह्य जगत् से कोई सम्पर्क नहीं होता।

अवान्तर प्रलय की समाप्ति के पश्चात् जब अशुद्ध सृष्टि के अधिष्ठाता श्रीकण्ठ का नया दिन प्रारम्भ होता है तो वे मूलप्रकृति में पुनः क्षोभ उत्पन्न करके गुणतत्त्व को प्रकट कर देते हैं। उससे प्रकृति के परिणामों द्वारा गुणों में विषमता आ जाने से सर्वप्रथम मूलप्रकृति अन्तःकरणों के रूप में प्रकट होती है। उनमें भी सबसे पूर्व सत्त्वगुणप्रधान महत् तत्त्व प्रकट हो जाता है। इसे ही बुद्धितत्त्व भी कहते हैं। अपनी स्वच्छता के कारण यह आगामी सृष्टि में सन्निहित वस्तुओं के प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर सकता है। यहां तक कि पुंस्तत्त्व रूपी प्रमाता भी इसके भीतर प्रतिबिम्बित हो जाता है। प्रमाता के प्रतिबिम्ब को धारण करती हुई बुद्धि प्रमातृत्व के इस प्रतिबिम्बात्मक सम्बन्ध से चेतन जैसी प्रतीत होने लगती है। बुद्धि तत्त्व एक करण तत्त्व होता है। बुद्धि अपने भीतर प्रतिबिम्बित विषय को पुरुष के प्रति प्रकाशित करती है। बुद्धि ही उस प्रतिबिम्बित विषय के नामरूप की कल्पना का साधन बनती है। इस प्रकार निश्चित नाम द्वारा निश्चित रूप में प्रमेय वस्तु का स्पष्ट ज्ञान पुरुष को करा देती है। प्रमेय को प्रकाशित करने में सहायक बुद्धि ज्ञान तथा नामरूप कल्पना का साधन तो बनती ही है, साथ-साथ क्रिया का साधन भी बन जाती है। बाह्य विषय के सन्निहित न होते हुए भी अपने भीतर ही विषय की नामरूपात्मक कल्पना के द्वारा उसको उत्पन्न करके उसका प्रकाशन और विमर्शन करा सकती है। इस प्रकार बुद्धि ही पुरुष का सर्वप्रमुख और निकटतम करण है। इसके बिना पुरुष प्रमेय के प्रति कोई भी व्यवहार नहीं कर सकता। बुद्धि इस पार्थिव सृष्टि में पुरुष के भीतर रह कर ही काम करती है। अतः इसे अन्तः कहते हैं। यह बाह्य विषयों को चक्षु आदि बाह्य करणों की सहायता के बिना प्रकाशित नहीं कर सकती। इसी प्रकार अहंकार और मन भी अन्तःकरण कहलाते हैं। इस प्रकार विषय के नाम रूप कल्पना से विशिष्ट सुस्पष्ट और निश्चयात्मक ज्ञान के प्रति प्रमाता का साधन उसकी निश्चयात्मिका शक्ति ही उसकी बुद्धि होती है।

पुरुष को अपने शून्यात्मक स्वरूप 'अहं' का जो अनुभव (अहं प्रत्यवमर्श) होता है, वह भी कल्पनाजन्य ही होता है। शरीरादि के विषय में 'अहं' की अनुभूति तो स्पष्ट ही विकल्पमयी होती है।[21] शुद्ध तथा असीम चैतन्य की अनुभूति तो सदैव विकल्पहीन ही हुआ करती है। अतः निर्विकल्प साक्षात्कार तो वस्तुतः शुद्ध चैतन्य की प्रकाशमानता को ही कहा जा सकता है। उस साक्षात्कार में न ही मन सहायक बन सकता है और न ही बुद्धि। व्यावहारिक विषय-ज्ञान में जब इन्द्रियों के मार्ग से चित्त पर विषय का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो प्रथम क्षण में ऐसा आभास होता है कि कोई वस्तु है। दूसरे शब्दों में बुद्धि पर अंकित इन्द्रिय प्रदत्तों (सेन्स डेटा) पर चित्त की जो प्रतिक्रिया होती है और वह समग्र आभासपुंज में से कुछ आभासों का चयन प्रमाता के स्मृतिकोष में पूर्वतः विद्यमान विषयों के संस्कारों के साथ वर्तमान अनुभवखण्ड का तादात्म्य स्थापित करके इन विषयों को जो निश्चित नाम और रूप देना चाहती है यही वस्तुतः विकल्प की प्रक्रिया है।[22] उस क्षण उस वस्तु के विषय में केवल वस्तुत्व का ही आभास होता है। वस्तुतः ऐसा आभास भी बुद्धि की कल्पना से ही होता है। परन्तु इस क्षण में बुद्धि वस्तु के स्पष्ट और निश्चित नामरूप विशेष की कल्पना नहीं कर सकती। अतः इस सूक्ष्मतर विकल्प आभास विकल्पमय आभास को व्यावहारिक तथा निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं। इस स्थिति में मन वस्तु के विषय में अनेक संभावित नामरूपों की अस्फुट कल्पना एक साथ करता है। इस प्रकार के अनेक नामरूप कल्पना का उन्मेष करने वाली प्रभाता की मननशक्ति को मन कहते हैं। दूसरे, जब अनेक नामरूप युगलों में से किसी एक पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है और उसके विषय में निश्चित निर्णय लिया जाता है तो वस्तु के विषय में निश्चित रूप से ज्ञान हो जाता है।[23] साक्षात्कार के प्रथम क्षण में चित्तपटल पर प्रतिबिम्बित होने वाला पुंजीभूत पिण्ड, मानव, पशु, गाय, बैल आदि कुछ भी हो सकता है। इन-इन अंशतः सदृश नाम रूपों की संभावना उसमें हो सकती है। परन्तु स्फुट विकल्प-क्षण में यह निश्चित हो जाता है कि यह पिण्ड एक गाय ही है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं।[24] इस प्रकार नाम रूपों का उन्मेष करने वाली मनन शक्ति को जीव का मन और विशेष नामरूप का निश्चय करने वाली शक्ति को उसकी बुद्धि कहते हैं। विषय के प्रतिबिम्ब के इस सविकल्प अथवा निर्विकल्प आभास को जीव के साथ सम्बद्ध करने वाली शक्ति अहंकार कहलाती है। निश्चित एवं अनिश्चित दोनों ही प्रकार की प्रतिछवि बुद्धिपटल पर अंकित होती है। इसी प्रकार बुद्धि या शरीर या प्राण की क्रियाओं के विषय में जीव को यह अभिमान होता है कि मैं करता हूं।[25] फिर उसे शून्य, प्राण, अन्तःकरण

और देह के विषय में यह अभिमान बना रहता है कि 'यह मैं हूँ'। जीव के इस प्रकार के कल्पित और परिमित अभिमान को उसका अहंकार कहा जाता है। कुछ चिन्तन-प्रणालियां 'अहं' के विचार को हेय समझती हैं और इसके उत्सारण का उपदेश करती हैं। परन्तु प्रत्यभिज्ञा प्रणाली में 'अहं' को अत्यन्त उपादेय माना गया है। स्वयं शिव का वास्तविक स्वरूप भी शुद्ध असीम और परिपूर्ण 'अहं' ही माना गया है। हां इससे भिन्न विचार अर्थात् ईदन्ता को इस प्रणाली में गौण माना गया है। समस्त विश्व को 'अहं' से समीकृत करना ही जीवन्मुक्ति है और इसके विषय में 'इदन्ता' का परामर्श ही बन्ध है। श्रीमद्भगवद्गीता में 'अहं' के इसी महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है।

माया के प्रभाव से पुरुष अहं के उस पारमार्थिक रूप को नहीं समझ पाता। उसका पारमार्थिक रूप तो एकमात्र असीम परिपूर्ण और शुद्ध संवित् ही है। परन्तु जीव तो पहले शून्य को और अगली सृष्टि में प्राण आदि को 'अहं' समझ बैठता है। ये सभी पदार्थ जड हैं अतः इनके विषय में जो अहं-परामर्श होता है वह वास्तविक 'अहं' का न होकर एक प्रकार के कृत्रिम 'अहं' का होता है। इस कृत्रिम 'अहं' के दृढ़ विश्वास को केवल अहं न कहकर 'अहंकार' कहा जाता है। सारांश यह है कि माया के प्रभाव से शून्य, प्राण, अन्तःकरण और शरीर को ही अहं समझना और केवल इन्हीं के द्वारा होने वाली क्रियाओं को अपनी क्रियाओं से तादात्म्य स्थापित करना जीव का अहंकार कहलाता है। मन और बुद्धि का स्फुट व्यवहार स्वप्न और जाग्रत अवस्थाओं में ही होता है। गाढ़ सुषुप्ति में उसकी गति रुक जाती है। किन्तु अहंकार का सूक्ष्मतर रूप सुषुप्तिकाल में भी बना रहता है। हां, तुर्यावस्था में उसका भी क्षय हो जाता है। वहां वास्तविक अहंप्रत्यवमर्श ही उत्तरोत्तर उद्दीप्त होता रहता है। इस प्रकार काश्मीर शैव-चिन्तकों ने विकल्प की विज्ञानवादी प्रक्रिया को लेकर विश्वबोधप्रसंग में माया के साथ उसकी भूमिका को मनोवैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया है।

माया एवं अज्ञान

शांकरप्रणाली में माया का आधार अज्ञान को माना गया है। अज्ञान चित् से संपृक्त है। जहां ज्ञान नहीं है, वहां अज्ञान है। चित् अनादि तथा अनन्त है। अज्ञान भी अनादि तो है किन्तु ज्ञान के द्वारा इसका उच्छेद किया जा सकता है अतः इसे हम अनन्त नहीं कह सकते। इसकी परिभाषा की गई है—'अनादि भावरूपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वम्'। समस्त पार्थिव जगत् इसी अज्ञान के आवरण से आवृत्त है। किसी भी वस्तु के प्रत्यक्ष के लिए अज्ञान का निवारण अपेक्षित

है। अज्ञान चित् का अन्यथा रूप है अर्थात् चित् तो अनादि है किन्तु अज्ञान भाव रूप है। भाव का अभिप्राय यहां अभाव का विलोम न होकर अभाव से भिन्नता का सूचक है—'अभावविलक्षणत्वमात्रम् विवक्षितम्'। परन्तु अज्ञान की स्थिति अन्य भौतिक पदार्थों की अपेक्षा भिन्न है। अज्ञान को भाव रूप कहने का कारण केवल यह है कि यह अभाव नहीं है। कुछ लोग यह शंका करते हैं कि अज्ञान किसी क्षणिक दोष के कारण भ्रान्ति के रूप में उत्पन्न होता है अतः यह अनादि नहीं हो सकता। शांकर वेदान्त कहता है कि अज्ञान का कल्पनात्मक भ्रान्ति होने का अभिप्राय यह नहीं कि यह क्षणिक है। अज्ञान को क्षणिक तभी कहा जा सकता है जबकि इसका केन्द्रबिन्दु माया भी क्षण भर के लिए ही उत्पन्न होती। किन्तु जैसे माया-प्रवाह का कोई आदि नहीं है उसी प्रकार अज्ञान भी अनादि है। जैसे इसका अधिष्ठान चिद्रूप ब्रह्म अनादि है वैसे ही ब्रह्म-सम्बन्धी अज्ञान भी अनादि है। चित् ही सारी माया का आधार है। चित् सर्वदाभावी है अतः अज्ञान भी सदैव स्थित रहता है और इस प्रकार अनादि है। अज्ञानावरण से प्रत्येक वस्तु आच्छादित है। समस्त अस्पष्टता, अनिश्चितता इसी अज्ञान के कारण है। अतः यह अज्ञान न भाव है, न अभाव; यह निश्चयात्मकता से परे है। सभी कुछ अस्पष्ट, भ्रान्तिमय तथा अनिश्चित है। यही अज्ञान का स्वरूप है जिसके कारण हम संसार में भाव तथा अभाव की स्थिति को यथार्थ रूप में नहीं देख सकते। यद्यपि यह अनादि है तथापि इसका अर्थ यह नहीं कि इससे मुक्त नहीं हुआ जा सकता। ज्ञान से सभी भ्रान्तियाँ और माया दूर हो जाती है ? कुछ वेदान्त-चिन्तक अज्ञान को माया तत्त्व मानते हैं। उनके अनुसार यद्यपि इसकी निश्चित भावात्मक सत्ता नहीं किन्तु यह निश्चित रूप से वह तत्त्व है जिससे माया साकार होती है। यह आवश्यक नहीं कि किसी वस्तु का आधार-तत्त्व कोई निश्चित सत्ता ही हो। किसी भी उपादान कारण के लिए यह आवश्यक है कि मूल तत्त्व का भिन्न अवस्थाओं में परिवर्तन नहीं होना चाहिए। यह भी सत्य नहीं कि जिसका भाव है वही तत्त्व अनेक परिवर्तनों में स्थित रहता है। जो भाव के लिए सत्य है वह अभाव के लिए भी सत्य है। अतः माया असत् है, माया का कारण अज्ञान भी असत् है और ये दोनों ही अनादि हैं।

जिस अज्ञान का लक्षण हम यह बताते हैं कि यह अनिश्चित है, इसका न भाव है न अभाव इसको हम प्रत्यक्ष से भी जानते हैं। जब हम यह कहते हैं कि मैं अपने आपको या किसी को नहीं जानता तो हम अज्ञान का प्रत्यक्ष करते हैं। इसी प्रकार जब हम यह कहते हैं कि 'मैं प्रगाढ़ निद्रा में सो रहा था, मुझे कुछ पता नहीं, तो यहां भी हम अज्ञान की सत्ता को स्पष्ट स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार के प्रत्यक्ष में हम किसी निश्चित भाव की कल्पना नहीं कर सकते, न हम किसी निश्चित गुण या रूप की बात कहते हैं और न हम किसी अभाव की कल्पना ही करते हैं। परन्तु फिर भी हम निश्चित बात कहते हैं कि मुझे आपका कुछ पता नहीं है। यहां एक शंका उत्पन्न होती है 'मैं नहीं जानता' से किसी अनिश्चित 'अज्ञान' का अर्थ है कि मुझे अमुक वस्तु का ज्ञान नहीं है। यह अर्थ 'ज्ञान' के 'अभाव' से हैं। इसका उत्तर देता हुआ वेदान्त कहता है कि 'अभाव' में एक निश्चित भाव है। अत: अभाव शब्द किसी वस्तु विशेष के गुण धर्म को ध्यान में रखते हुए, उसके न होने का परिचायक है। परन्तु जब हम यह कहते हैं कि 'मैं नहीं जानता' या मुझे इसका कोई ज्ञान नहीं है तो उससे अर्थ एक अनिश्चित, वस्तुहीन अज्ञान से है जिससे किसी वस्तु विशेष के अज्ञान की संकल्पना नहीं होती। साथ ही यह अनिश्चित अज्ञान भाव रूप भी है, क्योंकि अभाव नहीं है। अभाव रूप न होने से भावत्व स्पष्ट है। परन्तु यह भावत्व अन्य पार्थिव वस्तुओं के भावत्व से भिन्न है क्योंकि यह अज्ञान-भाव केवल एक अनिश्चित, गुणरूपविहीन न जानने की कल्पना है। अभाव का अर्थ सभी वस्तुओं के अभाव से न होकर विशिष्ट वस्तु के अभाव से होता है। किसी अभाव की चेतना 'उपलब्धि' के लिए आवश्यक है कि वह किसी निश्चित वस्तु के अभाव की द्योतक होनी चाहिए। अतः सामान्य अभाव में विशिष्ट ज्ञान का कोई अर्थ नहीं रहता। सामान्य अभाव से अर्थ होगा किसी भी वस्तु का ज्ञान न होना। परन्तु 'अज्ञान' इससे भिन्न है। किसी वस्तु का ज्ञान होने पर भी अज्ञान स्थित रह सकता है। इस दृष्टि से यह कहना अनुचित नहीं होगा कि जब हम यह कहते हैं कि "मैं नहीं जानता" तो यह एक विशिष्ट प्रकार की प्रत्यक्ष (उपलब्धि) है जो अनिश्चितता अथवा अज्ञान का सूचक है। हमारा यह भी अनुभव है कि हम यह जानकर कि इस विषय में हमको निश्चित रूप से अज्ञान है, हम उस अज्ञान को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। अत: यह स्पष्ट है कि अज्ञान का प्रत्यक्ष अभाव के प्रत्यक्ष से भिन्न है। हमारी प्रत्यक्ष चेतना (साक्षी चैतन्य) इस प्रकार की है कि यह ज्ञान और अज्ञान दोनों को ग्रहण करती है, दोनों को ही उनके अनेक रूपों में समझने में समर्थ है।

न्याय दर्शन की दृष्टि से एक विशेष प्रकार की शंका उत्पन्न की जाती है कि विशेषण के बिना विशेष्य का ज्ञान संभव नहीं है। वस्तु को जाने बिना उसके विषय में चेतना में किसी प्रकार का अनिचय नहीं हो सकता। वेदान्त का उत्तर है कि यह कथन मान्य नहीं है कि विशेषण के बिना विशिष्ट वस्तु का ज्ञान संभव नहीं है। कई स्थितियों में हम पहले वस्तु को देखते हैं और फिर उसके गुण तथा स्वभाव को जानते हैं। यहां अभाव एक निश्चित अति-

रिक्त तत्त्व न होकर केवल 'भाव' का ही अन्य रूप है। इस तर्क से तो नैयायिक भी सहमत होंगे कि जब हम यह कहते हैं कि 'यहां' घट का अभाव नहीं है तो हम किसी अभाव की अतिरिक्त तत्त्व के रूप में कल्पना नहीं करते क्योंकि घट हमारे सामने पहले से ही स्थित है। जिस प्रकार उन वस्तुओं के सम्बन्ध में हमें भ्रान्ति हो सकती है जो अस्तित्वमय हैं, जिनका निश्चित भाव है, उसी प्रकार उन वस्तुओं के सम्बन्ध में भी भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है, जिनका अभाव है। जैसे मृगमरीचिका में जल के अभाव में जल की भ्रान्ति होती है। अतः यह मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि अभाव भी माया के कारण अनेक रूपों में मन को भ्रान्त करता है।

'अज्ञान' की उपस्थिति का अनुमान इससे भी किया जा सकता है कि जब हम किसी विशेष सन्दर्भ में उस विषय का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं जिसके बारे में हमने पहले यह कहा था कि हमको इस सम्बन्ध में कुछ पता नहीं है, तो उस अज्ञान का निवारण हो जाता है। जैसे अंधकार में प्रकाश की किरण प्रकट होती है उसी प्रकार अज्ञान अंधकार के आवरण को दूर करने वाले ज्ञान के प्रकाश का उदय होता है। इसके अतिरिक्त अज्ञान के कारण ही माया की उत्पत्ति होती है। अज्ञान ही सारी भ्रांति का आधार है। अज्ञान ही माया तत्त्व है। ब्रह्म को हम माया नहीं कह सकते क्योंकि वह शाश्वत अविकारी, अनन्त तत्त्व है। इस अज्ञान के कारण ही वह अपने सत्, चित् और आनन्द रूप में प्रकट नहीं हो पाता। यदि अज्ञान नहीं होता तो वह हमको सदैव ही प्रत्यक्ष दिखाई देता। यह अज्ञान हमको अपनी 'साक्षीचेतना' से दिखाई देता है, जो हमें सभी भौतिक वस्तुओं के प्रत्यक्ष में सहायक है। यह साक्षीचेतना हमारे शुद्ध 'चित्' से भिन्न है। शुद्ध चित् रूप अविद्या के कारण साक्षी चेतना के रूप में प्रकट होता है जिससे हम संसार के माया-व्यापार का प्रत्यक्ष करते रहते हैं। जैसे ही इस अविद्या का नाश होता है शुद्ध चित् रूप सच्चिदानन्द ब्रह्म प्रकट हो जाता है।

अज्ञान का आधार चित् है। चित् प्रकाशमय है। जब मनुष्य की चित्त-वृत्तियां शुद्ध चित् रूप धारण करती हैं तो अज्ञान का विनाश हो जाता है। इसके पूर्व चित् अज्ञान के आवरण में छिपा रहता है। अज्ञान का अधिष्ठान शुद्ध चित् रूप है, माया से अभिभूत 'अहम्' के पीछे जो 'चित्' है वह स्वयं अज्ञान से उत्पन्न होता है। परन्तु वाचस्पति मिश्र के विचार में शुद्ध चेतन रूप अज्ञान का आधार नहीं है। अज्ञान का आधार जीव है। मध्वाचार्य इन दोनों दृष्टियों में सामंजस्य स्थापित करते हैं कि अज्ञान के कारण जीव के द्वारा चिन्मय रूप देखने में बाधा पहुंचती है अतः वे इसे चित् पर आश्रित होते हुए

भी जीवाश्रित मानते हैं।[26]—यह भावना कि 'मैं कुछ नहीं जानता' अहम् और साक्षी-चेतना के संयोग से उत्पन्न प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में अन्तःकरण और अज्ञान के निकट सम्पर्क का फल है।

जाग्रत् और सुषुप्त दोनों अवस्थाओं में चित् समान रूप से विद्यमान रहता है। किन्तु प्रगाढ निद्रा में अहंकार का लोप हो जाता है। इस अवस्था में अन्तःकरण और अहंकार दोनों ही अज्ञान में विलीन हो जाते हैं और केवल आत्मा और अज्ञान विद्यमान रहते हैं। पुनः जगने पर अंतःकरण के वृत्ति के रूप में अहंकार फिर से उत्पन्न हो जाता है और तब यह अहम् अज्ञान के प्रत्यक्ष को इन शब्दों में व्यक्त करता है कि मैं प्रगाढ़ निद्रा में था, मुझे कुछ पता नहीं था, यह अहंकार 'अन्तःकरण' की वृत्ति है और अविद्या के कारण उत्पन्न होती है। यहां अहंकार आत्मा पर प्रतिस्थापित 'ज्ञान-शक्ति' और 'क्रिया शक्ति' के रूप में प्रकट होता है। अहम् की माया से आत्मा आवृत्त होकर ऐसी प्रतीत होती है कि वही सब कार्यों को कर रही है, पर आत्मा चित् रूप है, अंतःकरण का क्रियाशील तत्त्व 'अहम्' पुरातन वासना-संस्कारों से प्रेरित आत्मा पर सवार होकर अनेक प्रकार के खेल खेलता है। यह अन्तःकरण सन्देह-विवेक के सन्दर्भ में 'मानस' ज्ञान की निश्चित उपलब्धि-क्षमता के रूप में 'बुद्धि' और धारणा शक्ति के रूप में 'चित्' नाम से जाना जाता है। अर्थात् 'मानस' बुद्धि और चित् अंतःकरण के ही विभिन्न रूप हैं।[27] इस अंतःकरण के संयोग में शुद्ध चित् रूप 'जीव' कहलाता है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अज्ञान कोरी कल्पना मात्र नहीं है। सत् के आश्रय पर अज्ञान की स्थिति है, सारे प्रकृति-प्रपंच में अन्तर्निहित मूल तत्त्व यह अज्ञान ही है। अर्थात् इस माया-प्रपंच का कारण अज्ञान ही है। शुद्ध चित् के द्वारा ही अज्ञान अपने वास्तविक रूप में प्रकट होता है। इस माया-प्रपंच के पीछे सत्-चित् रूप छिपा हुआ है। वह भी इसी अज्ञान की गति से स्पष्ट होता है जब अन्तःकरण में शुद्ध वृत्ति के द्वारा ही हमें सत्-चित् रूप दिखाई देता है। जीव के साथ ही अनादिकाल से अनेक संशय, धर्म, अधर्म, संस्कारादि अनेक वृत्तियों को धारण करने वाला अन्तःकरण भी संलग्न हो जाता है और अनेक जन्म-जन्मान्तरों में पूर्व संस्कारों के आधार पर नवीन माया-सृष्टि से उद्भ्रांत होता रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शांकर-वेदान्त के मायावाद में अज्ञान एक मूल तत्त्व के रूप में काम करता है और जगत्-प्रपंच के आभास तथा प्रतीति में इसकी अनिवार्य भूमिका है।

माया एवं लीला

दार्शनिक जगत् में सृष्टि की व्यवस्था के विषय में जहां अन्य अनेक मत

प्रचलित हैं, वहीं इसकी सर्जक की लीला के रूप में भी चर्चा की गई है। अनेक द्वैत तथा अद्वैत प्रस्थानों ने अपने-अपने ढंग से इस पर विचार किया है, साथ ही कुछ प्रस्थानों में इस समस्त लीला-व्यापार को माया से समीकृत करने के प्रयास भी उपलब्ध होते हैं। मध्ववादियों की दृष्टि में यह पंचभेद की प्रकृष्टता का ही प्रतिफलन है।[28] अतः मध्ववादी यथार्थ दृष्टि में जड तत्त्व की सत्ता एवं स्वरूप को लेकर शांकराद्वैत से भिन्न स्थिति की मान्यता स्वाभाविक थी। इनके द्वारा कल्पित द्वैत भ्रांति नहीं है।[29] विश्व की सृष्टि ईश्वर की इच्छा से हुई। आप्तकाम ईश्वर जगत् की सृष्टि केवल लीला के लिए करता है। वादिराजतीर्थ ईश्वर की तुलना उस व्यक्ति के साथ करते हैं जो आनन्दमग्न होकर नृत्यादि करता है।[30] इस प्रकार इस प्रणाली के अनुसार ईश्वर द्वारा सष्टि के रूप में नानात्व प्रदर्शन अपनी क्रीडा अथवा मनोरंजन के लिए है। शांकर वेदान्त के अनुसार ब्रह्म को विश्व का कर्त्ता केवल इस अर्थ में माना जाता है कि यह इसका मूलाधार है। यद्यपि चेतना में से जड की उत्पत्ति विचित्र प्रतीत होती है, तथापि इससे ब्रह्म की धारणा का अपलाप नहीं किया जा सकता। ब्रह्म का कर्तृत्व क्रीडा अथवा लीला मात्र है। अपनी बात को और स्पष्ट करने के लिए लोक से उदाहरण देते हुए शंकर कहते हैं, 'जिस प्रकार संसार में एक धनाढ्य व्यक्ति, जिसको किसी प्रकार का अभाव नहीं होता, बिना किसी विशेष उद्देश्य के, केवल मनोविनोद (क्रीडा) के लिए कार्यकलाप करता है, उसी प्रकार परमेश्वर का कर्तृत्व उसकी लीला के कारण है।' इसी बात को सोमानन्द दूसरे शब्दों में व्यक्त करते हैं। उनके विचार में महेश्वर की सिसृक्षा के पीछे अन्य कोई उद्देश्य नहीं प्रतीत होता सिवाय इसके कि यह उसका क्रीडात्मक स्वभाव है जो उसको आभास प्रक्रिया के लिए प्रेरित करता है। वह अपने को विश्व-प्रक्रिया में संसक्त कर लेता है और संसारी बन जाता है। इसके पश्चात् इस क्रीडा-व्यापार (इदन्ता) के विभिन्न आयामों से गुजर कर वह पुनः अपनी अहंता को वापस आ जाता है। महेश्वर के लीलामय स्वभाव की तुलना वह ऐसे राजा से करते हैं, जो अनेक समृद्धि एवं सेवक-समुदाय के बावजूद खेल खेलते समय पैदल भागता है। खेल के उत्साह में वह भूल जाता है कि वह सम्राट् है और एक सामान्य व्यक्ति जैसा आचरण करने लगता है। यदि वह अपने राजा होने के बारे में सचेत रहे तो खेल हो नहीं सकेगा। उसी प्रकार महेश्वर यद्यपि पूर्ण तथा परम आनन्द की स्थिति में है तथापि वह अपने ऊपर बन्धों का आरोप करता है तथा समस्त प्रमाता एवं प्रमेय के नानात्व का प्रकाशन करता है और पंचकृत्य क्रीडा का आनन्द लेता है।[31] काश्मीर शैव-चिन्तक जगदाभास प्रक्रिया की व्याख्या इन प्रश्नों के परिपेक्ष में करता है—

परासंवित् अपने को अवभासित क्यों करती है ? कौन सा ऐसा उद्देश्य है जिसके कारण पूर्ण परमशिव अपने वास्तविक स्वभाव को भुला देता है ? आत्मगोपन, आत्मानुसीमन तथा यातनामयी क्रीडा में वह क्यों फंसता है ?

यह तो निश्चित है कि महेश्वर की संसारी के रूप में अवभासन के पीछे किसी प्रकार की विवशता अथवा दबाव नहीं है। जगदाभास के रूप में अपने को अभिव्यक्त करने के पीछे एक ही औचित्य प्रतीत होता है कि इस सृष्टि को उसका आत्मविनोद अथवा क्रीडा माना जाय। अरविन्द भी जगदाभास को परमेश्वर की लीला ही मानते हैं। उनकी दृष्टि में, कदाचित् यह (सृष्टि) उस परमेश्वर की अदिव्य की भूमिका अदा करने तथा एक अभिनेता जैसा मुखौटा तथा प्रसाधन का प्रयोग करने का व्याज मात्र है। उसका एकमात्र उद्देश्य यह है कि वह नाटक का पूरा आस्वाद ले सके।'[32]

उस सच्चिदानन्द एवं परमपूर्ण महेश्वर के मन में इस सृष्टि के प्रथन की इच्छा क्यों उत्पन्न होती है ? इस प्रश्न के उत्तर में प्रत्यभिज्ञा दर्शन कहता है कि पंचकृत्यकारिता की लीला करना उस महेश्वर का स्वभाव है, जिस प्रकार जलना वह्नि का स्वभाव है। चूंकि उसे एकाकी रहना पसन्द नहीं है अतः वह अपने को अनेक प्रमाता एवं प्रमेय के रूप में प्रकाशित करता है। अपने आत्मप्रच्छादन स्वभाव के कारण वह सदैव आत्मगोपन तथा आत्मप्रकाशन के व्यापार में दत्तचित्त रहता है।[33] आभास की संभावना की व्याख्या करने के लिए परमतत्त्व द्वारा आत्मप्रच्छादन अथवा आत्मगोपन के सिद्धान्त शैव तथा वेदान्त दोनों प्रस्थानों ने स्वीकार किया है। जहां शैवतन्त्र में आत्मप्रच्छादन को यथार्थ आभास माना गया है, वेदान्त में इसका अभिप्राय ब्रह्म की प्रतीयमान अवस्था लिया गया है। यद्यपि मणि, दर्पण आदि के उपमान दोनों प्रवृत्तियों में प्रकट होते हैं तथापि उनके प्रयोगों में दोनों में मतभेद है। वेदान्त के अनुसार भ्रान्त अथवा प्रतीयमान विश्व अनुभूति के साथ पूरा मेल खाता है। प्रमाता तथा प्रमेय का मिश्रण व्यावहारिक जीवन का आधार है। सर्प-रज्जु तथा शुक्तिरजत के निदर्शन में प्रतीयमान सृष्टि का व्यावहारिक आधार है। समुद्र तथा उसकी तरंगे, मृत्तिका तथा पात्र, मणि तथा उसका प्रतिबिम्ब यद्यपि भिन्न प्रतीत होते हैं, तथापि वे अभिन्न हैं। उसी प्रकार ब्रह्म तथा जगत् भिन्न प्रतीत होते हुए भी पारमार्थिक दृष्टि से अभिन्न हैं। यही भेदावभासन ही परमेश्वर की लीला है।

वस्तुतः शांकर वेदान्त विश्व की व्याख्या में अधिक रुचि नहीं रखता। वेदान्त में सृष्टि-व्यवस्था का विवेचन ब्रह्म के अद्वैतत्व प्रतिपादन के लिए हैं। इसीलिए वह विश्व को इसके ऊपर पूर्ण रूप से अवलम्बित प्रदर्शित करता है।

इसके विपरीत काश्मीर-शैव-चिन्तक का प्रयास महेश्वर के स्वभाव के पूर्णत्व को सिद्ध करना तथा स्थापित करना है। चूंकि सीमित प्रमाता परम सत्ता के पूर्णत्व का बोध नहीं कर पाते अतः विचार में भिन्नता तथा विरोधाभास स्वाभाविक है। सत्ता के उच्चतर दृष्टिकोण में इन सभी भिन्नताओं तथा विरोधाभासों में सामञ्जस्य हो जाता है। यदि असीम की तर्कसम्मत कल्पना नहीं की जा सकती, तो उसके ऊपर सीमित पदार्थों की सीमाओं का आरोपण भी असंगत होगा। जो सीमित पदार्थों के सन्दर्भ में असंभव प्रतीत होता है। आवश्यक नहीं कि वह वैसा ही असीम के सन्दर्भ में भी हो। यद्यपि जगत् भ्रांतिमय प्रतीत होता है तथापि उसका अवभासन परमेश्वर ने स्वयं किया है। विश्व का आभास, निस्सन्देह अज्ञान के कारण है, किन्तु अज्ञान का कारण परमेश्वर की स्वातन्त्र्य-शक्ति है।[34] चूंकि समस्त पदार्थों का पृथक् आभास तर्क से परे है, इसीलिए प्रमेय अपनी समग्रता में माया कहलाता है जो भेद-प्रथन की दृष्टि से परम चेतन महेश्वर की स्वातन्त्र्य-शक्ति है।[35] इस प्रकार यह भेद-प्रथन परमेश्वर की विनोदपूर्ण प्रकृति तथा लीला का परिचायक है। किन्तु इस भेद-व्यापार में माया की भूमिका अनिवार्य है अतः इस समस्त लीला-विलास को माया से समीकृत किया गया है। इस रहस्य को जो समझ लेता है वह सच्चा योगी तथा जीवन्मुक्त कहलाता है।[36]

अर्थात् जीव-मुक्त समस्त जगत् को आत्मक्रीडा अथवा आत्मशक्ति के विलास के रूप में देखता है। उसकी भोग्यावस्था कभी खंडित नहीं होती। भेद और अभेद व्युत्थान और निरोध दोनों के अन्दर साम्यदर्शन होने पर और कोई आशंका नहीं रह जाती; क्योंकि दोनों एक के ही दो प्रकार हैं। इसी को शिव-शक्ति का सामरस्य या चिदानन्दप्राप्ति कहते हैं। इस प्रकार माया तथा लीला परस्पर इतना घुले मिले हैं कि एक का दूसरे से भेद करना कठिन है। स्पष्ट शब्दों में माया ही परमेश्वर की लीला का व्यावहारिक पहलू है और इसी के माध्यम से विश्व के नानात्व का प्रथन होता है।

माया तथा मिस्टिसिज्म

दक्षिण के शैवमतों—विशेष रूप से वीर शैवमत तथा दक्षिण शैव सिद्धान्त और काश्मीर शैवमत में जहां अन्य अनेक भेद हैं, वहीं इसमें विद्यमान रहस्यवादी प्रवृति (मिस्टिसिज्म) भी इसको दक्षिण के पुरातन तथा मताग्रही शैव मतों से भिन्न धरातल पर प्रतिष्ठित कर देती है। इसमें जहां तत्त्वमीमांसा सम्बन्धी पूर्ण विकसित प्रणाली की उद्भावना हुई है, वहीं साधनामूलक प्रवृत्तियों को भी पूर्ण प्रश्रय मिला है और उस साधनाप्रणाली को विश्व

वैचित्र्य के साथ समन्वित करने के प्रयास किए गए हैं। यहां महेश्वर जहां एक ओर विश्व का कर्त्ता तथा नियामक है वहीं यह अनुत्तर के रूप में रहस्यवादी चिन्तन का केन्द्र बिन्दु है तथा साधक अपनी साधना के द्वारा इसके साथ सामरस्य प्राप्त करके विश्व के नानात्व को भी उसी में विश्रान्त कर देता है। विश्व के नानात्व अथवा अशुद्ध जगत् का बोध उसे माया के माध्यम से होता है। अतः माया तथा रहस्यवादी चिन्तन (मिस्टिसिज्म) को भी इस दृष्टि से समीकृत किया जा सकता है।

आगमिक प्रणाली के उदय से पूर्व काश्मीर में अनेक धार्मिक तथा आध्यात्मिक विचारधाराओं का संगम हुआ। ईरान की नागर संस्कृति तथा सूफीमत के प्रभाव ने इस प्रणाली में रहस्यवादी प्रवृत्ति को जन्म दिया अतः इसमें विश्वतत्त्वचिन्तन के साथ ही साथ इस विश्वप्रक्रिया को पीछे काम करने वाली रहस्यमयी शक्ति के अनुसन्धान का प्रयास भी चलता रहा। इस प्रकार इस प्रणाली में चिन्तन एवं साधना के समन्वित प्रयास ने विश्व के रहस्य को समझने तथा इसे व्याख्यायित करने में एक विशेष भूमिका निभायी। अब हमें देखना है कि इस प्रयास में माया का कहां तक योग है तथा उसे उसके साथ कहां तक सम्बद्ध अथवा समीकृत किया जा सकता है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के साधनापक्ष पर जहां ईरान तथा अन्य पश्चिम एशियाई देशों की आध्यात्मिक रहस्यवादी प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ा, वहीं इसके मूलस्रोत तन्त्रों की आध्यात्मिक दृष्टि भी वस्तुतः रहस्यवादी थी। इस प्रकार त्रिक-रहस्यवाद में दोनों दृष्टियों का सामञ्जस्य रूप है। स्वातन्त्र्य रहस्यवाद का अनन्य अंग है। यहां आत्मा की अत्यन्त स्वतन्त्र अभिव्यक्ति को बढ़ावा दिया जाता है तथा यह स्वतन्त्र इच्छा के विकास में प्रेरक शक्ति का काम करती है। रहस्यवाद तथा स्वतन्त्र इच्छा प्रेरणाप्रद निर्देशन के माध्यम से समन्वयवादी भावना प्राप्त करते हैं। एक रहस्यवादी साधक तर्कों एवं विवादों के झमेले में नहीं पड़ता। वह प्रतिवादों तथा प्रत्याख्यानों की प्रवृत्ति से भी दूर रहता है। उसका अभिप्रेत होता है—सभी भेदों को मिटाकर एक विश्वमयता एवं एकत्व की समन्वयवादी समग्रता का विकास। इसीलिए समन्वय भी काश्मीर शैवदर्शन का एक विशेष गुण बन गया है। यह किसी प्रकार के द्वैतवाद तथा बहुत्ववाद को स्वीकार नहीं करता। यह तो अन्तर्मुखी दृष्टि, साधना, वैयक्तिकता तथा आत्मिक शक्ति पर विशेष बल देता है। इसके अनुसार पूर्ण निर्वृति की प्राप्ति के लिए आत्म तथा अनात्म का एकीकरण अनिवार्य है। यही वस्तुतः परमसत्ता है—'अनुत्तर' अथवा 'शिव' है। शिव से परे किसी अन्य सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती।

इसीलिए शिव को अपरिभाषेय माना गया है। इसके विषय में हम कोई शंका नहीं कर सकते। इसका समाधान वाणी द्वारा संभव नहीं है। यह 'अनुच्छिष्ट' है। मोजेज ने झाड़ी की आग के सामने चिल्लाकर पूछा, 'उसका नाम क्या है, मैं उसे क्या कह कर पुकारूं?' उसे इसका जो उत्तर मिला वह अविस्मरणीय है; 'और ईश्वर ने मोजेज से कहा—मैं हूँ जो मैं हूं और उसने कहा कि तू अपनी इजरायली सन्तानों से इसी प्रकार कहना कि 'मैं हूं' ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है।[37] यहां 'मैं' और 'तुम'—जीवात्मा और विश्वात्मा एक हो गए हैं। वेद उसके बारे में कहता है, 'वह सभी देवों को दिया हुआ एक नाम है, उसी में अन्य सभी प्राणी समाहित हो जाते हैं। सभी प्रश्नों का वही एक उत्तर है।[38]

शैवमत, वेदान्त, सांख्य तथा बौद्धमत सभी ने इस बात पर बल दिया है कि उक्त यथार्थ का साक्षात्कार आत्मानुशासन द्वारा ही संभव है। मोजेज ने भी ईश्वर की प्राप्ति के लिए कठोर आत्मानुशासन पर ही जोर दिया था।[39] रहस्यवादी निर्वृत्ति अथवा आनन्द सामूहिक उपलब्धि नहीं है। यह विशुद्ध वैयक्तिक उपलब्धि है। आत्मानुसाशन के बिना आन्तरिक गौरव का यह आनन्द अनुपलभ्य है। उपनिषद् में तो इस प्रकार के दिव्य एवं आन्तरिक आनन्द के असंख्य उद्गार हैं। शैवागमों द्वारा प्रतिपादित आनन्द तथा शक्तिपात आदि की धारणा के सादृश्य विश्व के प्रायः सभी प्राचीन रहस्यवादी चिन्तनों में उपलब्ध होते हैं। सूफीमत भी उसी प्रकार की आध्यात्मिक प्रवृत्ति का रूप है।

अनेक रहस्यवादी साधकों ने अपने धार्मिक मतभेदों तथा धर्मरूपों की विभिन्नता के बावजूद इस प्रकार के साक्षात्कार का एकमात्र रूप आत्मानन्द को ही स्वीकार किया है। इनके धार्मिक उद्गारों में अन्तर हो सकता है, आध्यात्मिक अनुभूतियां सबकी एक जैसी हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रहस्यवादी साधना आत्मिक आनन्द पर विशेष बल देती है। यह आत्मिक आनन्द परमसत्ता के साथ तादात्म्य का द्योतक है। इसी को तान्त्रिक साधना में शिव के साथ सामरस्य अथवा समावेश कहा गया है। सामरस्य अथवा समावेश अभेद-दृष्टि के परिचायक हैं, किन्तु इस अभेद की स्थिति तक पहुचने के लिए भेद की प्रक्रिया से गुजरना आवश्यक है। माया इसी भेद की प्रक्रिया की द्योतक है। साधक के लिए भी परमसत्ता के रहस्य को समझने के पूर्व माया के रहस्य को समझना आवश्यक है, अर्थात् यह शिवसामरस्य तक पहुंचने की एक सोपान है। इसीलिए इसे रहस्यवादी

साधना के साथ सम्बद्ध किया जाता है। अब देखना यह है कि तान्त्रिक चिन्तन में इस सम्बन्ध को किस दृष्टि से देखा गया है।

पं० गोपनाथ कविराज ने इस सम्बन्ध में दो मतों का उल्लेख किया है।[40] (1) प्रथम मत तो यह है कि शिव की दो शक्तियां हैं—समवायिनी और परिग्रहरूपा। समवायिनी शक्ति चिद्रूपा, अपरियामिनी, निर्विकारा, और स्वाभाविकी है। इसे ही शक्ति तत्त्व माना गया है। यह निरन्तर शिव में समवेत रहती है। परिग्रह शक्ति अचेतन और परिणमनशीला है। यही विन्दु कहलाती है। बिन्दु के दो रूप हैं—शुद्ध एवं अशुद्ध। सामान्यतः शुद्ध रूप को ही विन्दु तथा महामाया कहा गया है। अशुद्ध रूप को माया कहते हैं। ये दोनों ही नित्य मानी गई हैं। शुद्ध अध्वा का उपादान कारण महामाया और अशुद्ध अध्वा का उपादान कारण माया है। दोनों में यही मौलिक भेद है। सांख्य प्रतिपादित तत्त्व तथा कलादि कंचुक अशुद्ध अध्वा के अन्तर्गत हैं। यह सब माया ही का कार्य है। पुरुष अथवा आत्मा अवश्य ही नित्य है तथा इनसे विलक्षण है, किन्तु उसमें भी पुंस्तत्त्व नामक आवरण रहता है। माया से ऊपर के तत्त्व शुद्ध अध्वा के अन्तर्गत हैं।

(2) दूसरे मत के अनुसार एकमात्र बिन्दु ही शुद्ध एवं अशुद्ध अध्वा क उपादान है। इसमें माया नित्य नहीं है, किन्तु कार्यरूपा है। महामाया अथवा बिन्दु की तीन अवस्थायें हैं—परा, सूक्ष्मा एवं स्थूला। परा अवस्था, महामाया, परामाया तथा कुंडलिनी आदि नामों से भी पुकारी जाती है। यही मूलकारण तथा नित्य है। सूक्ष्म तथा स्थूल अवस्था में कार्य होने के कारण अनित्य है। महामाया के विक्षुब्ध होने पर ही उसके द्वारा शुद्ध धामों तथा उनमें रहने वाले मन्त्रों (विद्यायों) एवं मंत्रेश्वरों (विद्येश्वरों) के शरीर और इन्द्रियादि की रचना होती है। ये शुद्ध, मायातीत और उज्ज्वल हैं। महामाया की सूक्ष्म अथवा दूसरी अवस्था का नाम माया है। कलादि पंचकंचुक का समग्र रूप माया है। कलादि के सम्बन्ध के कारण ही द्रष्टा आत्मभोक्ता पुरुष के रूप में परिणत होता है। समूचे अशुद्ध अध्वा का मूलकारण यह माया ही है। आगम में इसे 'जननी' और 'मोहिनी' दोनों कहा गया है। महामाया की स्थूल तथा तीसरी अवस्था प्रकृति कहलाती है। यह त्रिगुणात्मिका है। प्रकृति साक्षात् अथवा परम्पराक्रम में भोक्ता पुरुष के बुद्धि आदि भौतिक उपकरणों तथा समस्त भोग्य विषयों को उत्पन्न करती है। कलादि कंचुकों के सम्बन्ध से पुरुष भोक्ता हो गया है। इससे उसके भोग तथा भोग-साधनों की सृष्टि के लिए महामाया ने प्रकृति रूप स्थूल अवस्था ग्रहण की है।

जैसा कि ऊपर कहा गया बिन्दु शिव में समवेत नहीं होती बिन्दु परिणामी

होने के कारण जड है। इसी से चिदात्मक परमेश्वर के रूप से इसका समवाय सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। ऐसा करने पर उनके अचेतन तत्त्व का प्रसंग अनिवार्य हो जायेगा।

तंत्रों द्वारा प्रतिपादित माया तत्त्व नित्य, विभु और एक है। किन्तु इसमें विचित्र शक्ति है। सृष्टि के आरम्भ में यह ईश्वर-शक्ति द्वारा क्षुब्ध होकर कला, काल और नियति इन तत्त्वों की सृष्टि करता है। इनमें कला तत्त्व मल शक्ति को किंचित् अभिभूत करके आत्मा की चेतना-शक्ति का किंचित् उद्बोध करता है। फलतः आत्मा का स्वरूप उसके द्वारा अनुविद्ध होने के कारण उसमें अपने व्यापार के लिए स्वल्प मात्रा में कर्तृत्व भाव का विकास होता है। मल आत्मा का पराभव नहीं करता तो उसकी शक्ति में अवरोध तो उत्पन्न करता ही है। शक्ति ही कारण है, अतः कला तत्त्व आत्म शक्ति के मल रूप आवरण को थोड़ा सा हटा कर तथा आत्मा के कर्तृत्व को किंचित् उद्बुद्ध करके आत्मा की अपने कर्मफल-भोग में सहायता करता है। बुद्धितत्त्व का विषय से उपराग ही आत्मा का भोग है। यह एक प्रकार का संवेदन है जिसका स्वरूप प्रवृत्तियों में अभिन्न रूप से भासित होता है।

माया में क्षोभ अनन्त नामक विद्येश्वर के द्वारा होता है। तान्त्रिक चिन्तक माया के क्षोभ में परमेश्वर का साक्षात् कर्त्तृत्व स्वीकार नहीं करते। हां, उनका प्रयोजकत्व अवश्य स्वीकार करते हैं, क्योंकि उनसे अधिष्ठित हुए बिना अनन्तादि का कर्त्तृत्व सम्भव नहीं है। किरणागम कहता है—"शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्त्ता प्रोक्तोऽनन्तोऽसिते प्रभुः' अर्थात् शुद्ध अध्वा में शिव कर्त्ता है जबकि अशुद्ध अध्वा में अनन्त को कर्ता माना गया है।

माया का इस प्रकार विभिन्न भुवनादि एवं अनेक देह और इन्द्रिय रूप, अर्थात् कर्मफल-भोग के साधन रूप में परिणत होना विविध-बन्धन-युक्त सकल नामक पशु के लिए ही है। इन पशुओं में आत्मा में आत्माभिमान रूप मायीय मल सुख-दुःख एवं मोह का हेतुभूत विपर्यय तथा अशक्ति प्रभृति भावप्रत्ययात्मक कार्म मल और पशुत्व की प्राप्ति करने वाला अनादि आवरणमय आणवमल रहते हैं। तान्त्रिक दृष्टि से शरीरी और अशरीरी आत्मा के कर्त्तृत्व में कुछ भेद हैं, इसलिए परमेश्वर का अपनी शक्ति द्वारा किया हुआ बिन्दु या महामाया का विक्षोभ और अनन्त द्वारा किया हुआ माया का विक्षोभ एक प्रकार के व्यापार नहीं हैं। शिव की अपनी शक्ति शुद्धा संवित् अर्थात् विशुद्ध निर्विकल्पक ज्ञान है। किन्तु अनन्त की अपनी शक्ति सविकल्पक ज्ञान अथवा विकल्पक विज्ञान है। यह बात नहीं है कि शरीर एवं इन्द्रिय आदि के साथ सम्बन्ध न होने पर कर्त्तृत्व नहीं हो सकता, क्योंकि अशरीर आत्मा का भी अपनी देह के स्पन्दनादि में कर्त्तृत्व देखा जाता है। आत्मा के साथ मल आदि का सम्बन्ध होने पर ही

शरीरादि की आवश्यकता होती है। शिव मल से रहित होता है अतः उसके कर्तृत्व में शरीरादि की अपेक्षा नहीं होती। मायापति अनन्त सर्वथा मलरहित नहीं है, क्योंकि उसमें अधिकतर मल रहता है। शरीर बैन्दव या महामाया के उपादान से निर्मित है। अनन्तादि को सविकल्पक ज्ञान कैसे होता है—इस विषय में तन्त्र का विचार है कि 'यह घर है' ऐसा परामर्शस्वरूप शब्दोल्लेख होने पर आत्मा को सविकल्पक ज्ञान होता है, अर्थात् चेतन को शब्दानुवेध से सविकल्पक ज्ञान होता है—'सविकल्प विज्ञानं चितेः शब्दानुवेधतः।' अतः अनन्त के विज्ञान में शब्दोल्लेख अनिवार्य रूप से रहता है। किन्तु यह शब्दोल्लेख किस प्रकार सम्भव है? तान्त्रिक लोग स्थूल आकाश को इस शब्द के अभिव्यंजक रूप में स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार परमेश्वरजनित महामाया या बिन्दु का क्षोभ होने पर ही शब्द की उत्पत्ति होती है। महामाया ही कुंडलिनी या परव्योम-स्वरूपा है। इसका परिणाम ही शब्द है। पंचभूतों में प्रथम तत्त्व आकाश जैसे अवकाशदान तथा स्थूल शब्द के अभिव्यंजन से सूर्य चन्द्र आदि ज्योतिर्मंडल का भोग एवं अधिकार सम्पादन करता है, उसी प्रकार विन्दु रूप परमाकाश भी अवकाशदान तथा शब्दव्यंजन के द्वारा शुद्ध जगत्निवासी शिवों को, अर्थात् सर्वज्ञत्व एवं सर्वकर्तृत्व से सम्पन्न विद्येश्वरों के योग और अधिकार का कारण बनता है।

बिन्दु परा पश्यन्ती आदि अपनी शब्दात्मिका वृत्तियों के सम्बन्ध से 'यह घट लाल है', इस प्रकार के परामर्श रूप विकल्प का उल्लेख करते हुए सविकल्पक ज्ञान को उत्पन्न करता है। जात्यादि विशेषण विशिष्ट सविकल्पक ज्ञान शब्दा-नुविद्ध होकर ही उत्पन्न होता है। यह ज्ञान प्रत्यक्षानुभव है। इसको पूर्वानुगत वासनात्मक संस्कार अथवा भावना के रूप में नहीं स्वीकार करना चाहिए। अध्यवसाय बुद्धि का कार्य है। इसलिए कुछ लोग सविकल्पक अनुभव को भी बुद्धि का कार्य समझते हैं। किन्तु तन्त्र के मत में अध्यवसाय बुद्धि का परिणाम होने पर भी विकल्प ज्ञान का उद्भव बिन्दु के कार्य शब्द के सहकार से ही होता है। माया के ऊपर बुद्धि नहीं है—यह बात सत्य है, किन्तु विद्येश्वर आदि शुद्ध जगत्वासियों का विकल्पानुभव बुद्धिजनित नहीं है, उसका एकमात्र निमित्त वाक्शक्ति ही है। उपर्युक्त विवेचन में विकल्प ज्ञान की प्रक्रिया से स्पष्ट हो जाता है कि अनन्त विकल्प ज्ञान के द्वारा माया को क्षुब्ध करके किस प्रकार जगत् की सृष्टि करते हैं।

बिन्दु की शब्दात्मिका वृत्ति चार प्रकार की मानी गई है—वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा। अणु अर्थात् जीवमात्र में ही इन वृत्तियों की सत्ता होती है। इन वृत्तियों के भेद से किसी का ज्ञान उत्कृष्ट, किसी का मध्यम और

किसी का विकृष्ट माना जाता है। इसका अतिक्रमण करने से ही पुरुष को शिव सामरस्य अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि माया अपनी विभिन्न स्थितियों एवं प्रक्रियाओं द्वारा रहस्यवादी साधना में पर्याप्त रूप से सहायक है। विशेष रूप से इसकी मनोवैज्ञानिक एवं शाब्दिक प्रक्रिया के माध्यम से साधक विश्व के नानात्व तथा भेदावभास को सम्यक्रूपेण समझ लेता है तथा अनन्त अपनी साधना के बल पर समस्त नानात्व एवं भेदमयता को शिव में विश्रान्त कर देता है तथा स्वयं भी शिवमय हो जाता है। यही शिवमयता अथवा शिवत्वलाभ ही समावेश कहलाता है और इसी स्थिति तक पहुंचने के लिए रहस्यवादी साधक आत्मानुशासन एवं योगिक आचार में सतत् क्रियाशील रहता है। त्रिक-साधना में इस समावेश का विशेष महत्त्व है। इस आचार की सभी साधनाओं का लक्ष्य समावेश ही होता है। यह समावेश तीव्र इच्छा शक्ति के निर्विकल्पक प्रयोग से भी हो जाता है और सुदृढ़ कल्पनामय भावना के सविकल्पक प्रयोग से भी इच्छा शक्ति के प्रयोग से यह स्थिति इतनी सद्यः प्राप्त हो जाती है जिस प्रकार बिजली का स्विच दबाते ही बल्ब जल उठता है अथवा पंखे चल पड़ते हैं। किन्तु शैवी साधना में दीक्षा का बड़ा महत्त्व है। योग्य गुरु की सहायता से उत्कृष्ट एवं निष्ठावान् साधक को शिवत्वलाभ अथवा समावेश इच्छा शक्ति के प्रयोग के बिना भी हो जाता है। उसे गुरु केवल इतना समझा देता है कि—'तुम वस्तुतः शुद्ध संवित् ही तो हो। अतः स्वयं अपने प्रकाश से प्रकाशमान् हो। तुम्हें प्रकाशित करने के लिए किसी उपाय की आवश्यकता नहीं। तुम स्वयं अपने स्वभाव से ही परिपूर्ण परमेश्वर हो। तुम्हारी परमेश्वरता भी स्वयं अपने प्रकाश से ही प्रकाशमान है। अतः तुम्हें उपायों की क्या आवश्यकता? फिर समस्त उपाय तुम्हारी अपेक्षा मलिन हैं। वे तुम्हें प्रकाशित नहीं कर सकते। अतः बिना किसी उपाय के ही अपने ही भीतर अपनी परमेश्वरता का स्वयमेव विमर्श करो।'[41] इस प्रकार का उपदेश सुन लेने पर शिष्य गुरु के अनुग्रह से उसके दृष्टिपात से, उसके हाथ से दिए हुए किसी भोज्य पदार्थ के खाने से या इसी प्रकार के किसी अन्य हेतु मात्र से ही बिना किसी योग का आभास किए ऐसे ही शिवभाव की अनुभूति प्राप्त कर लेता है।[42] फिर उस समावेश के पुनः पुनः अभ्यास से उसको अपने शिवभाव का संस्कार इतना प्रबल हो जाता है कि सांसारिक व्यवहार को करते हुए भी उसे शिवभाव के विमर्श का चमत्कार दिन-रात चलता ही रहता है। इस प्रकार के समावेश को अनुपाय समावेश कहते हैं। इस अनुपाय समावेश से ही प्राणी उत्कृष्ट जीवन्मुक्ति का पात्र बन जाता है। साथ ही साथ अपनी स्वभावभूत परमेश्वरता का साक्षात् अनुभव भी करता

रहता है। त्रिक आचार की यह साधना सर्वोत्कृष्ट साधना कहलाती है इसे आनन्दयोग भी कहते हैं।[43]

सन्दर्भ एवं टिप्पणियां

1. (क) नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति।
छान्दोग्य० 1-1-10

(ख) तद्यथा तृणाजलायुकातृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां शमग्निप्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्योप्मानमुपसंहरति।
वृहदा० 4-4-3

2. तथाप्यन्योन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्येतरेतरा विवेकेन, अत्यन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।
शा० भा०, प्रस्तावना

3. ड्यूसन, सिस्टम ऑफ द वेदान्त, पृ० 302
4. अहम् अज्ञ इत्याद्यनुभवात्।
वेदान्तसार, पृ० 4

5. विवेकचूडामणि, पृ० 3
6. शां० भा०, वृहदारण्यक० 1-4-10
7. आश्रयत्वविषयत्वमानिनी निर्विमाग चितिरेव केवला
सं० शा० 1 : 319

8. ड्यूसन, सिस्टम ऑफ वेदान्त, पृ० 302
9. श्रुतिदर्शितेन क्रमणे परमेश्वरेण सृष्टम् अज्ञातसत्तायुक्तमेव विश्वं तत्तद्विषयप्रमाणावतरणे तस्य तस्य दृष्टिसिद्धिः।
सि० ले० सं०, 2

10. अद्वैतसिद्धि, पृ० 595
11. इंडियन थॉट, खण्ड 2, पृ० 177
12. पंचदशी, 16-17
13. शां० भा० छान्दोग्य० 3 : 14, 2
14. अविद्यात्मिका हि सा बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया माया।
शां० भा० 1 : 4, 3

15. लंकावतार सूत्र, 21-22
16. अनादिकालप्रपंचवासना हेतुकंच ।

लंकावतार, पृ० 44

17. लंकावतार सूत्र, पृ० 80
18. लंकावतार, पृ० 109
19. वही, पृ० 109
20. डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय, अभिनवगुप्त, ए हिस्टॉरिकल एण्ड फिलसाँफिकल स्टडी, नवीन संस्करण, पृ० 409
21. चित्तत्वस्यवैश्वरस्य मायाशक्त्या भेदावभासिन शरीरे बुद्धावान्तरे स्पर्शे तदवतीर्णे वाकाशे इव शून्य एव कल्पितेऽहमिति प्रभातृभावेन विमर्श: तत्तदाभासमान शरीरादि प्रतियोग्यपोहनकरणाद्घटोऽयमितिवद् विकल्प एव ।

ई० प्र० वि० 1-6-5

22. तेषामपि आभासानां यथोचितं यत् अन्योन्यनान्तरीयकत्वं तदेकेन संवेदनरूपेण तदेकप्रमिताभास विषयपूर्वंप्रवृत्त संवेदनकलानुप्राणकान्तर्मुखरूपेण निश्चीयते, तच्च ऐक्याभासमात्रे अनुसन्धानरूपं प्रमाणम्, अनुसंधीयमानेषु तु आभासेषु गृहीतग्राहित्वादप्रमाणम् ।

ई० प्र० वि० 2, 103

23. विविधाकल्पना, विविधत्वेन च शंकितस्य कल्पो अन्य व्यवच्छेदनं विकल्प: ।

ई० प्र० वि० 1-6-1

24. घटे हि दृष्टे घटस्थान एवाघटोऽपि···सम्भावयते···अघटस्य सत्यारोपे निषेधन लक्षणोऽपोहन व्यापार इति तदनुप्राणता विकलपरूपता घट इत्येतस्य निश्चयस्य ।

ई० प्र० वि० 1-6-2

25. तत्र बुद्धिरध्यवसायसामान्यमात्ररूपा ग्राह्यग्राहकाभिमान रूपोऽहंकार: संकल्पादि कारणं मन: इत्यन्त: करणं त्रिधा ।

वही, 3. 1-11

26. चिन्मात्राश्रितम् अज्ञानम् जीवपक्षपातित्वात् जीवाश्रितम् उच्यते ।

विवरण-प्रमेय, पृ० 48

27. वेदान्त परिभाषा, बम्बई संस्करण, पृ० 88
28. प्रकृष्ट: पंचविधो भेद : प्रपंच: ।

विष्णुतत्त्व निर्णय, पृ० 27

29. परमेश्वरेण ज्ञातत्वात् रक्षितत्वाच्च न द्वैतं भ्रान्तिकल्पितम् ।

वही, पृ० 27

30. युक्तिमल्लिका, पृ० 442

31. यद्यैश्वर्यचमत्कारवासितः सार्वभौमो राजा निरर्गलतया क्रीडया तल्लक्षण-स्वभावायत्तः पदाति सम्बन्धिचेष्टितानि आचरति, तथा परमेश्वर पूर्णत्वात् स्वत आनन्दघूर्णितैस्तैभूतभेदात्मभिः प्रकारैरेवमेतत्सदृशं क्रीडति । हर्षानुसारी स्पन्दः क्रीडा ।

शि० दृ०, 1-37-38

32. अरविन्द, लाइफ डिवाइन, पृ० 369

33. चिद्घनोऽपि जगन्मूर्त्या श्यानोयः स जयत्यजः ।
स्वात्मप्रच्छादनक्रीडा विदग्धः परमेश्वरः ।

प० सा०, पृ० 1

34. अप्रवर्तितपूर्वोऽत्र केवलं मूढतावशात् ।
शक्तिप्रकाशेनेशादि व्यवहारः प्रवर्त्यते ।

ई० प्र० वि०, 2-3-17

35. माया शक्त्या विभोः व भिन्नसंवेद्यगोचरा ।
कथिता ज्ञानसंकल्पाध्वसायादि नामभिः ।

वही 1-5-18

36. इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ।

स्पं० का० 3

37. बाइबिल एक्सोडस, 3. 13-14, 'शैविज्म एण्ड फैलिक वर्ल्ड' में उद्धृत, पृ० 661 ।

38. यो देवानां नामधा एक एव
तं संप्रश्नन् भुवना यान्त्यन्या ।

ऋग्वेद, 10.82-3

39. बाइबिल एक्सोडस

40. गोपीनाथ कविराज, तान्त्रिक दृष्टि, भारतीय संस्कृति और साधना, पृ० 64

41. तस्मात् समस्तमिदमेकं चिन्मात्रतत्वं कालेन अकलितं देशेन अपरिच्छन्नम् उपाधिभिरम्लानम् आकृतिभिरनियन्त्रितं······स्वतन्त्रमानन्दघनं तत्त्वं तदेवाहम्। तत्रैव अन्तर्मयि विश्वं प्रतिविम्बितम् एवं दृढं विविचानस्य शश्वदेव पारमेश्वरो समावेशो निरूपायक एव। तस्य च न मंत्रपूजाध्यानचर्यादिनियन्त्रणा काचित्।

तं० सा० पृ० 8-9

42. तन्त्रा० अ० 2, पृ० 2

43. उपायजालं न शिवं प्रकाशयेद्

घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः।

विवेचयन्नित्थमुदारदर्शनः

स्वयं प्रकाशं शिवमाविशेत्क्षणात्।

तं० सा० पृ० 9

□

षष्ठ उन्मेष

अद्वैत वेदान्त तथा प्रत्यभिज्ञा दर्शन में प्राप्त माया के स्वरूपों की तुलना

प्रत्ययवादी दार्शनिक प्रस्थानों ने विश्व प्रक्रिया की व्याख्या के लिए जिस मायावाद का सहारा लिया है उसके अनेक अर्थ लिये जा सकते हैं। शांकराद्वैत प्रणाली में इसका अभिप्राय पूरे अद्वैत सिद्धान्त के रूप में लिया जा सकता है जिसमें अद्वैतवाद के समस्त सारभूत तत्त्व समाविष्ट हो सकते हैं, उदाहरणार्थ ब्रह्म की यथार्थता, विश्व की प्रातिभासिकता अथवा मिथ्यात्व, तथा एक ओर जीव तथा ब्रह्म का सम्बन्ध और दूसरी ओर माया एवं ब्रह्म का सम्बन्ध किन्तु अपने अधिक परिसीमित अर्थ में शांकर वेदान्त में मायावाद का अर्थ जगत् की प्रातिभासिकता के सिद्धान्त के रूप में ही लिया जा सकता है। इस सम्बन्ध में विचार करते समय निम्नलिखित प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठते हैं—

(1) जिस विश्व का हम प्रत्यक्ष करते हैं, उसकी सत्ता प्रतिभासिक अथवा भ्रान्तिमूलक क्यों मानी जाती है ?

(2) क्या इसको हम युक्तिसंगत दृष्टि से मिथ्या कह सकते हैं ?

(3) इस विश्वभ्रान्ति का कारण क्या है, अथवा इसका कोई कारण नहीं है ?

(4) यदि विश्वभ्रान्ति का कारण ब्रह्म के अतिरिक्त कोई तत्त्व है तो इन दोनों में सम्बन्ध क्या है ?

अद्वैत वेदान्त की एक सामान्य धारणा है कि अद्वैत विद्या के प्रथम एवं अन्तिम स्रोत उपनिषद् हैं तथा उन्हीं में निहित तथ्यों की यहां व्याख्या की गई है। यह सच है कि अद्वैतवाद न केवल श्रुति को ही अपना आधार अथवा अवलम्ब मानकर चलता है अपितु अपने इस दृष्टिकोण का औचित्य भी सिद्ध करने का प्रयास करता है। किन्तु अद्वैत विद्या के अन्यतम व्याख्याकार आचार्य शंकर ने स्पष्ट कहा है कि तर्क का कोई अन्त नहीं होता।[1] किन्तु यदि हम श्रुति को ही अन्तिम प्रमाण मानें तो न हम उक्त सिद्धान्त का निर्वाह कर सकते

हैं, न ही विशुद्ध तर्कों के आधार पर इसकी परीक्षा कर सकते हैं। किन्तु दर्शन परमसत्ता के स्वरूप का ही बौद्धिक अनुसन्धान है, अतः किसी दार्शनिक समस्या पर बुद्धिपरक दृष्टि से विचार करना ही समीचीन होगा। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अप्रतिम एवं जीवन्त व्याख्याकार अभिनवगुप्त भी विश्व-रचना-बोध के सन्दर्भ में तीन आधार मानते हैं। उनमें से प्रथम स्थान वह अनुभूतिजन्य तथ्य को, द्वितीय स्थान तर्क को और तृतीय स्थान शास्त्र-प्रमाण को देते हैं।[2] इस प्रकार प्रस्तुत सन्दर्भ में विवेच्य प्रणालियों के प्रतिनिधि चिन्तकों ने केवल शास्त्र-प्रमाण के आधार पर ही विचार-प्रणाली को विकसित करने पर बल नहीं दिया है अपितु वे बौद्धिक परामर्श तथा अनुभूति को भी चिन्तन का महत्त्वपूर्ण अंग मानते हैं। अतः प्रस्तुत पंक्तियों में विश्व-प्रपंच को लेकर उद्भावित दो सिद्धान्तों: विवर्त तथा उन्मेष पर हम इसी दृष्टिकोण से विचार करेंगे।

विश्व का विवर्त एवं उन्मेष

शंकर ने इस जगत् को ब्रह्म का विवर्त माना है, जबकि उत्पल इसे शिव का उन्मेष कहते हैं। इन दोनों शब्दों में न केवल अर्थ की दृष्टि से भेद है अपितु दोनों की अवधारणात्मक प्रक्रिया भी भिन्न-भिन्न है। एक का अर्थ है—स्वरूपविपर्यास और दूसरे का स्वरूपप्रथन। अर्थात् एक के अनुसार यह जगत् मूल सत्ता के स्वरूप यथार्थ से भिन्न है अर्थात् अयथार्थ है और दूसरे के अनुसार यह उसी के स्वरूप का अवभासन अथवा प्रकाशन है, अतः उससे भिन्न अथवा अयथार्थ होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

शंकर 'विवर्त' की प्रक्रिया का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि जगत् यद्यपि ब्रह्म के ऊपर आश्रित है फिर भी वह ब्रह्म के ऊपर कोई प्रभाव नहीं डालता और इस प्रकार विवर्तोपादान कारण को, जो अपने में बिना कोई परिवर्तन लाये कार्य उत्पन्न करता है, परिणामोपादान कारण से, जो स्वयं कार्य के रूप में परिणत होकर कार्य को उत्पन्न करता है, भिन्न रूप में प्रतिष्ठित करता है। विवर्त का धात्वर्थ है—विपर्यास अथवा उलट जाना। अर्थात् देश-काल से परिच्छन्न यह जगत् ब्रह्म का विवर्त है। दूसरे शब्दों में विवर्त का तात्पर्य है—निरपेक्ष ब्रह्म का देशकालबद्ध जगत् के रूप में प्रतीत होना। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मूलभूत सत्ता तो ब्रह्म है और देश-काल के स्तर पर यह जगत् उसका रूपान्तर है। चूंकि यह रूपान्तर ब्रह्म अपने लिए नहीं हमारे लिए करता है अतः वह अपने अस्तित्व के लिए रूपान्तर पर आश्रित नहीं है। जब दूध दही का रूप धारण करता है तो वह परिणाम अथवा परिवर्तन कहलाता है, किन्तु जब रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है तो इसे विवर्त अथवा आभास कहा जाता है। शंकर द्वारा प्रस्तुत अनेक दृष्टान्तों, जैसे रज्जु एवं

सर्प, शुक्ति एवं रजत, मरुभूमि एवं मृगतृष्णा आदि में कार्य की कारण के ऊपर एकपक्षीय निर्भरता तथा कारण को अपने यथार्थ रूप को सुरक्षित रखने का भाव सन्निहित है। परिणाम की स्थिति में कारण एवं कार्य दोनों ही यथार्थ बने रहते हैं किन्तु आभास की अवस्था में कार्य कारण से भिन्न कोटि का होता है।[3] केवल इतना ही कहा जा सकता है जगत् ब्रह्म के अन्दर वैसे ही स्थित रहता है जैसे रज्जु के अन्दर सर्प।[4]

ऊपर कहा गया कि जगत् ब्रह्म का विवर्त अर्थात् विपर्यास है। अब प्रश्न यह उठता है कि इसका अभिप्राय क्या है ? स्पष्ट है कि ब्रह्म की सत्ता तो यथार्थ है तथा वही एकमात्र यथार्थ है (और सब कुछ मिथ्या है) तो फिर इसके विपरीत जो होगा वह तो अयथार्थ अथवा मिथ्या ही होगा। अतः इस प्रसंग में जगत् के मिथ्यात्व पर भी एक दृष्टि डालना अवांछनीय न होगा।

शांकर प्रणाली में जगत् की सत्ता केवल प्रातीतिक स्तर अथवा व्यावहारिक स्तर पर है, पारमार्थिक स्तर पर नहीं। इस विषय में आचार्य शंकर कहते हैं कि ब्रह्म एवं जगत् तथा एकत्व और अनेकत्व दोनों ही समान रूप से यथार्थ नहीं हो सकते। "यदि एकत्व तथा अनेकत्व दोनों को ही यथार्थ मान लिया जाय तो हम एक ऐसे व्यक्ति के विषय में, जिसका दृष्टिकोण सांसारिक कर्मपरक है, यह नहीं कह सकते कि 'वह असत्य में ग्रस्त है'···और यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है,' इसके अतिरिक्त उस अवस्था में अनेकत्व के ज्ञान से एकत्व का ज्ञान ऊँचा नहीं हो सकता।[5] यही वस्तुतः यथार्थता का निकष है और इसके आधार पर निर्णय करने पर दृश्यमान् जगत् का मिथ्यात्व प्रकट हो जाता है। शंकर के अनुसार यथार्थता तथा प्रतीति एवं तत्त्वपदार्थ और आभास में जो भेद है ठीक वैसा ही भेद विषयी तथा विषय में भी है। पदार्थ-रूप विषय तो, जिनका प्रत्यक्ष किया जाता है, अयथार्थ है किन्तु आत्मा, जो इनका प्रत्यक्ष करती है और स्वयं प्रत्यक्ष का विषय नहीं बनती, यथार्थ है। यथार्थ वह है जो विरोधों से मुक्त हो किन्तु यह जगत् विरोधों से आक्रान्त है। देश-काल और कारण-कार्य की अनिवार्यता में आबद्ध जगत् स्वतः अपनी व्याख्या करने में अक्षम है। सान्त जगत् में समन्वय का ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं जिसके द्वारा इसकी कठिनाइयों का अन्त हो सके। देश-काल तथा कारण-कार्य का विधान, जो समस्त अनुभव के रूप हैं, परम तत्त्व नहीं हैं। उनके द्वारा यथार्थ पर आवरण पड़ा रहता है। यदि हम स्थानों, क्षणों तथा घटनाओं से ऊपर उठ जायें तो यह कहा जाता है कि विविध-

ताओं से पूर्ण यह जगत् छिन्न-भिन्न होकर एकत्व के रूप में आ जाएगा। अत: देश-काल तथा कारण-कार्य-भाव रूपी ढांचों में प्रविष्ट अनुभव केवल प्रतीतिमात्र है। यथार्थ वह है जो सब कालों में विद्यमान है—'त्रैकालिकाद्य-वाध्यत्वम्'। यह वह है जो सदा का है और रहेगा—'कालत्रयसत्तावत्।' यथार्थ ऐसा नहीं हो सकता जो आज है कल नहीं रहेगा। चूंकि आनुभविक जगत् सभी कालों में विद्यमान नहीं रहता अत: यह यथार्थ नहीं हो सकता। इस जगत् को अयथार्थ इसलिए कहा जाता है कि सत्य ज्ञान के द्वारा इसका प्रत्याख्यान हो जाता है।[6] सांसारिक पदार्थ परिवर्तनशील हैं। परिवर्तनशील कोई भी पदार्थ यथार्थ नहीं हो सकता और जो नित्य है, वह सत्य से अतीत है। जो यथार्थ है वह असत् नहीं हो सकता। यदि संसार में कोई वस्तु यथार्थ है तो वह मोक्ष में अयथार्थ नहीं हो सकती। इन अर्थों में परिवर्तनशील जगत् यथार्थ नहीं है। यह जगत् न तो विशुद्ध सत् है और न ही विशुद्ध असत्। विशुद्ध सत् का अस्तित्व नहीं है और न वह जगत् की प्रक्रिया का कोई अवयव है। विशुद्ध असत् एक निर्दोष विचार नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो नितान्तशून्यता भी एक वस्तु होती। शून्य कोई वस्तु नहीं है। जिसका अस्तित्व है वह परिणम-नशील है जो न तो सत् है और न ही असत् है, क्योंकि यह कार्यों को उत्पन्न करता है। सत् तथा असत् का सम्बन्ध ऐसा है जो विरोध से रहित है और सत् असत् के ऊपर विजय पाने का प्रयत्न करता है तथा सत् रूप में परिणत होकर उसका निराकरण करता है। किन्तु तर्क के वल पर असत् को वलपूर्वक सत् की कोटि में लाने का प्रयास व्यर्थ है, क्योंकि इसमें सफलता नहीं मिल सकती। इस सीमित जगत् में सत् का असत् के साथ सम्बन्ध केवल एक-दूसरे से बाह्य होने का नहीं है अपितु दोनों ध्रुवों के समान एक दूसरे से सर्वथा विपरीत दिशा का है। एक पदार्थ दूसरे के अन्दर कितना ही प्रविष्ट क्यों न हो भेद एवं विरोध सदा विद्यमान रहते हैं और इस प्रकार जगत् की प्रत्येक वस्तु अस्थायी तथा नाशवान् है। यहां तक कि जगत् की प्रक्रिया में सर्वोच्च तत्त्व अर्थात् शरीरधारी ईश्वर भी अपने अन्दर असत् का आभासमात्र रखता है। ब्रह्म ही केवल मात्र सत्ता है जो विशुद्ध सत् है और वस्तुओं के अन्दर जो भी यथार्थता का अंश है उसे धारण किए हुए है किन्तु उनके प्रतिबन्धों अथवा असत् के अंशों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। इससे जो कुछ भी भिन्न है वह सब अयथार्थ है।[7] संसार का स्वभाव है कि जो वह नहीं है; वह बनना चाहता है। यह जगत् न तो है और न नहीं है। इस प्रकार इसके स्वभाव का वर्णन नहीं किया जा सकता। यह 'सदसद्विलक्षण' भी है और 'सद-सदात्मक' भी। प्लेटो ने भी स्वीकार किया है कि 'सभी वस्तुयें सत् और असत्

के मेल से वनी हैं। सत् और असत् का यही मिथुनीकरण शंकर को अभिप्रेत है।[8] विस्मयकारी प्रतीयमान विविधता का सम्बन्ध यथार्थ सत्ता के साथ होना ही चाहिए, क्योंकि और कोई ऐसी सत्ता नहीं है जिसके अन्दर यह हो सके, फिर भी इसे यथार्थता नहीं कहा जा सकता। इसीलिए इसे यथार्थता का मायापरक रूप अथवा आभास के नाम से पुकारा जाता है। जगत् के मिथ्यात्व की भावात्मक अभिव्यक्ति माया है। इस प्रकार माया एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा ब्रह्म अपने विवर्तभाव अर्थात् प्रतीयमान जगत् को अभिव्यक्त करता है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में विश्व-प्रक्रिया को उन्मेष अथवा उन्मीलन कहते हैं। उन्मेष अथवा उन्मीलन का अभिप्राय है अन्तःस्थित भावजात का बाह्यरूपेण प्रकाशन—'उन्मीलनं च अवस्थितस्यैव प्रकटीकरणम्'।[9] महेश्वर के सर्जन की दृष्टि से यह दर्शन स्वातन्त्र्यवाद कहलाता है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति या आविर्भाव की दृष्टि से यह आभासवाद कहलाता है। जिस प्रकार मयूर का सुन्दर एवं विचित्र पिच्छकलाप उसके अंडे के रस में अभिन्न रूप से निहित रहता है वैसे ही यह समस्त विश्व महेश्वर में अभिन्न रूप से विद्यमान रहता है। यही मयूरांडरस सादृश्य उन्मेष प्रक्रिया का सार है।

अपने अनुभूतिजन्य विश्व की व्याख्या में अभिनवगुप्त का भारतीय दर्शन के वस्तुवादी तथा प्रत्ययवादी दोनों प्रस्थानों से मतभेद है। न्याय एवं वैशेषिक दर्शनों से तो उनका विस्तार तथा मूलसिद्धान्तों में पूर्णतया मतभेद हैं। सांख्य बौद्ध तथा अद्वैत वेदान्त के साथ उनका मतभेद मूल सिद्धान्तों तक ही सीमित है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन सांख्य के चौवीस तत्त्वों तथा पुरुष की कल्पना को स्वल्प अन्तर के साथ स्वीकार कर लेता है। इसी प्रकार बौद्धों के क्षणिकवाद तथा शांकर वेदान्त के मायावाद को भी अपनी प्रक्रिया में स्थान दे देता है। अभिनव के अनुसार अनुभूतिजन्य विश्व ऐसे ईश्वर की रचना नहीं है जिसका कर्तृत्व अणु आदि उपादान कारण की सहायता पर निर्भर करता है, न ही वह सांख्य की भांति प्रकृति का परिणमन मात्र है, न ही विज्ञानवादी की भांति विशुद्ध विषयगत अनुभूति और न ही शांकराद्वैत की भांति उसकी सत्ता भ्रांतिमूलक अथवा मात्र प्रतीत्यात्मक है। अभिनव की दृष्टि में तो यह विश्व यथार्थ है क्योंकि वह चिदात्मस्वरूप महेश्वर का स्वरूपप्रकाशन है, ठीक उसी प्रकार जैसे योगी संकल्प द्वारा कोई वस्तु बाहर आभासित कर देता है। साथ ही वह प्रत्ययात्मक भी है क्योंकि यह चिदात्मा की अनुभूति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं तथा इसकी सत्ता भी चिदात्मा में ही है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हमारे प्रत्ययों की सत्ता हमारे अन्दर है। अपनी आभासवादी प्रक्रिया में वस्तुवादी तथा

प्रत्ययवादी तत्त्वों के समन्वय के कारण प्रत्यभिज्ञा दर्शन 'वस्तुवादी प्रत्ययवाद'[10] कहलाता है।

इस दर्शन के अनुसार समस्त विश्व का अधिष्ठान चित् या संवित् है। नानावैचित्र्यमय आभास उसी चित् के आविर्भाव अथवा उन्मेष मात्र हैं। जो कुछ भी हमारी अनुभूति का विषय है, चाहे प्रमेय हो, प्रमाता हो, अथवा ज्ञान का साधन या इन्द्रियां हों सब कुछ उसी परमचित् का आभास है। आभास का अभिप्राय है 'आ' अर्थात् ईषत् अथवा किंचित् संकुचित रूप में 'भासः' अर्थात् प्रकाशन। तात्पर्य यह कि किंचित् संकुचित अथवा सीमित रूप में जो अवभासन या प्रकाशन होता है वही प्रत्यभिज्ञादर्शन में आभास कहलाता है। समस्त आविर्भाव परिमित होता है। जो कुछ हमारी दृष्टि में आता है वह आभासों का विन्यास मात्र है। जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में अनेक प्रकार के नगर, ग्राम इत्यादि के प्रतिबिम्ब दर्पण से अभिन्न होते हुए भी, परस्पर और दर्पण से भी भिन्न भासित होते हैं वैसे ही यह जगत् परमशिव के विमल संवित् से अभिन्न होते हुए भी परस्पर और उस संवित् से भी भिन्न भासित होता है।[11]

आभास दर्पण में प्रतिबिम्बित आकारों के समान है। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब उससे भिन्न न होते हुए भी उससे भिन्न भासित होता है उसी प्रकार आभास भी शिव से भिन्न नहीं है, किन्तु भिन्न भासित होते हैं। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब नगर, ग्राम, नदी, तथा वृक्ष आदि यद्यपि दर्पण से अभिन्न हैं तथापि उससे भिन्न भासित होते हैं उसी प्रकार महेश्वर के संवित् में प्रतिबिम्बित जगत् उससे भिन्न नहीं है।

किन्तु इन दोनों आभासों में एक मौलिक भेद है। दर्पण को प्रतिबिम्ब ग्रहण करने के लिए बाह्य प्रकाश की अपेक्षा होती है उसमें तो कोई बाह्य पदार्थ ही प्रतिबिम्बित होता है, जबकि महेश्वर की सार्वभौम चेतना में उसी की ही सृष्टि-कल्पना प्रतिबिम्बित होती है कोई बाह्य पदार्थ नहीं। दर्पण में तो प्रतिबिम्ब बाह्य प्रकाश के द्वारा ही संभव है किन्तु महेश्वर की चेतना तो स्वयंप्रकाश है, वह तो बाह्य प्रकाश से निरपेक्ष होकर प्रतिबिम्ब ग्रहण करती रहती है।[12] इसके अतिरिक्त दर्पण अचेतन है। उसे अपने पर प्रतिबिम्बित आभासों का बोध नहीं होता। किन्तु महेश्वर तो सचेतन है। उसकी चेतना में जो प्रतिबिम्बित कल्पनाएं प्रकट होती है उनका उसे पूरा बोध रहता है। जो आभास पशु अथवा जीवात्माओं को बाह्य रूप में प्रतीत होते हैं वे परमचेतना की कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। परमसंवित् में विश्व वैसे ही प्रकाशित होता है जैसे विचित्र पदार्थ दर्पण में प्रतिबिम्बित होते हैं। अन्तर केवल इतना है कि परासंवित् को विमर्शशक्ति के द्वारा उसका बोध रहता है,

दर्पण को अपने में प्रतिबिम्बित पदार्थों का बोध नहीं होता।[13]

चेतना में आभास उसी प्रकार प्रकट होते हैं जिस प्रकार सागर में तरंगे उठती हैं। तरंगों के उत्थान तथा पतन से समुद्र को न तो कोई लाभ होता है, न ही हानि। उसी प्रकार आभासों के उन्मीलन और निमीलन से परम चेतना में कोई विकार नहीं आता। आभास प्रकट और लीन होते रहते हैं, किन्तु उनकी अधिष्ठान रूपी चेतना यथावत् बनी रहती है। वस्तुतः विश्वरचना-विधान महेश्वर के मानस-पटल पर प्रतिक्षण चलता रहता है। बाह्य रूप में इसका आभास तो उसकी कल्पनाओं का बहिः प्रक्षेप मात्र है।[14]

महेश्वर की निर्मिति कुम्भकार की निर्मिति की भांति नहीं है। कुम्भकार जिस प्रकार मिट्टी लेकर बर्तन बनाता है, महेश्वर अपनी रचना उस प्रकार नहीं करता। उसके लिए तो सृष्टि का अर्थ है अन्तःस्थित कल्पनाओं का बाह्य-प्रथन अथवा बहिस्फार। उसे इसके लिए किसी बाहरी उपादान की आवश्यकता नहीं होती। वह अपनी इच्छा द्वारा ही ऐसा करने में समर्थ है। जो पदार्थ महेश्वर के ज्ञानस्वरूप हैं वे उसकी इच्छा से ज्ञेय के रूप में प्रकट होते हैं दूसरे शब्दों में उसकी 'अहन्ता' 'इदन्ता' के रूप में प्रकट होती है। जीवों को वे बाह्य रूप में आभासित होते हैं। चित्स्वरूप महेश्वर ही अपने को प्रमाता एवं प्रमेय के रूप में अवभासित करता है किन्तु इससे उसकी पूर्णता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। यही उसका उन्मेष है और यह उसी की भांति पूर्णरूप से यथार्थ है। इसे हम मिथ्या नहीं कह सकते। यह न तो स्वरूपविपर्यास है और न स्वरूपान्तरण, अथवा परिणमन। यह तो है—विशुद्धरूप से स्वरूपप्रथन अथवा स्वरूपाभिव्यक्ति। वस्तुतः शैव-स्वातन्त्र्यवाद और आभासवाद का विवर्तवाद तथा परिणामवाद से यही भेद है।

यहां पर यह कहना आवश्यक होगा कि जिस प्रकार विवर्त की प्रक्रिया में माया की विशिष्ट भूमिका है। उसी के माध्यम से जगत् की ब्रह्म के विपर्यास के रूप में प्रतीति होती है, उसी प्रकार उन्मेष-प्रक्रिया में भी माया की भूमिका अनिवार्य है, क्योंकि उसके बिना भेद-प्रथन संभव नहीं। अन्तर केवल इतना है कि जहां शांकर प्रणाली में वह जगत् को ब्रह्म से भिन्न सत्ता (मिथ्यात्व) के रूप में प्रतिष्ठित करने में सहायक है, वहां ईश्वराद्वयवाद में इसके द्वारा भेद-प्रथन महेश्वर के लीलाविलास की अभिव्यक्तिमात्र है। उससे भिन्न किसी सत्ता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यहां तो महेश्वर पूर्ण अद्वय तत्त्व है। स्वयं माया भी उससे व्यतिरिक्त नहीं है। वह उसकी अनन्यापेक्ष शक्ति है न कि मिथ्या उपाधि। अतः उसके माध्यम से अवभासित सृष्टि का परम अद्वय तत्त्व महेश्वर से भिन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

शिवाद्वयवाद में सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन पराशक्ति की दृष्टि से भी किया जाता है। इसके अनुसार सृष्टि के मूल में एक असीम प्रभविष्णुता अथवा शक्ति का अविच्छन्न क्रम है जिसे नाद कहते हैं। यह एक क्रियाशील बिन्दु में घनीभूत हो जाता है। यह समस्त अभिव्यक्ति या सृष्टि का मूल है। सृष्टि की परावस्था में वाचक और वाच्य एक हैं। उसके अनन्तर सृष्टि की 6 अवस्थाएं होती हैं; जिन्हें षडध्वा कहते हैं। प्रथम अध्वा वर्ण और कला का है। वैसे मुख्यतः कला परमार्थ या अनुत्तर का वह रूप है जिसके द्वारा वह सृष्टि के लिए शक्तिरूप में प्रकट होती है। परमशिव की सृष्टि-रचना-क्रम में दो अवस्थाएं मानी जाती हैं—विश्वोत्तीर्ण तथा विश्वमय। इनमें प्रथम अवस्था निष्कल कही जाती है क्योंकि वह कला या सृष्टि के अवभासन से परे है। दूसरी अवस्था सकल कही जाती है, क्योंकि वह सृष्टि प्रक्रिया से सम्बद्ध है।

इस सन्दर्भ में नाद-बिन्दु के अनन्तर जो कला का प्रयोग है उसका अर्थ है—सृष्टि की एक क्रमावस्था। कला उस अवस्था की द्योतक है जहां एक के अनन्तर असादृश्य अथवा विभेद प्रकट होने लगता है। परावाक् में वाचन एवं वाच्य का जो ऐक्य था वह अब द्वंद्व-भाव में परिणत होने लगता है। इस द्वंद्व-भाव या विभेद का प्रथम अध्वा है वर्ण और कला की विपरीतता। जयदेव सिंह प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती के एक लेख में अभिव्यक्त दृष्टिकोण से सहमति प्रकट करते हुए कहते हैं—'इस सन्दर्भ में वर्ण का अर्थ अक्षर, रंग या वर्ग नहीं है, प्रत्युत बिन्दु से जो वेद्य या अर्थ प्रक्षिप्त होता है उसका एक प्रक्रिया रूप है। इसलिए वर्ण का भाव है "अर्थ से सम्बद्ध प्रक्रिया रूप का विशिष्ट मान अधि-सूचक वर्ण प्रक्रिया रूप है, कला विधेय-धर्म है।"[15]

सूक्ष्म भूमि में परवर्ती अध्वा मंत्र और तत्त्व है। मन्त्र सृष्टि के अगले क्रम तत्त्व का उपयुक्त 'प्रक्रियारूप' या आधारात्मक व्यवस्था है। तत्त्व सूक्ष्म निर्मिति का अन्तर्निहित सूत्र या उत्स है।

तृतीय तथा अन्तिम द्वन्द्व पद और भुवन का है। भुवन भिन्न-भिन्न स्तरों पर प्रमाताओं की प्रतीति के योग्य जगत् है। 'पद' उस जगत् की मानसिक प्रतिक्रिया और शब्द द्वारा वास्तविक निरूपण है।

षडध्वा का प्रणाली बद्ध रूप इस प्रकार है—

वाचक	वाच्य
वर्ण	कला
मन्त्र	तत्त्व
पद	भुवन

वाचक के आधार पर त्रिक कालाध्वा कहलाता है वाच्य की ओर से देशाध्वा।

इनमें वर्णाध्वा प्रमाणस्वरूप है। यह प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय की विश्रान्तिभूमि है। वर्ण दो प्रकार का है—अमायीय तथा मायीय। मायीय वर्ण अमायीय से उत्पन्न होते हैं। अमायीय वर्ण अकृत्रिम, संकोचरहित और अनन्त होते हैं। मायीय वर्णों में अमायीय वर्णों की वाचक शक्ति उसी प्रकार निहित रहती है जैसे अग्नि में उष्णता।

इस प्रकार पराशक्ति की दृष्टि से षडध्वा के रूप में सृष्टि की जो अभिव्यक्ति अथवा उन्मेष होता है उसमें भी माया की अपनी एक विशिष्ट भूमिका है।

'उन्मेष' की प्रक्रिया का विवेचन तब तक अधूरा रहेगा जब तक इसके सन्दर्भ में महेश्वर की दो अनन्य शक्तियों 'प्रकाश' तथा विमर्श के विषय में चर्चा न की जाय। वस्तुतः शांकराद्वयवाद तथा ईश्वराद्वयवाद में यही मौलिक भेद है कि एक तो परमसत्ता की केवल 'प्रकाश (चित्) शक्ति' का पक्षधर है किन्तु दूसरा प्रकाश शक्ति के साथ ही साथ उसकी विमर्श '(क्रिया) शक्ति' का भी समर्थक है। इन दोनों की समन्वयात्मक भूमिका के बिना इस प्रणाली के अनुसार विश्व-प्रक्रिया सम्भव ही नहीं है। अतः वर्तमान सन्दर्भ में इन दोनों शक्तियों का विवेचन आवश्यक ही नहीं वांछनीय भी है।

वस्तुतः सृष्टि के सन्दर्भ में महेश्वर के विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय जिन दो स्वरूपों की चर्चा की जाती है उनमें से परवर्ती स्वरूप का विवेचन 'प्रकाश-विमर्शमय' के रूप में किया जाता है। वस्तुतः इस प्रणाली ने सृष्टि-प्रक्रिया के सम्बन्ध में जिस कारण का विकास किया है वह समष्टिवादी तथा व्यष्टिवादी धारणाओं का समन्वित रूप है। अतः इसकी समष्टिवादी धारणा को समझने के लिए व्यष्टिवादी धारणा का अधिगमन अतीव आवश्यक है।[16] अतएव 'प्रकाश' एवं 'विमर्श' इन दोनों शब्दों के स्पष्टीकरणार्थ इसी व्यष्टि सम्बन्धी धारणा पर विचार करना होगा।

प्रकाश तथा विमर्श : व्यष्टिवादी सन्दर्भ

प्रकाश शब्द जीवात्मा के एक पक्ष का परिचायक है। इसको बहुत कुछ दर्पण से समीकृत किया जा सकता है। अपने इस पहलू में यह मानस प्रतिभाओं का अधिष्ठानमात्र है, जो इसी की अपनी वृत्तियां होती हैं। इनका उद्भव प्रत्यक्ष-काल में बाह्य पदार्थों तथा स्मृति, कल्पना या स्वप्न के समय पुनरुद्भूत संस्कारों के कारण होता है। बाह्य उत्तेजक का प्रभाव मन पर उसी रूप में पड़ता है जिस रूप में एक बाह्य पदार्थ का दर्पण पर न कि उस रूप में जिस

रूप में लाख की मुद्रा पर। आशय यह कि लाख की मुद्रा पर उसका उत्तेजक अपनी अमिट छाप डाल जाता है, जबकि दर्पण पड़े हुए बाह्य पदार्थ के प्रतिबिम्ब से अपनी पृथक् सत्ता एवं शुद्धता में अविकृत रहकर भी उनका अपने से अभिन्न रूप में प्रकाशन करता है, किन्तु दोनों में मूलभेद भी है। मुकुर को प्रतिबिम्ब ग्रहण करने के लिए बाह्य प्रकाश की अपेक्षा होती है। निविड अन्धकार में दर्पण किसी पदार्थ को प्रतिबिम्बित नहीं कर सकता, जबकि मन बाह्य प्रकाश से निरपेक्ष होकर प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है। वह तो स्वतः-प्रकाश है। इस प्रकार प्रकाश रूप होने के कारण वह प्रतिबिम्बों को ग्रहण करता है तथा उनका अभेदात्मना प्रथन करता है। यही पक्ष पारिभाषिक दृष्टि से प्रकाश कहलाता है। महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज के अनुसार इसे प्रमाणपरक पदावली में अभिव्यक्त किया जाए तो मन के सन्दर्भ में प्रकाश का अभिप्राय होगा—विषय की चेतना अर्थात् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष।[17]

किन्तु मन केवल प्रतिबिम्ब ग्रहण करने तक ही सीमित नहीं रहता। उसकी अपनी प्रतिक्रिया भी होती है। हम देखते हैं कि बाह्य पदार्थ हमारे मानसपटल पर प्रतिबिम्बित होते ही अपना आकार अंकित कर देता है और हमारे में 'इदमिति' : यह बाह्य पदार्थ है' की बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। यही कहलाता है—विचार, चेतना की वह स्थिति जिसमें वह पदार्थ दूसरों से पृथक् कर दिया जाता है और धारणात्मक तत्त्वों से संमिश्र कर दिया जाता है। यही विषय की चेतना और तद्विषयक अपना ज्ञान सविकल्पक प्रत्यक्ष है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विमर्श है—एक मनःस्पन्द अथवा मनः क्षोभ। वस्तुतः मन की यही सबसे बड़ी विशेषता है। यह विभिन्न प्रभावों का निर्णय देने के लिए स्वतन्त्र है। यह इन ग्रहीत प्रतिबिम्बों को संस्कारात्मना सुरक्षित रखता है। किसी बात को पुनः जन्म देने के लिए स्मृतिकोष से कुछ भी ग्रहण कर सकता है। कल्पना में विमर्श इन सबका, वरन् इनसे भी कहीं अधिक का द्योतक है।

इस प्रकार जब त्रिक व्यष्टि के सन्दर्भ में 'प्रकाशविमर्शमयता' की बात करता है तो इसका अभिप्राय यह होता है कि यह स्वयंप्रकाश है तथा इसमें पूर्ण संस्कार विद्यमान रहते हैं और यह प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में, अपने तथा दूसरों को समझने में, अपने मानस में स्थित पदार्थों के नियन्त्रण में तथा इसमें समाहित संस्कारों के साथ नवीन मानस प्रतिमाओं के सर्जन में समर्थ है।[18]

अब देखना है कि 'प्रकाशविमर्शमयता' का विश्वात्मा (समष्टि) के सन्दर्भ में क्या अभिप्राय है। क्षेमराज प्रकाश को एक भित्ति मानते हैं जिस पर विश्व के समस्त भावजात प्रकाशित होते रहते हैं।[19] जिस प्रकार मुकुट में प्रकाशित

पदार्थ का आश्रय वही मुकुर है उसी प्रकार परमशिव का प्रकाश भी समस्त आभासों का अधिष्ठान है और उसमें प्रकाशित विश्व तदाकार होते हुए भी तद्व्यतिरिक्त प्रतीत होता है।[20] अभिनव भी यही कहते हैं।[21]

इसका अधिष्ठान जीवात्मा के अधिष्ठान की भांति प्रकाश ही है, जो उसी भांति प्रभावित होता है जिस भांति व्यक्ति की बुद्धि स्वप्न के समय। जिस प्रकार स्वप्न में रत्नराशि प्राप्त करने पर कोई धनाढ्य नहीं हो जाता, न ही स्वप्न में सांप के काटने से मृत्यु का ग्रास। वह अनुभूति तो व्यक्ति की बुद्धि को स्वप्नसमकाल ही रहती है। ठीक उसी प्रकार विश्वात्मा भी आभास समकाल ही विश्व के नाना कार्यकलापों का अनुभव करता है। अतः प्रकाश का अर्थ विश्वात्मा के साथ उसी अर्थ में है जिस अर्थ में जीवात्मा के साथ क्योंकि दोनों प्रकाशित होते हैं तथा प्रतिबिम्ब ग्रहण करने और अपने में पदार्थ के साथ एकात्मना स्फुरित होने में समर्थ हैं।[22]

किन्तु व्यष्टिगत तथा समष्टिगत प्रकाशों को हम सर्वथा समान नहीं कह सकते। अधिष्ठान की दृष्टि से इन दोनों में महान् अन्तर भी है। व्यष्टिगत प्रकाश के अधिष्ठान में उपराग केवल आभ्यन्तर कारणों से ही नहीं उत्पन्न होता जैसा कि स्वप्न तथा कल्पना की स्थिति में, अपितु बाह्य कारणों से भी, जैसा कि सविकल्पक प्रत्यक्ष के समय। किन्तु समष्टिगत प्रकाश के विषय में बाह्य कारणों से उपरक्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वह तो विश्वात्मा है, विश्वमय है।

चूंकि आभासवाद एक व्यवस्थित प्रक्रिया है, अतः इसमें प्रकाशित होने के लिए अन्तःस्थित भावराशि में से कुछ ही की अपेक्षा होती है। इस प्रक्रिया के पूर्व तीन बातों की आवश्यकता होती है—(1) इच्छा, (2) ज्ञान तथा (3) आनन्द। ये तीनों अन्योन्याश्रित रूप से सम्बद्ध हैं। जैसा कि हम देखते हैं कि इच्छा की उत्पत्ति तब तक सम्भव नहीं जब तक आनन्द न हो, इसी प्रकार इच्छा के बिना ज्ञान सम्भव नहीं और जब तक विषय का ज्ञान न हो तब तक कोई व्यवस्थित क्रिया कैसे सम्भव हो सकती है? अतः विमर्श का प्रयोग जब विश्वात्मा के सन्दर्भ में होता है तो इसका अर्थ होता है—वह शक्ति जो क्रमशः आनन्द, इच्छा तथा ज्ञान को जन्म देती है।

महेश्वरानन्द इस विमर्श की दो कोटियां निर्धारित करते हैं—(1) शुद्धविमर्श (2) प्रपंच स्फुरणवैचित्र्यात्म विमर्श। जब यह हृदयप्रकाशस्वरूप आत्मा में ही स्थित रहता है तो कहलाता है—शुद्धविमर्श तथा जब यही 'मैं हूं' इस प्रकार 'इदमिति' रूप क्षोभ का अनुभव करने लगता है तो विश्व-विस्तार की अपेक्षा से उसे दूसरी कोटि में रखा जाता है।[23] सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो

क्रिया बाह्य भी होती है, आन्तरिक भी। प्रथम विशुद्ध प्रमातृपरक होती है तथा द्वितीय का बाह्य स्फुटन होता है। अभिनव अपने स्तोत्रों में इन्हीं दोनों को अन्तःसृजन तथा बहिःसृजन की संज्ञा देते हैं।[24]

त्रिक सामान्यतः इन्हें अन्तःस्पन्द तथा बहिःस्पन्द के नाम से अभिहित करता है। कविराज जी के शब्दों में प्रकाश तो व्यक्ति के स्वरूप का निर्वचन करता है अतः उसमें विभागों की सम्भावना नहीं किन्तु विमर्श निरवयव होते हुए भी अवयवों में विभक्त हो सकती है।[25]

शैव स्वातन्त्र्यवाद में वस्तु के अस्तित्व का सारूप्य प्रकाश से स्थापित किया जा सकता है। यदि वह वस्तु है तो प्रकाशित अवश्य होगी और यदि वह प्रकाशित नहीं होती तो वस्तु नहीं है। इसी अभिप्राय से इसे आभास कहा जाता है 'आभातमेव बीजादेशभासाद्धेतु वस्तुनः' इस प्रकार हम देखते हैं कि अस्तित्व-सामर्थ्य ही प्रकाश है। किन्तु वस्तु का सत् होना, अस्तित्व में आना, उसकी यह सत्ता क्या स्वयं अपने में सक्रिय नहीं है? क्या उस वस्तु का हमें वस्तुतया भान नहीं होता। अतः स्पष्ट है कि प्रकाश तथा विमर्श एक-दूसरे के पूरक हैं। प्रकाश वस्तु का प्राणप्रद धर्म है और धर्म होना ही विमर्श है।[26] विमर्श न केवल प्रकाश के साथ अपना ऐक्य स्थापित करता है, अपितु वह सृष्टि के 'क्यों' की भी व्याख्या करता है। स्वातन्त्र्य विमर्श का वह पहलू है जो उस 'क्यों की व्याख्या करता है। विमर्श सृष्टि, स्थिति आदि सभी क्रियाशील स्थितियों में व्यक्त होता है। हम किसी वस्तु की प्रकृति में सन्देह करके अपनी अज्ञता का परिचय देते हैं। जलना अग्नि की प्रकृति है, उसी प्रकार अन्तः-स्थित वस्तुओं का प्रस्फुरण विमर्श की प्रकृति है। स्वप्न तथा कल्पना क्या आत्मा के स्वभाव के अतिरिक्त अन्य किसी से सम्भव हैं? प्रकाश शिव की शक्ति को स्थूल क्रिया में प्रकट करता है और विमर्श शक्तिमान् को। 'शक्ति-शक्तिमतोरभेदः' त्रिकनय का सारभूत तत्त्व है। इन दोनों शब्दों का प्रयोग अनेक नामों से होता है। उनमें मुख्य हैं—चित् तथा आनन्द। 'अस्ति' प्रकाश का द्योतक है, 'भाति' 'विमर्श' का। अतएव आभ्यन्तर तथा बाह्य जगत् 'अस्तिभातिमय' होने के कारण शिवशक्तिमय है[27] और जगत् का स्रष्टा है—प्रकाशविमर्शमय शिव। उसका सर्जन-कार्य मानव के स्वप्न-पदार्थों की भांति ही अपनी भित्ति पर अपनी इच्छा से बिना किसी सहायता के चलता रहता है।

उपर्युक्त विवर्त तथा उन्मेष के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि जगत् अथवा जगदाभास दोनों दृष्टियों से माया का पर्याप्त महत्त्व है। शांकराद्वयवाद तथा ईश्वराद्वयवाद दोनों ही प्रणालियों में विश्व-रचना-प्रक्रिया तथा विश्व-

रचनाबोध दोनों दृष्टियों से माया की भूमिका अनिवार्य है। एक में वह जगत् के मिथ्यात्व का प्रत्यायन कराकर परमसत्ता की यथार्थता के एक-मात्रता-बोध में सहायता करती है तथा दूसरे में अशुद्ध जगत् के आभास को महेश्वर के लीलाविलास के रूप में प्रस्तुत कर इस धारणा को दृढ़ कर देती है कि महेश्वर पूर्ण अद्वय तत्त्व है तथा नाना वैचित्र्यमय विश्व के रूप में हम जो कुछ देख रहे हैं वह उसी का स्वभाव-प्रकाशन है तथा उसी की भांति यथार्थ है। इस प्रकार माया दोनों ही प्रणालियों में अपनी अनिवार्य भूमिका निभाती है। अब देखना है कि उक्त दोनों प्रणालियों की विश्वात्मा सम्बन्धी धारणा के साथ इसका क्या सम्बन्ध है तथा उस सम्बन्ध से विश्वबोध में किस रूप में तथा कितनी सहायता मिलती है।

ब्रह्म एवं शिव की शक्ति माया

अद्वैत वेदान्त के अनुसार माया ईश्वर की शक्ति है, उसका अन्तः स्थायी बल है जिसके द्वारा वह संभाव्यता को वास्तविक जगत् के रूप में परिणत कर देता है। उस ईश्वर की माया जो विचार के क्षेत्र से परे है, अपने को आकारों में परिवर्तित करती है, अर्थात् काम और संकल्प में यह नित्य रूप ईश्वर की उत्पादिका शक्ति है और इसीलिए यह भी नित्य है और इसी साधन से परम-सत्ता ब्रह्म संसार की रचना करता है? माया का कोई पृथक् निवास नहीं है। यह ईश्वर के ही अन्दर रहती है, जिस प्रकार उष्णता अग्नि में रहती है। शिवाद्वयवाद में तो यह है ही महेश्वर की अनन्य शक्ति अतः वह इसके माध्यम से जो भी अवभासित करता है वह उससे व्यतिरिक्त अथवा भिन्न नहीं अपितु उसी का स्वरूपावभासन है। इसके अवभासन के लिए वह अपनी इच्छा से अपने स्वरूप को परिमित कर लेता है और इस व्यापार में माया इसकी अत्यन्त सहायक सिद्ध होती है। अब देखना यह है कि ब्रह्मवाद तथा ईश्वराद्वयवाद दोनों में इसकी क्या स्थिति है तथा ब्रह्म एवं शिव की शक्ति के रूप में यह अपनी भूमिका का निर्वाह किस प्रकार करती है।

यह तो अब निर्विवाद हो गया है कि आचार्य गौडपाद तथा शंकर द्वारा प्रवर्तित एवं प्रचारित अद्वैतवाद तथा सोमानन्द, उत्पन्न और अभिनवगुप्त द्वारा प्रस्तुत परमेश्वराद्वयवाद ठीक एक ही प्रकार के सिद्धान्त नहीं हैं। ब्रह्म-वाद माया को सत् एवं असत् दोनों से विलक्षण तथा अनिर्वाच्य मानता है। किन्तु शैव चिन्तकों के अनुसार इससे द्वैत भंग नहीं होता। परमार्थ दृष्टि से माया तुच्छ हो सकती है, किन्तु इसकी व्यवहार-भूमि की सत्यता तथा विचार-भूमि की अनिर्वचनीयता वस्तुतः ब्रह्म के अद्वैत तत्त्व का स्पर्श नहीं करती। इस जीवजडात्मक विश्ववैचित्र्य का हेतु क्या है? मूल में जब एक ही अद्वय

ज्ञान तत्त्व है तब यह द्वैतापत्ति क्यों होती है ? अज्ञान का आश्रय कौन है, द्रष्टा कौन है ? ईश्वरादि को अनादि तथा परम्परासिद्ध बतलाने का व्यवहार भी अनादि है। शुद्ध ब्रह्म विवर्तात्मक अनादि प्रवर्तमान व्यवहार का अधिष्ठान या अधिकरण मात्र है। उसका कर्तृत्व और स्वातंत्र्य कल्पित है, वास्तविक नहीं। परन्तु कल्पना कौन करता है ? जीव अथवा ईश्वर ? परब्रह्म नहीं करते हैं। स्वरूप दृष्टि से स्रष्टृत्वादि सभी धर्म उसी पर आरोपित एवं अध्यस्त होते हैं। किन्तु, वस्तुतः ब्रह्म से जीवभाव अथवा ईश्वरभाव किस प्रकार होता है, यह समझ में नहीं आता। अज्ञान की प्रवृत्ति कहां से होती है, और क्यों होती है ? इसका कोई उत्तर नहीं। स्वप्रकाश ज्ञानसूर्य को अकस्मात् अज्ञानान्धकार कैसे ग्रसित कर लेता है ? ज्ञान यों ही विवश-भाव से उसके अधीन होकर जीव बनता है, अथवा अधीश्वर होकर ईश्वर बनता है। किन्तु जब अज्ञान का आविर्भाव-काल ही स्पष्ट नहीं हो पाता तो जीवत्व अथवा ईश्वरत्व के बीज-काल के मध्य में अन्वेषण करने का प्रयास तो और भी निरर्थक प्रतीत होता है।

ईश्वराद्वयवाद में भी अज्ञान और माया है किन्तु उसकी प्रवृत्ति आकस्मिक नहीं है। वह आत्मा का स्वातन्त्र्यमूलक अर्थात् स्वेच्छापरिग्रहीत रूप है। नट जिस प्रकार नाना प्रकार के अभिनय करता है, उसी प्रकार परमेश्वर भी स्वेच्छा से नाना प्रकार की भूमिका ग्रहण करते हैं। वह स्वतन्त्र हैं। अपने स्वरूप को आवृत्त करने में भी समर्थ हैं और उसका प्रकाशन करने में भी। किन्तु जब वह अपने स्वरूप को आवृत्ति करते हैं तो भी उनका अनावृत रूप च्युत नहीं होता। अज्ञान उनकी शक्ति का विजृम्भण है। जिस प्रकार सूर्य अपने ही द्वारा सर्जित मेघकुल से अपने को आच्छादित करता है, किन्तु आच्छादित होकर भी अन्ततः वह अनाच्छादित रहता है क्योंकि ऐसा न होने पर मेघों को प्रकाशित कौन करता ? विश्व-वैचित्र्य भी इसी प्रकार अपने स्वरूप का विमर्श है। क्रीडापरायण महेश्वर की लीला ही इस प्रकार के अभिनय का कारण है। यही स्वभाववाद है। ब्रह्मवादी स्वभाव को बिलकुल नहीं मानते, ऐसी बात नहीं है। अज्ञान आत्मा की ही शक्ति है यह तथ्य उनको भी स्वीकार करना पड़ता है। परन्तु ईश्वराद्वयवादी कहता है कि यह स्वातन्त्र्यात्मक, विमर्शमूलक तथा कर्तृत्वस्वरूप है, जबकि ब्रह्मवादी के अनुसार यह शुद्ध साक्षी अथवा अधिष्ठान चैतन्यात्मक है। यही दोनों में मूलभेद है। अर्थात् शांकराद्वैत में आत्मा विश्वोत्तीर्ण, सच्चिदानन्द, एक, सत्य, निर्मल निरहंकार, अनादि, अनन्त, शान्त, सृष्टि, स्थिति एवं संहार का हेतु भावाभाव-विहीन, स्वप्रकाश तथा नित्यमुक्त है, किन्तु उसमें कर्तृत्व नहीं है। किन्तु

ईश्वराद्वैत में विमर्श ही आत्मा का स्वभाव है। ज्ञान और क्रिया में कोई तात्त्विक भेद नहीं। उसकी क्रिया ही ज्ञान है क्योंकि वह ज्ञाता का धर्म है तथा कर्तृत्वस्वभाव होने के कारण उसका ज्ञान ही क्रिया है। यही ज्ञान एवं क्रियाभिमुखता उसकी इच्छा की परिचायक है। इसी कारण वह इच्छामय है। दूसरे शब्दों में, इच्छादि शक्तित्रय से युक्त स्वातंत्र्यमय है। ऐश्वर्य, विमर्श, पूर्णाहन्ता, प्रभृति अभिधान इसी स्वातन्त्र्य के पर्याय हैं।

प्रत्यभिज्ञादर्शन पूर्णाद्वैतवादी है। उसके सामने शंकर का अद्वैतवाद लड़खड़ाता हुआ प्रतीत होता है। पं० गोपीनाथ कविराज कहते हैं, जान पड़ता है, मानो शंकर द्वैत से भीत और त्रस्त है इसी कारण उनके मत में अद्वैत द्वैत से विलक्षण है, अतएव यह असत्कल्प है। वह विचार से द्वैत कोटि में आ जाता है। आगम के मत में अद्वैत शब्द का अर्थ है—दो का नित्य सामरस्य। शंकर ब्रह्म को सत्य और माया को अनिर्वचनीय कहते हैं। इसलिए वाक्य द्वारा जितना अद्वैतभाव का उत्कर्ष दिखाने की चेष्टा की गई है, उतना ही पूर्णभाव के प्रकाश में वाधा पड़ी है।[28]

शंकर माया को सत्य नहीं मानते अतः उनका अद्वैतवाद अनुवृत्तिमूलक न होकर व्यावृत्ति मूलक है। माया ब्रह्म की शक्ति है, ब्रह्माश्रित है पर ब्रह्म सत्य-है और माया सदसद्विलक्षण। किन्तु माया को स्वीकार कर उसको ब्रह्ममयी नित्या और सत्यस्वरूपा मानने पर ब्रह्म और माया में एकरसता आ जाती है। यह एकरसता माया को त्याग कर या तुच्छ समझकर नहीं, अपितु उसको अपनी ही शक्ति समझने में है। मेघों द्वारा दृष्टि-शक्ति के आवृत होने पर हम सोचते हैं कि मेघ ने सूर्य को ढक लिया है; किन्तु हम भूल जाते हैं कि मेघ तो सूर्य द्वारा ही निर्मित है। अतः जो सूर्य है वही मेघ है, क्योंकि यह उसी की शक्ति है। मायामेघ भी इसी प्रकार ब्रह्म से आविर्भूत होता है; उसी के आश्रय में आत्मप्रकाश करता है और अन्ततः उसी में विश्रान्त हो जाता है। जो माया है; वही ब्रह्म है। ब्रह्म स्वयं ही मानो अपने को अपने द्वारा अर्थात् अपनी शक्ति माया के द्वारा आच्छादित कर लेता है, परन्तु फिर भी वह पूर्णतः आवृत नहीं हो पाता क्योंकि वह तो अनावृत्त रूप है।

माया अथवा तत्प्रसूत जगत् का त्याग करके नहीं अपितु उसको साक्षात् ब्रह्मशक्ति और उसके विकास रूप में अनुभव करने से ही जीवन की सार्थकता संभव है। शक्ति सत्य है अतः जीवन और जगत् भी सत्य हैं—मिथ्या नहीं है, इसीलिए सभी कुछ शिवमय है। दृश्यमान् वैचित्र्य 'एक' का ही विलास है, भेद अभेद का ही आत्मप्रकाश है। शक्तिरूप किरणराशि शिवरूप सूर्य का अपना ही स्फुरण मात्र है। कविराज जी शंकर के 'तमः प्रकाश वद्विरुद्धयोः' पद में

ही सन्निहित भाव का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि प्रकाश से ही घर्षण द्वारा अन्धकार का आविर्भाव होता है और अन्धकार ही घर्षण द्वारा प्रकाश में पर्यवसित होता है। दोनों ही नित्य संयुक्त हैं, स्वरूप में समरस भावापन्न हैं। घर्षण से प्राधान्य का विकास होता है। इस प्राधान्य के अनुसार व्यपदेश होता है। आगमशास्त्र का यही सिद्धान्त है। पुरुष से प्रकृति, किंवा प्रकृति से पुरुष एकान्ततः पृथक् नहीं है, हो भी नहीं सकते। जो ऐसा कहते हैं वे केवल विचार के द्वारा तत्त्व-विश्लेषण मात्र करते हैं। वस्तुतः सांख्य के प्रकृति-पुरुष-विवेक का अर्थ भी पृथक्करण नहीं है।'[29] स्पन्दकार को उद्धृत करते हुए वह कहते हैं कि जीवन्मुक्त जगत् भर को ही आत्मक्रीडा अर्थात् आत्मशक्ति के विलास के रूप में देखता है, उसकी योगावस्था कभी भग्न नहीं होती।[30] भेद और अभेद, व्युत्थान और निरोध दोनों के अन्दर साम्यंदर्शन होने पर कोई आशंका नहीं रह जाती क्योंकि दोनों एक के ही दो प्रकार हैं। इसी को शिवशक्ति का सामरस्य या चिदानन्द की प्राप्ति कहते हैं। ब्रह्मवाद से ईश्वराद्वयवाद की यही विशिष्टता है। इस प्रकार शिवाद्वयवाद शक्ति और शक्तिवान् के अभेद के आधार पर माया तथा विश्वात्मा में अभेद का प्रतिपादन करके एक व्यावहारिक तथा उपयोगितावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है जिसके अनुसार विश्वरचनाबोध हमारे लिए एक अनबूझ पहेली न रहकर व्यावहारिक सत्य बन जाता है।

विश्वरचना-विधान में चिति का स्वातन्त्र्य एवं चित् तत्त्व की निरपेक्षता

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में परमार्थ तत्त्व चित्, परमशिव अथवा महेश्वर कहलाता है। दृश्यमान् जगत् की संरचना और विन्यास के आधार पर सामान्यतः जो ईश्वर नामक एक आद्य कारण का अनुमान किया जाता है, उस दृष्टि से इस दर्शन में परमार्थ को महेश्वर नहीं कहते हैं। वह महेश्वर इसलिए कहलाता है, क्योंकि उसको अपनी इच्छा की निरपेक्षपूर्ण प्रभुसत्ता अथवा स्वातंत्र्य प्राप्त है। इस पर किसी अन्य का नियन्त्रण नहीं होता। सोभानन्द इस विश्व को महेश्वर की उसी 'अनिरुद्ध इच्छा' का स्फुरण मानते हैं।[31]

यह निरपेक्ष अनिरुद्धप्रभुसत्ता अथवा स्वातन्त्र्य अन्धशक्ति नहीं है। यह चित् का स्वभाव है। यही स्वातन्त्र्य महेश्वर की कल्पना का वेद्यरूपेण उपस्थापन करता है। यह शक्ति स्वतन्त्र इसलिए कहलाती है कि यह अपने से बाह्य किसी उपादान अथवा उपकरण की अपेक्षा नहीं रखती। यह कुछ भी करने या होने में समर्थ है। यह देश, काल या कारण आदि से परे है, क्योंकि इनकी अपनी सत्ता उसी के द्वारा है।[32] यह चिति वह स्फुरत्ता है जो स्वयं

निर्विकार होते हुए सभी विकारों की जन्मदात्री है। इसे महासत्ता कहा जाता है क्योंकि इसमें सब कुछ होने का सामर्थ्य विद्यमान है। यह देश तथा काल से अतीत है। यह परमेश्वर का दृश्य है।[33] माध्यमिक बौद्ध सारे संसार को शून्य कहता है क्योंकि उसके सारे पदार्थ अन्यापेक्ष (परतन्त्र) हैं। अतः उनमें अपने स्वभाव स्वतन्त्रता का अभाव है। शून्य का अर्थ है स्वभावरहित होना। इसी कारण उनको प्रतीत्यसमुत्पाद की कल्पना करनी पड़ी। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में चिति अपने बहिःस्फार के लिए किसी की अपेक्षा नहीं रखती। वह स्वतन्त्र है तथा निरपेक्ष भाव से विश्व की रचना करती है।[34] इसीलिए इसको अनन्यनिरपेक्ष कहा गया है।[35] पाणिनि का 'कर्त्ता' भी स्वतन्त्र है।[36] महेश्वर की शक्ति के स्वातन्त्र्य की धारणा के लिए त्रिक पाणिनि का ऋणी प्रतीत होता है। स्वातन्त्र्य की यह धारणा, वस्तुतः, इस बात का निदर्शन है कि शिवाद्वय-वादी उसी की सत्ता का आभास विश्व के विभिन्न रूपों में देखता है। शक्ति तथा शक्तिमान् के अभेद में गति तथा नाना वैचित्र्य दोनों सन्निहित हैं। क्षेमराज इस धारणा के प्रबल पक्षधर हैं। उनके अनुसार विश्व की विभिन्न भूमिकाओं के 'प्रच्छादन' तथा उन्मीलन के तारतम्य का आधार उसी चिदात्मा का स्वातन्त्र्यस्वभाव है।[37]

यह स्वातन्त्र्य उस चिदात्मा (चिति) का अनिवार्य स्वभाव है। यही उसका ऐश्वर्य है जिसके कारण वह ईश्वर पद से अभिहित किया जाता है। इसे 'आनन्द' भी कहा जाता है। मानव के मन में भी स्वातन्त्र्य के प्रति कितनी उत्कट अभिलाषा होती है। हमें भी यदि अपने दैनन्दिन कार्यों में परमुखापेक्षी न होना पड़े तो कितनी प्रसन्नता होती है। हम विभोर हो उठते हैं। सृष्टि तथा स्थिति का यह विनोद महेश्वर स्वान्तः-सुखाय करता है और इस महान् कृत्य में उसे किसी के साहाय्य की अपेक्षा नहीं होती, इससे बढ़कर आनन्द तथा स्वतन्त्रता और क्या हो सकती है? स्वातन्त्र्य तथा विमर्श यों तो समानार्थक हैं; किन्तु फिर भी उनमें ईषत् भेद देखा जा सकता है। स्वातन्त्र्य विशेषतया 'इदम्' से सम्बन्ध रखता है जबकि विमर्श का सम्बन्ध उससे आगे बढ़कर 'अहम्' की विशुद्ध अवस्था से है। स्वातन्त्र्य की कोई मिति नहीं। अपनी इसी व्यापकता के कारण वह परमेश्वर की सभी शक्तियों की एक पुंजीभूत भूमि है। उसकी इसी व्यापकता के कारण विभिन्न प्रयोजनों को लेकर इसके विभिन्न नाम दिये गये हैं।

अभिनव अपने स्तोत्रों में उसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं। कहीं तो वे उसे 'निजेच्छाप्रसरता' कहते हैं।[38] कहीं वे उसे 'चमत्कृति' नाम देते हैं।[39] चमत्कृति का अर्थ है—आत्मचर्वणा अथवा आत्मपरामर्श। वे उसे स्फुरत्ता की

संज्ञा भी देते हैं। इसी स्फुरत्ता से यह भाव-जगत् स्फुरित होता है तथा वह देश तथा काल की परिधि से परे है।

इसे 'बोध' तथा 'स्पन्द' भी कहा गया है। स्पन्द इसीलिए कि इसके द्वारा यह अचल चित्प्रकाश गतिशील-सा प्रतीत होता है। योगवाशिष्ठकार ने भी यही मत व्यक्त किया है—

'अनन्या तस्य तां विद्धि स्पन्दशक्तिं मनोमयीम्।
स्पन्दशक्तिस्तदेच्छेयम् दृश्याभासं तनोति सः।[40]

अभिनवगुप्त 'रहस्यपंचदशिका' में इसे 'अन्तर्नदन्ती वाक्' कहते हैं। स्मरण रहे कि यह 'अन्तर्नदन्ती वाक्' 'स्वरसोदिता परावाक्' से भिन्न नहीं है। शिवसूत्रकार तथा अभिनव भी इसे चैतन्य नाम से भी पुकारते हैं।

इस स्वातन्त्र्य अथवा विमर्श की धारणा पर काश्मीर शैव दर्शन में विशेष बल देने का उद्देश्य इसका अद्वैत वेदान्त से विलक्षणता बताना रहा है। वेदान्त प्रतिपादित ब्रह्म शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव तथा प्रकाशैकघन होते हुए भी निर्विमर्श है, निष्क्रिय है, जबकि महेश्वर स्वातन्त्र्यस्वभाव है, सविमर्श है। चेतना उसकी सक्रियता की द्योतक है। यही दोनों में भेद है।

अभिनवगुप्त चिति अथवा परमशिव से स्वातन्त्र्य का विवेचन करते हुए कहते हैं, 'प्रकाशविमर्शस्वरूप संविद्रूपी परमशिव जिसका कभी भी अपलाप नहीं किया जा सकता, जो सदा उदित है, अपने स्वातन्त्र्य के माहात्म्य से ही जो कि संवित् से पृथक् नहीं है, रुद्र से लेकर स्थावर तक प्रमाता के रूप में और नील, सुख इत्यादि प्रमेय के रूप में प्रकट होता है। ये प्रमाता और प्रमेय उससे अभिन्न होते हुए भी भिन्न की भांति भासित होते हैं; किन्तु ये उसके स्वरूप को कभी ढक नहीं सकते।[41]

इस प्रकार हम देखते हैं कि परमशिव की अपनी स्वभावभूत विमर्शात्मक क्रिया ही उसकी परमेश्वरता है। इसी के प्रभाव से वह सदैव पंचकृत्यकारिता के प्रति अभिमुख बना रहता है। यदि उसमें सृष्टि, संहृति आदि पंचकृत्यकारी स्वभाव न होता तो वह शून्य गगन के समान जड, रिक्त और अनीश्वर होता।[42] यह क्रियारूपता या शक्तिरूपता उसका स्वातन्त्र्य कहलाता है। वह स्वयमेव, स्वतः, अपने ही भीतर, अपने को ही तथा अपनी ही महिमा के बल से अनन्तवैचित्र्यपूर्ण संसार के रूप में प्रकट करता रहता है। ऐसा करने के लिए उसे न तो अनादि और अनिर्वचनीय अविद्या की, न अनादि वासना की, न ही अनादि अविवेक की, न ऐसे ही मिथ्या ज्ञान की और न ही अनादि कर्म आदि किसी भी वस्तु की आवश्यकता पड़ती है। वह इनमें से किसी एक की भी अपेक्षा से सृष्टि, संहार आदि में प्रवृत्त नहीं होता अपितु अपनी इच्छा

अर्थात् स्वातन्त्र्य से प्रवृत्त होता है। सृष्टि के लिए उसे मूल प्रकृति, परमाणु आदि बाह्य साधनों की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। अपने से भिन्न किसी भी वस्तु की अपेक्षा के बिना ही सृष्टि एवं संहृति आदि क्रियाओं का चलते रहना भी उसके स्वातन्त्र्य का ही विलास सिद्ध होता है। परमशिव अपनी परिपूर्ण स्वतन्त्रता का विमर्शन करता हुआ जब उसी स्वतन्त्रता की उन्मुखता के चमत्कार से आविष्ट हो जाता है तो सृष्टि के प्रति उमंग में आकर उसके प्रति उन्मुख होता हुआ अपने निर्मल प्रकाश के भीतर अपनी स्वतन्त्र और अनिरुद्ध इच्छा से अपनी शक्तियों के प्रतिबिम्बों को अभिव्यक्त करता है।[43] यह अभिव्यक्ति ही सृष्टि-संहार आदि के रूप में प्रकट हो जाती है। शुद्ध स्फटिक शिला में नील पीतादि विविध आभासों के पड़ने पर भी स्फटिक की स्वच्छता में कोई अन्तर नहीं आता। शुद्ध प्रकाश में भी विश्व के आभासित होते रहने से उसकी शुद्धता में कोई त्रुटि नहीं आती, प्रत्युत इसी से उसकी परमेश्वरता प्रकट होती है। हां, स्फटिक को प्रतिबिम्ब ग्रहण करने के लिए अपने से भिन्न बिम्बों की आवश्यकता अवश्य ही रहती है; किन्तु शिव अपने प्रकाश के भीतर अपनी ही विमर्शात्मक शक्ति के विविध प्रतिबिम्बों को धारण करता हुआ विश्व के सृष्टि, स्थिति, संहार आदि का अवभासन करता है। उसे अपने से भिन्न प्रकाश की आवश्यकता नहीं पड़ती। अपने ही स्वातन्त्र्य से वह अपने ही भीतर जीवभाव, परिमित ईश्वरभाव, माया, अविद्या, वासना, अविवेक, मिथ्या ज्ञान, कर्मवासना, प्रकृति तथा परमाणुओं यहां तक कि समस्त प्रपंच को प्रतिबिम्बित करता रहता है। श्रीकण्ठ आदि की परिमित सृष्टि तो अनादि कर्मों के अधीन होती है। परमशिव की मूल सृष्टि सर्वथा स्वतन्त्र और निरपेक्ष होती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह सब महेश्वर क्यों करता है? यह वस्तुतः उसका स्वभाव है कि वह अपनी इच्छा से अपने को जीवभाव में प्रकट करता हुआ शिवभाव को भुला बैठता है। देश, काल और आकार से परिच्छन्न न होते हुए भी वह अपनी स्वभावगत स्वातन्त्र्य की क्रीडा के उमंग में आकर अपने आपको उक्त सीमाओं से परिच्छन्न करके सीमित जैसा प्रकट करता है। अपनी स्वातन्त्र्य-लीला के उल्लास में वह अपने पराद्वैत भाव को भी भूल जाता है और द्वैतभाव का अवभासन करता हुआ जीवरूप में प्रकट होकर अपने को अपने स्वरूप से भिन्न समझने लगता है। यह सब कुछ करना उसका स्वभाव है। स्वभाव की अभिव्यक्ति के उत्तरकाल में जीव अपने भूले हुए वास्तविक स्वरूप की खोज आरम्भ करके कभी क्रम से कभी अक्रम से अपने आपको पहचानकर पुनः शिवत्व प्राप्त कर लेता है।[44] इस प्रकार वह अपने स्वरूप का

प्रत्यभिज्ञान कर उसके आनन्द का उपयोग पुनः करने लगता है। यह भी उसका स्वभाव ही है। स्वभाव के विषय में प्रश्न करना व्यर्थ है। वह्नि में दाहिका शक्ति क्यों है? यह प्रश्न अनर्गल है। परमशिव यदि अपने स्वरूप का गोपन और प्रकाशन न करे तो उसकी शिवता कैसी? अनेक रूपों में ऐसा अभिनय करते रहना ही उसकी परमशिवता है। इसे ही उसका स्वातन्त्र्य कहते हैं।

यहां एक बात स्पष्ट कर देनी होगी। शिव अपना भेद-प्रथन तथा वैचित्र्यावभासन माया के माध्यम से करता है। यहां उसकी स्वातन्त्र्य-शक्ति माया की शक्ति के रूप में अभिव्यक्त होती है तथा उसके वास्तविक स्वरूप का तिरोधान कर देती है, और इस प्रकार अशुद्ध सृष्टि की अवभासन प्रक्रिया चल पड़ती है। किन्तु यह सब कुछ महेश्वर की इच्छा से तथा उसके भेद-लीला-विलास के रूप में ही होता है। किन्तु जैसे ही उसकी यह क्रीडा समाप्त होती है शिव अपनी भेदवृत्ति त्याग कर पुनः अपने वास्तविक स्वभाव अर्थात् अभेद-वृत्ति प्राप्त कर लेता है तथा पूर्ण अद्वय तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। अर्थात् यह भेदप्रकाशन की प्रक्रिया उसके अद्वय भाव की पूर्णता को और अधिक परिपुष्ट कर देती है।

इस प्रकार, शैव स्वातन्त्र्यवाद के अनुसार परमसत्ता स्वातन्त्र्यस्वभाव के कारण सब कुछ अपने में तथा अपने द्वारा अभिव्यक्त करती है। वह इस विश्व का निमित्त कारण भी है, समवायि कारण भी। विश्व-प्रक्रिया में उसकी इच्छा प्रधान है। उसकी यही महेश्वरता हमारी जगद्विषयक सभी अनुभूतियों की जननी है। चाहे वे अनुभूतियां विभिन्नता में एकता सम्बन्धी हों, एकता में अनेकता सम्बन्धी अथवा प्रमेयपरक या प्रमातृपरक। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार प्रत्येक भावजात सत् है, जबकि वेदान्त में ब्रह्म को छोड़कर सब कुछ मिथ्या है। यहां वस्तुवाद, प्रत्ययवाद तथा स्वातन्त्र्य-वाद अपने सारे विरोधों को छोड़कर एकरूपता को प्राप्त होते हैं। अभिप्राय यह कि स्वातन्त्र्यवाद वस्तुवाद तथा प्रत्ययवाद में सामंजस्य स्थापित कर देता है। चूंकि शांकर वेदान्त परमसत्ता की विमर्शमयता अर्थात् स्वातन्त्र्य का विरोधी है; अतः यहां वस्तुवाद तथा प्रत्ययवाद का भेद बना रहता है। वस्तु व्यावहारिक दृशा सत् हो सकती है, किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से तो वह मिथ्या है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन तो सत् को ही वस्तु का नियामक मानता है।

पाश्चात्य तत्त्वचिन्तन में शापेनहार की ही दार्शनिक मान्यताएँ कुछ ऐसी हैं जिनसे हम शैव स्वातन्त्र्यवाद को समीकृत कर सकते हैं। शैव स्वातन्त्र्यवाद

तथा शापेनहार के स्वातन्त्र्यवाद में कुछ बातों में तो पूर्णतया मतैक्य है—उदाहरणार्थ,

(1) व्यावहारिक अनुभव द्वारा जो कुछ हमें ज्ञात होता है वह केवल दृश्यमान् मात्र है, क्योंकि इस बात में वह कांट का अनुयायी है कि व्यावहारिक स्तर पर हमको वस्तु का उसके स्वरूप में अथवा उसके अस्तित्वसमग्रता में बोध नहीं होता, प्रत्युत देश, काल आदि उपाधियों से छनकर प्रतीयमान रूप में ।

(2) स्वरूपगत् वस्तु, जिसको हमें अपनी ऐच्छिक क्रियाओं तथा संवेग आदि की क्रियाओं में अपरोक्षतः प्रतीति होती हैं, इच्छा है, क्योंकि इसकी मान्यता है कि तीव्र संवेग की स्थिति में, मन के सभी बाह्य प्रभावों के दूर हो जाने के कारण स्वातन्त्र्य अव्यवहित रूप से उपस्थित रहती है ।

(3) भौतिक क्रिया और समग्र भौतिक शरीर इच्छा का ही विषयीकरण है, क्योंकि इसके अनुसार क्रिया अन्तरीभूत इच्छा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं ।

(4) इच्छा प्रत्येक वस्तु का आन्तरिक स्वभाव है और जगत् के प्रत्येक क्षेत्र का सार है ।

(5) दार्शनिक प्रज्ञा का अर्थ चिन्तनात्मक और अमूर्त चेतना में सत्य—'शब्द ही मेरा विचार है' का उद्बोध मात्र है । शैवदर्शन जीवन-मुक्ति में विश्वास रखता है और मुक्ति है—"सर्वो ममायं विभवः" की अनुभूति ।

किन्तु शापेनहार के स्वातन्त्र्यवाद से इसका वहां भेद हो जाता है जहां वह इच्छा को अचेतन मानता है । उसके अनुसार इच्छा चेतना से पृथक् केवल मानसिक क्रिया मात्र है तथा प्रकृति से अभिन्न है, जो उसके अनुसार चेतना से स्वतन्त्र होकर कार्य करती है । उसके लिए इस प्रकार का भेद करना प्रायः अनिवार्य हो गया था, क्योंकि विभिन्न विज्ञानों की पूर्व धारणाओं का वह ऐसी वस्तु के साथ अभेद स्थापित करना चाहता था जिनका व्यावहारिक स्तर पर प्रत्यक्षबोध संभव था तथा उसने कांट की इस बात को स्वीकार किया कि विषय से पूर्णतया भिन्न रूप में प्रमाता (अहं) की चेतना असंभव है तथा उसकी मान्यताएं हीगेल की मान्यताओं के विरोध की प्रतिफलन थीं ।

इसके विपरीत काश्मीर शिवोद्वयवाद उन सिद्ध पुरुषों की छत्रच्छाया में पल्लवित हुआ जो विषय से पूर्णतया भिन्न 'अहं चेतना' अथवा 'अहंबोध' को एक असंदिग्ध अनुभव समझते थे । अतः वे इच्छा को चेतना से पृथक् करने के

लिए बाध्य न थे। अतः सामान्य अनुभूति में जहां इच्छा मन की एक वृत्ति है अन्तिम अनुभूति में वही चिदाकार है।

मोक्षप्राप्ति में माया की भूमिका

अब तक माया के विषय में जो कुछ विवेचन किया गया, उससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि शांकर वेदान्त तथा शिवाद्वयवाद दोनों प्रणालियों में विश्व-रचना-प्रक्रिया तथा विश्व-रचना-बोध दोनों दृष्टियों से माया की अत्यन्त विशिष्ट तथा अनिवार्य भूमिका है। विश्वात्मा की अनन्य शक्ति होने के कारण इसी के माध्यम से समस्त जगदाभास अथवा इसकी प्रतीति संभव होती है। अब देखना है कि मुक्ति-प्रसंग में इसकी क्या भूमिका है।

भारत की प्रत्येक दार्शनिक प्रणाली अपने सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष में मुक्ति की कल्पना प्रस्तुत करती है। मानव-जीवन का उद्देश्य विश्व-प्रपंच की यन्त्रणाओं से निवृत्ति तथा परमसत्य के साथ तादात्म्य स्थापित करना अथवा उसका साक्षात्कार करना है। उसकी प्रणाली तथा प्रक्रिया को लेकर विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों में मतभेद हो सकता है किन्तु उद्देश्य की दृष्टि से सभी प्रणालियों में एक मूलभूत समानता है। जहां तक शांकराद्वैत तथा प्रत्यभिज्ञा दर्शन का प्रश्न है, इनका सारभूत सिद्धान्त है—अनेकत्व के माध्यम से एकत्व की प्रतीति अथवा आभास तथा भेद के माध्यम से अभेद का अवबोध। इस प्रक्रिया में माया एक सार्थक भूमिका निभाती है। मुक्ति अथवा मोक्ष के सन्दर्भ में भी उक्त प्रक्रिया ही लागू होती है अतः इसकी उपलब्धि में भी माया का पर्याप्त योगदान है। शांकर वेदान्त के अनुसार मोक्ष एक ऐसी सत्ता के साक्षात्कार का विषय है जो अनन्त काल से विद्यमान है, यद्यपि वह हमारी दृष्टि के क्षेत्र से परे है। जब प्रतिबन्ध दूर हो जाते हैं तो आत्मा मुक्त हो जाती है। शंकर कहते हैं कि 'वह जो परम अर्थों में यथार्थ है, निर्विकार है, नित्य है, आकाश के समान सर्वान्तर्यामी है, हर प्रकार के परिवर्तन से मुक्त, सर्वसन्तोषप्रद, अविभक्त, जिसका स्वरूप ही उसका अपना प्रकाश है और जिसके अन्दर न तो भला है न बुरा, न भूत न वर्तमान और न भविष्यत् को कोई स्थान है—उस अलौकिक को मोक्ष कहा गया है।'[45] जब अविद्या का लोप हो जाता है तो यथार्थ आत्मा स्वतः प्रकाशित हो जाती है, ठीक जिस प्रकार मलिनताओं के छूट जाने पर सुवर्ण में चमक आ जाती है अथवा जैसे मेघशून्य रात्रि में तारे प्रकाश देने लगते हैं जबकि इन्हें अभिभूत करने वाला दिन छिप जाता है। मनुष्य के लिए विश्व-प्रपंच के बन्धनों से मुक्ति एक ऐसा ऐश्वर्य है जो विचार के क्षेत्र से सर्वथा परे है। शंकर हमारे समक्ष एक ऐसे स्वर्ग का चित्र उपस्थित नहीं करते जो इस लोक से पृथक् अथवा इस लोक के अनुभव की व्यवस्था से भिन्न प्रकार का

है, अपितु एक ऐसा स्वर्ग है जो सर्वथा यहां विद्यमान है, यद्यपि हम उसे देख नहीं सकते। यह किसी काल्पनिक भविष्य के गर्भ में अवस्थित नहीं जो वर्तमान जीवन की समाप्ति पर आने वाले लोक में निरन्तर स्थायी जीवन हो, अपितु यह यथार्थ तत्त्व के साथ एकत्र अथवा तादात्म्य की अवस्था है जो इसी लोक में है और वर्तमान काल में भी है।[46] नागार्जुन भी निर्वाण के विषय में कुछ ऐसे ही विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं—निर्वाण की न उत्पत्ति है, न विनाश, वह न एक है और न अनेक है, न गतिरहित अथवा गति का अभाव है, न नित्य है और न विनश्वर और यह कि वह संसार के सदृश है।[47] शंकर के अनुसार मुक्ति की स्थिति का अभिप्राय है अपने यथार्थ रूप को धारण करना।[48] यहां मोक्ष आत्मा के विलोम का नाम नहीं है अपितु चैतन्य के विस्तार तथा प्रकाश के द्वारा अपनी अनन्तता और निरपेक्षता का साक्षात्कार कर लेने का नाम है। चित्सुखाचार्य इसे आनन्दमय का साक्षात्कार कहते हैं तो सिद्धान्तलेश संग्रहकार 'अनवच्छिन्नानन्द प्राप्ति'। अभिप्राय यह कि आत्मा के तात्त्विक स्वरूप परमानन्द को दुःख आवृत कर लेता है और अज्ञान उसमें सहायक होता है। अज्ञान के अभाव में दुःख लुप्त हो जाता है और आत्मा का स्वरूप विशुद्धानन्द के रूप में अपने को अभिव्यक्त कर देता है। शंकर के अनुसार मोक्षप्राप्ति की कोई ऐसी प्रक्रिया नहीं है जिससे हम समस्त जगत् को नष्ट करने का यत्न करते हैं। यह इस प्रकार की कोई प्रक्रिया नहीं है जैसे घी को आग के ऊपर रखकर उसके ठोस रूप को तरल रूप में परिणत किया जाता है।[49]

शंकर कहते हैं कि अविद्या शब्द का प्रयोग स्थिति के सारतत्त्व का प्रतिपादन करने के लिए किया गया है। मुक्ति-प्राप्ति से संसार में तो कोई परिवर्तन नहीं होता, केवल इसके प्रति हमारे दृष्टिकोण में परिवर्तन आ जाता है। इसके क्षणस्थायी पदार्थ अल्पमति एवं अविवेकी व्यक्तियों के लिए एक प्रकार का मोहक आकर्षण रखते हैं, किन्तु मुक्तात्मा को सर्वथा आकृष्ट नहीं करते। दुःख का कारण केवल मिथ्याज्ञान की भ्रान्ति है।[50] इस भ्रान्ति से मुक्ति पा जाने पर दुःख से भी मुक्ति मिल जाती है। इस प्रकार मोक्ष संसार का विलय नहीं है अपितु, केवल एक मिथ्या दृष्टिकोण का मिट जाना मात्र है। मुक्तात्मा की पुनः लौकिक जीवन में वापस आने की संभावना नहीं रहती। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में शंकर इतना उत्साह दिखलाते हैं कि वह बार-बार इस बात को दोहराते हैं कि मुक्ति के अन्दर समस्त व्यावहारिक विभागों एवं गुण तथा विषय-विषयी के भेदों का भी पूर्ण रूप से विलय हो जाना आ जाता है।

यह जगत् केवल एक भ्रान्ति मात्र है, इस प्रकार की आपत्ति की पुष्टि

इस विचार से होती है कि यह आनुभविक जगत्, आत्मा, वस्तुएं तथा ईश्वर आदि भेदों-सहित ऐसे व्यक्ति के लिए, विलुप्त हो जाता है, जो बाह्य तथा आत्मा के एकत्व को जान जाता है।[51] शंकर अपनी व्याख्याओं में अनेक स्थलों पर बार-बार इस दृष्टान्त को दोहराते हैं कि जिस प्रकार रस्सी का ज्ञान हो जाने पर सर्पविषयक मिथ्या ज्ञान दूर हो जाता है तथा जाग जाने पर स्वप्न-काल के समस्त कार्यकलाप तथा उपलब्धियां स्वतः नष्ट हो जाती हैं, ठीक उसी प्रकार मुक्ति प्राप्त होने पर संसार का अस्तित्व मिट जाता है। हमारी परिमित अन्तर्दृष्टि को जगत् जिस रूप में प्रतीत होता है वह रूप आत्मा तथा ब्रह्म के एकत्व को जान लेने पर परिवर्तित हो जाती है। शंकर इस तथ्य पर अनेक प्रकार से बल देते हैं कि परब्रह्म के लिए यह जगत् उस प्रकार का अस्तित्व नहीं रखता जिस प्रकार का हमारे लिए रखता है। ब्रैडले भी शंकर के समान ही इस बात को स्वीकार करते हैं कि प्रतीतिस्वरूप जगत् का भेद सम्पन्नस्वरूप परब्रह्म के अन्दर जाकर नहीं रहता। वे समस्त भेद यथार्थ सत्ता में किस प्रकार विलीन हो जाते हैं इस प्रश्न का समाधान ब्रैडले ने तो 'किसी-न-किसी प्रकार से' कहकर टाल दिया है, किन्तु शंकर इसे 'अनिर्वचनीय' कहते हैं।

शंकर अनेक वाक्यों द्वारा बार-बार यह घोषणा करते हैं कि मुक्ति का तात्पर्य ब्रह्म के साथ ऐकात्म्यबोध है। ब्रह्म अनुभव के सभी प्रकार के विभागों से अतीत है। इस प्रकार मोक्ष की अवस्था का वर्णन हमारे ज्ञान के शब्दों में नहीं किया जा सकता। यह नहीं कहा जा सकता कि मुक्त पुरुष किसी एक भौगोलिक क्षेत्र में निवास करते हैं जिसका नाम स्वर्ग अथवा ब्रह्म लोक है; और न यही कहा जा सकता है कि वे अनन्त काल तक रहते हैं। शंकर अरस्तू के इस विचार से सहमति रखते हुए प्रतीत होते हैं कि 'अनन्तकाल की अवधि न तो उत्तम को उत्तमतर बना सकती है और न श्वेत को अधिक श्वेत ही बना सकती है।' हम मोक्ष की अवस्था को निरन्तर क्रियाशीलता की अवस्था नहीं मान सकते। यह सर्वोत्कृष्ट अनुभव है जो सभी प्रकार की क्रियाशीलता से परे है और यहां तक कि इस अवस्था में आत्मचैतन्य भी समाप्त हो जाता है। मोक्ष की अवस्था विश्वात्मा के साथ सर्वात्मभाव प्राप्त करना है, अर्थात् उस ब्रह्म के साथ जो कि आनुभविक जगत् के भेदों से ऊपर उठा हुआ है।[52]

शंकर की समस्त व्याख्याओं का सार यह है कि जीवात्मा का वास्तविक स्वरूप वही है जो ब्रह्म का है। सर्वोच्च प्रभु की आत्मा शरीरधारी जीवात्मा का यथार्थ स्वरूप है; और शरीररूपी बन्धन की अवस्था प्रतिबन्ध करने वाले सहायकों के कारण है। 'जिस प्रकार काल्पनिक सांप अविद्या के दूर हो जाने

पर रस्सी के वास्तविक रूप में आ जाता है उसी प्रकार भासमान जीवात्मा का, जो कर्तृत्व और अनुभव, राग और द्वेष तथा अन्य त्रुटियों के कारण दूषित है और अधिकतर पाप के वशीभूत है; ज्ञान के द्वारा उस सर्वोच्च ईश्वर के पातकरहित सारतत्त्व में रूपान्तरण हो जाता है जो इन सब अपूर्णताओं के प्रतिकूल है।'[53] शंकर के उक्त वाक्य से सहमति व्यक्त करते हुए अप्ययदीक्षित कहते हैं कि शंकर स्पष्ट रूप से मोक्ष के ईश्वर के साथ एकत्व सम्बन्धी विचार के पक्षधर हैं।[54]

शंकर ने जीवन्मुक्ति का जो निरूपण किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पार्थिव शरीर की समाप्ति के पश्चात् शाश्वत जीवन कोई जीवन की अवस्था नहीं है। जब अन्तर्ज्ञान की ज्योति इसी लोक में प्राप्त हो गई तो मोक्ष की प्राप्ति हो गई। ऐसी अवस्था में मृत्यु-पर्यन्त शरीर की विद्यमानता प्रवंचना का कारण नहीं बन सकती। मिट्टी का पात्र बनकर तैयार हो जाने के बाद भी जिस प्रकार कुम्हार का चक्र चलता ही रहता है, उसी प्रकार मोक्ष के बाद भी जीवन बना ही रहता है, क्योंकि पहले से जो गति इसने प्राप्त कर ली है उसे रोकने का इसके पास कोई कारण नहीं है।[55] शंकर एक ऐसे मनुष्य का निदर्शन भी प्रस्तुत करते हैं जो चन्द्रमा को उसके द्विगुण रूप में देखता है। नेत्र-विकार के कारण यह जानते हुए भी कि वस्तुतः चन्द्रमा एक है वह अपने को इस प्रकार देखने से रोक नहीं सकता। मुक्तात्मा अपने समस्त कर्मों को ब्रह्मार्पण समझ कर करता है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में मोक्ष का अर्थ है, अपने वास्तविक स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान। दूसरे शब्दों में अकृत्रिम अहंविमर्श का उद्रेक। इसके पूर्व कि हम इस दर्शन की मोक्ष-प्रक्रिया पर विचार करें, यह समझ लेना आवश्यक है कि आखिर वह कौन-सा कारण है जिससे मुक्ति पाने की आवश्यकता का हमें अनुभव होता है। वह कारण है—बन्ध। बन्ध का अर्थ है संसरणशीलता। वसुगुप्त ने ज्ञान को बन्ध कहा है—'ज्ञानं बन्धः'। यहां ज्ञान से अभिप्राय है अज्ञानात्मक ज्ञान।[56] जो कुछ हम जानते हैं वही ज्ञान कहलाता है। इस प्रकार अज्ञान भी ज्ञान की परिधि के अन्तर्गत आ जाता है। वह अज्ञान है—मलत्रय अर्थात् आणव मल, कार्म मल तथा मायीय मल। इन तीनों के प्रभाव से जीव अनात्मनि शरीर में आत्मा को अधिष्ठित समझने लगता है। 'मालिनीविजय' भी मलत्रय को ही अज्ञान मानता है तथा उसी को संसार के स्रोत का कारण प्रतिपादित करता है।[57] 'श्री सर्वाचार' भी यही मत व्यक्त करता है—'अज्ञानाद् बध्यते लोकः ततः सृष्टिश्च संहृतिः'। जीवन का बन्ध जन्मजात अख्याति अथवा अविद्या के कारण है। इसे ही आणव मल कहते हैं। यह मल वह आद्य अवच्छेदक उपबन्ध

है जिसके द्वारा सर्वव्यापी चैतन्य एक अणु या परिमित अवस्था में आ जाता है। यह दशा महेश्वर की इच्छा-शक्ति के संकोच से होती है। इसी के कारण जीव (पशु) अपने को सर्वव्यापी चैतन्य (पति) से भिन्न एक पृथक् सत्ता समझने लगता है। यह आत्मपरिच्छेद की चेतना है। इसी प्रकार के अज्ञान द्वारा हमको प्रकाशविमर्शस्वभाव शिव के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता। हम यह समझने लग जाते हैं कि वह प्रकाश तथा विमर्श धर्म रूप चोले को उतार कर अलग रख देता है। किन्तु वस्तुतः प्रकाश तथा विमर्श उसके धर्म नहीं, अपितु स्वरूप ही हैं। हम अपनी दैनंदिन अनुभूति द्वारा शिव के इस सर्वव्यापी तथा अनन्त स्वरूप का प्रत्यक्ष नहीं कर पाते। हम स्वप्न में भी यह धारणा नहीं बना पाते कि हम जो चाहें वह जान सकते हैं या कर सकते हैं। स्वेच्छयागृहीत इस स्वरूप में प्रतिक्षण सुख-दुःख की सृष्टि होती रहती है। शैवाचार्यों के अनुसार यह स्वरूपाख्याति भी शिवेच्छाजन्य है। उनके अनुसार चरमसत्य परमेश्वर ही सभी कृत्य, चाहे वे बन्धपरक हों या मोक्षपरक, का सम्पादन करता है।[58] उसी की इच्छानुसार बन्ध के मूलकारण माया तथा मलों का प्रादुर्भाव होता है।[59] इसी माया और तज्जन्य मलों के प्रभाव से प्रभुइच्छावशात् आत्मा चराचर रूपों में विभक्त हो जाती है। इसी बन्ध की विभीषिका से बचने के लिए मोक्ष की आवश्यकता होती है।

जैसाकि ऊपर कहा गया प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार मोक्ष का अभिप्राय है—अपने यथार्थ स्वरूप की पहचान अथवा प्रत्यभिज्ञान। इसी को दूसरे शब्दों में अकृत्रिम अहंविमर्श कहा जाता है। यह अहंविमर्श क्या है, इस विषय में उत्पल कहते हैं—

'अहं प्रत्यव मर्शो यः प्रकाशात्मापि वाग्वपुः।
नासौ विकल्पः स ह्युक्तो द्वयापेक्षी विनिश्चयः।'[60]

शुद्ध अहंविमर्श विकल्प नहीं है, क्योंकि विकल्प द्वयापेक्षी या सापेक्ष होता है। साधारणतः अहंविमर्श या आत्मबोध अनात्म की विपरीतता की अपेक्षा से होता है। शुद्ध अहंविमर्श इस प्रकार सापेक्ष नहीं होता है। वह एक अव्यवहित अपरोक्षानुभूति है। जब इस प्रकार की अनुभूति होती है तभी हमें अपने वास्तविक स्वरूप का बोध होता है। यही वास्तविक स्वरूप का बोध ही मोक्ष कहलाता है। अभिनवगुप्त कहते हैं कि मोक्ष और कुछ नहीं, केवल अपने स्वरूप का उन्मेष मात्र है।[61] उनके अनुसार ज्ञेय तत्त्व (पारमार्थिक सत्ता) का आध्यात्मिक ज्ञान ही वह साधन है जिसके द्वारा हम अपने को इस संसारचक्र से मुक्त कर सकते हैं। यह साधन सभी प्रकार की सीमाओं तथा द्वैतभाव से परे है।[62] यह केवल परासंवित् की प्राप्ति की अवस्था का नाम है, जो भाषा

तथा विचार द्वारा गोचर नहीं तथा न केवल इन्हीं दोनों, अपितु इन दोनों से सम्बद्ध सभी विषयों का परम साधन है। यह विशुद्धरूपेण विषयीगत है अतः बाह्य प्रकाश से इसका न तो प्रकाशन संभव है और न ही किसी प्रमाण द्वारा इसका ज्ञान। अप्रकाश्य तथा अज्ञेय यह मोक्ष विश्वोतीर्ण है और है चरम लक्ष्यों का लक्ष्य।

अभिनव ने अपने 'तन्त्रालोक' तथा 'तन्त्रसार' में मोक्ष को चार रूपों में विभक्त किया है। ये हैं—अनुपाय, शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय तथा आणवोपाय। इन्हीं को क्रमशः आनन्दोपाय, इच्छोपाय, ज्ञानोपाय तथा क्रियोपाय भी कहा जा सकता है। क्षेमराज अपनी 'शिवसूत्रविमर्शिनी' में केवल तीन ही तक सीमित रह जाते हैं—शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय तथा आणवोपाय। वह अनुपाय को भी इन्हीं में समाहित कर लेते हैं। मकड़ी की भांति स्वेच्छयाबद्ध परमेश्वर की स्वेच्छया मुक्ति के इन उपायों को समावेश नाम से भी अभिहित किया जा सकता है।[63] समावेश का तात्पर्य है एक उपाय का दूसरे में आवेश, अतः ये उपाय एक दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते। अब हम इन उपायों पर क्रमशः विचार करते हैं तथा देखते हैं कि इनके माध्यम से मुक्ति की धारणा कितनी और किस प्रकार अभिव्यक्त हुई है।

अनुपाय तथा आनन्दोपाय

अनुपाय को विशुद्ध रूप से उपाय कहना कठिन है यह सर्वथा अनुग्रह पर आश्रित है। गुरु के एक शब्द से शक्तिपात हो सकता है और साधक को ऐसा प्रकाश मिल सकता है जिससे क्षण भर में उसे आत्मसाक्षात्कार हो जाय। अनुपाय में प्रयुक्त 'अन्' उपसर्ग का अर्थ है साधक के द्वारा अत्यन्त अल्प अथवा नाम मात्र का प्रयत्न।

दोनों ही अर्थों में अनुपाय का भाव है तीव्रतम शक्तिपात के द्वारा साक्षात्कार। कभी-कभी एक सिद्ध पुरुष के दर्शनमात्र से साधक को प्रकाश मिल जाता है और वह रूपान्तरित हो जाता है। यह प्रत्यभिज्ञा की भांति है जिसको हम पारमार्थिक अन्तर्दृष्टि कह सकते हैं। जो व्यक्ति अपने अन्तस् में शिव की खोज कर लेता है अर्थात् जो प्रतिपादित शास्त्र के अनुसार इस बात का परिज्ञान प्राप्त कर लेता है कि उसकी अन्तरात्मा शिव तथा विश्व से अव्यतिरिक्त है, वह मुक्त हो जाता है। यह वह मार्ग है जिसमें परम तत्त्व की प्राप्ति बिना भावना के हो जाती है। इस उपाय द्वारा प्राप्त किए गये पद की तुलना सुषुप्ति से ही की जा सकती है जिसमें चैतन्य सभी उपरागों से विनिर्मुक्त रहता है। इसीलिए संभवतः इसे आनन्दोपाय कहा जाता है।

शाम्भोपाय अथवा इच्छोपाय

इसमें पूर्णज्ञान अर्थात् परम सत्ता का ज्ञान इच्छा-शक्ति के आभास के द्वारा प्राप्त होता है। इसमें किसी प्रकार की गहरी समाधि, श्वांस-निरोध अथवा अनुसन्धि अथवा उसके लोप की आवश्यकता नहीं पड़ती, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार एक कुशल जौहरी को रत्न के मूल्य का पता उसको देखते ही चल जाता है। इसके द्वारा प्राप्त पद वह पद है जिसमें अनुभूतियों का निश्चय समाप्त हो जाता है, अतः इसकी तुलना उस स्थिति से की जा सकती है जो कि सोने के पहले आती है तथा जिसका महत्त्व ऐसे स्थूल विचारों से है जो इच्छाकाल में उद्बुद्ध होते हैं।

ज्ञानोपाय अथवा शाक्तोपाय

यह वह उपाय है जिसमें द्वैतभाव से अद्वैतभाव तक उठने के लिए अनवरत प्रयत्न किये जाते हैं। उदाहरण के लिए जब कोई साधक यह सोचना प्रारम्भ कर देता है कि 'यह जो कुछ है, सब आत्मा है'—'आत्मैव सर्वम्' तथा अनवरत प्रयत्न के फलस्वरूप ऐक्य का निर्विकल्पक ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वही वास्तव में ज्ञान का साधक कहलाता है। उसको ज्ञानोपाय इसलिए कहते हैं कि इसमें मानसिक क्रियाओं की प्रधानता रहती है।

क्रियोपाय अथवा आणवोपाय

यह वह मार्ग है जिसमें आत्मसाक्षात्कार के लिए कुछ मन्त्रों का उच्चारण करना पड़ता है। वे मन्त्र केवल कल्पना मात्र होते हैं। इसको क्रियोपाय कहने का कारण यह है कि इसके साधक के लिए 'इदन्ता' तथा 'अहन्ता' दोनों का समान महत्त्व होता है जो सद्विद्या अवस्था (अहमिदम्) की प्रधान अनुभुति है। डा० पाण्डेय मन्त्रों की तुलना लोरी से करते हैं। जिस प्रकार लोरी बच्चों को सुलाने में सहायक होती है उसी प्रकार मन्त्र मोक्ष में सहायक होते हैं।[64]

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में पंचकृत्य और विकलपक्षय के अभ्यास को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। इसके अनुसार शिव का पंचकृत्य—सृष्टि स्थिति, संहार, विलय तथा अनुग्रह जीव में भी सदा चलता रहता है। साधक को उच्च चेतना की भूमि तक पहुंचने के लिए पंचकृत्य के रहस्य पर सदा मनन करना चाहिए। जीव नियत देशकालादि में नील इत्यादि का जो प्रत्यक्ष करता है वह 'सृष्टि' है। नीलादि आभास का नैरन्तर्य 'स्थिति' है। अहंभाव के आनन्दविमर्शन के समय उसका आभास संहार है। संहृत होने पर भी संस्कारवश उसका आभास विलय की दशा है। हठयाक क्रम से चित् में विलीन हो जाना

अनुग्रह की दशा है। इस अभ्यास से साधक शुद्ध चिदानन्द का अधिकारी हो जाता है।

एक अन्य विधि विकल्पक्षय की है। चित्त नाना प्रकार की वृत्तियों का केन्द्र है जो एक दूसरे के बाद समुद्र पर लहर के समान उठती रहती हैं। हम उन्हीं वृत्तियों में उलझे रहते हैं। उनके पीछे शान्त चेतना का जो स्तर है उसका हम को पता भी नहीं होता। विकल्पक्षय का अभ्यास क्षोभ से मुक्त होने और उस अधःस्थ चेतना की प्राप्ति के लिए बतलाया गया है जिसके ऊपरी तल पर विकल्प विहार करते रहते हैं। यह उपलब्धि हठात् नहीं हो सकती क्योंकि वृत्तियों के हठपूर्वक विरोध से केवल प्रतिरोध खड़ा होता है। यह स्थिति केवल सावधान निश्चेष्टता द्वारा अकिंचिच्चिन्तकत्वसहित सावधानता द्वारा प्राप्त हो सकती है।

इन साधनाओं द्वारा समावेश की प्राप्ति होती है। इस समावेश को समग्र परिपूर्ण और स्थायी करने के लिए क्रम मुद्रा की साधना करनी पड़ती है। क्रम मुद्रा द्वारा जीवन की चेतना का सर्वव्यापी चेतना से तादात्म्य के अनुभव को भी समन्वित करना पड़ता है। यह दर्शन उस समावेश को पूर्ण नहीं मानता जो केवल समाधि की अवस्था में रहता है और व्युत्थान में लुप्त हो जाता है। इस दर्शन के अनुसार वही पूर्ण समावेश है जो व्युत्थान दशा में भी अविचलित रहता है और जिसके द्वारा जगत् केवल मृण्मय नहीं प्रतीत होता, प्रत्युत दिव्य प्रकाश के परिधान से समलंकृत दीख पड़ता है। वह सर्वव्यापी चेतना की अभिव्यक्ति और विलास प्रतीत होता है और स्वयं साधक भी यही अनुभव करता है कि 'मैं भी वही चेतना हूं' तब जगत् परिहार का विषय नहीं रह जाता प्रत्युत आनन्द का विषय बन जाता है। तभी वास्तविक अकृत्रिम अहम् का उदय होता है जिसमें जगत् प्रतियोगी की भांति नहीं, अपितु अहम् की अभिव्यक्ति की भांति प्रतीत होता है।

इस दर्शन की जीवन्मुक्ति की यही अवधारणा है। जगत् का उदय शिव के शुद्ध अहंविमर्श से होता है। मानव की अवस्था में उस अहंविमर्श का तादात्म्य अन्नप्राण मनोमय कोशों से हो जाता है और जगत् उस अहम् का सर्वथा प्रतियोगी प्रतीत होता है। मानव का कर्त्तव्य है पुनः उस अहंविमर्श को प्राप्त करना जिसमें अहम् और इदम् एक ही है।

इस अवस्था की प्राप्ति सहसा नहीं हो जाती। इस दर्शन के अनुसार प्रमाताओं का उच्चावच स्तर है। अपनी साधना के बल पर मानव क्रमशः माया प्रमाता की अवस्था से ऊपर उठते हुए शिव के शुद्ध अहंविमर्श की अवस्था को पहुंच जाता है।

सामान्य जीव को सकल कहते हैं। उसमें कार्म, मायीय और आणव तीनों मल रहते हैं। कई जन्मों के अनन्तर जिसमें कि वह भौतिक और मानसिक शक्तियों के वशीभूत होकर नाना प्रकार के कृत्य करता रहता है, वह एक मानसिक व्यथा से ग्रस्त हो उठता है जिसके कारण वह जीवन 'कहां' से और 'किधर' जानने की चेष्टा करता है। यह शिव के अनुग्रह की प्रथम अभिव्यक्ति है।

पर्याप्त रूप से सावधान न रहने पर और अवांछनीय प्रकार के योगाभ्यास करने पर वह प्रलयाकल हो सकता है। प्रलयाकल कार्म मल से मुक्त होता है। उसमें केवल मायीय और आणवमल होता है, किन्तु उसमें न ज्ञान होता है न क्रिया। यह वांछनीय अवस्था नहीं है। प्रलय के समय तो प्रत्येक सकल प्रलयाकल हो जाता है।

विज्ञानाकल एक अधिक उच्च अवस्था का साधक है। वह माया से ऊपर उठ गया है, किन्तु शुद्ध विद्या के नीचे है। वह कार्म और मायीय मल से मुक्त होता है किन्तु अभी उसमें आणवमल विद्यमान रहता है। उसमें ज्ञान और इच्छा होती है, किन्तु क्रिया नहीं होती।

विज्ञानाकल से ऊपर मंत्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर और शिवप्रमाता होते हैं, जिनमें उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता है। ये सभी मलों से मुक्त होते हैं, किन्तु इनमें एकत्व-चेतना का न्यूनाधिक मात्रा में अनुभव रहता है। केवल शिव प्रमाता को प्रत्येक वस्तु शिव ही प्रतीत होती है।

शुद्ध अहंविमर्श ही सारी सृष्टि प्रक्रिया का मूल है। शिव की शुद्ध अहंचेतना ही से निमेष अथवा तिरोभाव प्रारम्भ होता है। उन्मेष अथवा आविर्भाव पुन: उसी शुद्ध चेतना की ओर पहुंचता है। अब जीवन-पथिक अर्थात् साधक अपने वास्तविक स्वरूप को पुन: प्राप्त कर लेता है किन्तु साथ ही एक अद्‌भुत अनुभूति "सर्वो ममायं विभव:" से युक्त हो जाता है। क्रमश: आवरण हटता जाता है तथा अन्तत: वह परमतत्त्व के हृदय में स्थित हो जाता है और उसके मुख से हठात् यह उद्‌गार फूट निकलते हैं—

'स्वतंत्र स्वच्छात्मा स्फुरति सततं चेतसि शिव:
पराशक्तिश्चेयं करणसरणिप्रान्तमुदिता।
तदा भोगैकात्मा स्फुरति च समस्तं जगदिदम्[65]
न जाने कुत्रायं ध्वनिरनुपतेत् संसृतिरिति ॥'

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां शांकर वेदान्त के अनुसार मोक्षास्था में विश्व निरस्त हो जाता है तथा मुक्ति-लाभ तब होता है, जब विद्या द्वारा अविद्या निरस्त हो जाती है, वहां ईश्वराद्वयवाद में मोक्षावस्था में विश्व का

बोध शिव-चेतना अथवा आकृत्रिम अहंचेतना के रूप में होता है। इस प्रणाली में अज्ञान दो प्रकार है—बौद्ध अज्ञान और पौरुष अज्ञान। बौद्ध अज्ञान बुद्धिगत है, पौरुष अज्ञान स्वरूपगत है। विद्या से केवल बौद्ध अज्ञान निरस्त होगा। पौरुष अज्ञान फिर भी शेष रह जाएगा। ऐसा व्यक्ति कोरी शून्यावस्था में ग्रस्त हो जाएगा। उसे शिवत्व-लाभ नहीं हो सकेगा। पौरुष अज्ञान का निरसन भी अपेक्षित है। पौरुष अज्ञान का अपसारण शक्तिपात द्वारा ही संभव है। शक्तिपात या तो सिद्ध गुरु के द्वारा या साक्षात् परमेश्वर के अनुग्रह के द्वारा ही हो सकता है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा दर्शन की मुक्ति-प्रक्रिया में गुरुदीक्षा का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

माया की अनिवार्यता का प्रश्न

माया के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के पश्चात् यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या विश्व-रचना-बोध के सन्दर्भ में माया एक अनिवार्य तत्त्व है? क्या इसके बिना जीवन एवं जगत् की कल्पना नहीं की जा सकती? क्या जगत् की प्रतीति अथवा आभास या विश्व के नाना-वैचित्र्य का बोध उसके अस्तित्त्व के बिना संभव नहीं है? इसी प्रकार परमतत्त्व के साथ साक्षात्कार ऐकात्म्यबोध अथवा सामरस्य क्या उसकी प्रक्रिया से गुजरे बिना नहीं हो सकता? नीचे की पंक्तियों में हम संक्षेप में इन्हीं प्रश्नों के उत्तर खोजने का प्रयास करेंगे तथा यह भी देखने का प्रयत्न करेंगे कि शांकर वेदान्त तथा प्रत्यभिज्ञा प्रणाली में इस अनिवार्यता को कहां तक स्वीकार किया गया है।

शांकराद्वैत प्रणाली में 'माया' की अन्यान्य व्याख्यायें उपलब्ध होती हैं। इन सभी व्याख्याओं का सार यह है कि माया ब्रह्म से भिन्न नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्म के समान दूसरी कोई सत्ता नहीं है। विश्व की उत्पत्ति ब्रह्म के अन्दर किसी अन्य यथार्थ सत्ता के कुछ अंश जुड़ जाने से नहीं हुई है, क्योंकि जो अपने में सर्वांगपूर्ण है उसमें किसी अन्य प्रकार के पदार्थ का संयोग नहीं हो सकता। इसलिए यह विश्व असत् के कारण से विद्यमान है। विश्व-प्रक्रिया यथार्थ सत्ता के क्रमिक ह्रास के कारण है। माया का प्रयोग विभाजक शक्ति अथवा प्रतिबन्धन तत्त्व के लिए हुआ है। यह वह तत्त्व है जो अपरिमित को माप में परिमित कर देता है और रूप-रहित में रूप की सृष्टि करता है।[66] आनुभविक जगत् में जो भेद पाया जाता है और जिसका हमें ज्ञान है उसका कारण यदि हम नित्य ब्रह्म में खोजने का प्रयत्न करें तो अनुचित होगा। माया का सम्बन्ध ब्रह्म के साथ जोड़ते ही ब्रह्म ईश्वर के रूप में परिणत हो जाता है और माया ईश्वर की शक्ति को प्रकट करती है। यद्यपि ईश्वर के ऊपर माया

का कोई प्रभाव नहीं पड़ता तथापि इसके अस्तित्व के बिना जगत् के आभास की भी कोई व्याख्या नहीं बनती। जगत् की उत्पादिका होने के नाते तो इसकी यथार्थता समझ में आ सकती है किन्तु ब्रह्म के प्रतिबन्ध के रूप में इसकी यथार्थता बुद्धिसंगत नहीं प्रतीत होती। यह न तो ब्रह्म के समान यथार्थ है और न आकाशकुसुम के समान अभावात्मक।[67] हम इसे चाहे भ्रान्ति मात्र समझें चाहे यथार्थ, किन्तु जीवन की समस्याओं के समाधान के लिए इसकी सत्ता को मानना आवश्यक है। यह ईश्वर की एक नित्य शक्ति है। संक्षेप शारीरककार के मत में ब्रह्म माया के माध्यम द्वारा विश्व का उपादान कारण है, क्योंकि माया का क्रिया के लिए होना आवश्यक है। यह जगत् में अनिवार्य रूप से उपस्थित रहती है तथा ब्रह्म के अस्तित्व की नियामक है—'कार्यसत्ता नियामिका'। माया द्रव्य नहीं है और इसलिए इसे उपादान कारण नहीं माना जा सकता। यह केवल मात्र एक व्यापार है जो ब्रह्मरूपी उपादान कारण से उत्पन्न होने के कारण भौतिक पदार्थ अर्थात् जगत् की उत्पत्ति करता है—'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापार:।' माया के कारण ही विविध प्रकार के नाम और रूप का विकास होता है और उन्हीं का कुलयोग यह आनुभविक जगत् है। पहले भी कहा गया है कि यह ईश्वर की उत्पादिका शक्ति है और इसी के माध्यम से ब्रह्म संसार की सृष्टि करता है। यह नाम और रूप के समान है जो अपनी अविकसित अवस्था में ईश्वर के अन्दर समवाय सम्बन्ध से रहते हैं तथा अपनी विकसित अवस्था में जगत् का निर्माण करते हैं। इन अर्थों में यह प्रकृति की पर्यायवाची है। यह विश्व-विकास का न तो कोई भाग है और न उसकी उपज ही है किन्तु अनेकत्व और अपहरण का एक अव्यक्त तत्त्व है जो समस्त विकास का आधार है। सर्वोपरि ईश्वर सृष्टि-रचना के समय रूपविहीन तथा निरुपाधिकों में ऐसे रूपों तथा गुणों का आधान करता है जिन्हें वह अपने अन्दर धारण किए हुए हैं। इस अविकसित तत्त्व को कभी 'आकाश' कभी 'अक्षर' अर्थात् अविनाशी और कभी माया नाम से अभिहित किया जाता है।[68] यह परमेश्वर की ऐसी अव्यक्त शक्ति है जिसके बिना वह जगत की सृष्टि नहीं कर सकता।[69] कहने का अभिप्राय यह कि जगत् की सारी सम्भाव्यता इसके अन्दर केन्द्रित रहती है जैसे भविष्य में आने वाले वृक्ष की सम्भाव्यता बीज के अन्दर निहित रहती है। यहां तक कि प्रलयकाल में भी यह सर्वशक्तिमान ब्रह्म के ऊपर आश्रित रहकर बीजरूप में विद्यमान रहती है। निष्कर्ष यह कि यह विश्व ईश्वर अथवा ऐसे विषयी के लिए, जिसका सम्बन्ध सदैव विषय के साथ रहता है, आवश्यक है। विश्व हेगेल

के शब्दों में ईश्वर की आत्माभिव्यक्ति का एक आवश्यक रूप है। अतः ईश्वर को इसकी आवश्यकता है और इसकी उत्पत्ति माया के बिना सम्भव नहीं है। अतएव विश्व-रचना की दृष्टि से माया एक अनिवार्य तत्त्व है।

माया की अनिवार्यता के प्रश्न के साथ कुछ प्रश्न और जुड़े हुए हैं। अविद्या का अस्तित्व क्यों हैं ? देशकाल और कार्यकारण भाव से युक्त जगत् क्यों उत्पन्न हुआ ? माया का अस्तित्व क्यों है ? इस प्रकार के प्रश्न उस मूल समस्या के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं जिसका समाधान नहीं हो सकता। चिद्रूप आत्मा ही किसी न किसी प्रकार ह्रास को प्राप्त होकर अविद्या के रूप में परिणत हो जाती है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार परम यथार्थ ब्रह्म, पथभ्रष्ट होकर देशकाल तथा कारण-कार्य सम्बन्धी जगत् के रूप में प्रकट होता है। अविद्या के द्वारा ही हम विद्या तक पहुँचते हैं, ठीक जिस प्रकार हम व्यावहारिक जगत् द्वारा ही ब्रह्म की प्राप्ति करते हैं। विद्या और माया के तुलना-प्रसंग में ऊपर कहा गया है कि ये दोनों एक ही मूलभूत अनुभव रूपी तथ्य के विषयीनिष्ठ तथा विषयनिष्ठ पक्ष को प्रस्तुत करती हैं। यह अविद्या इसलिए कहलाती है क्योंकि ज्ञान के द्वारा इसका उच्छेद हो सकता है किन्तु विषयनिष्ठ-शृंखला माया परमसत्ता के साथ-साथ नित्यस्थायी है। शंकर इसके अस्तित्व को प्रलयकाल में भी स्वीकार करते हैं। जहां तक अविद्या का प्रश्न है उसके बिना हम ब्रह्म की पहचान नहीं कर सकते। 'विवरणप्रमेयसंग्रह' कहता है, "इसमें सन्देह नहीं कि अविद्या चैतन्य का एक दोष है, क्योंकि यह अद्वैतभाव के यथार्थ ज्ञान के मार्ग में बाधक है और द्वैतभाव को उत्पन्न करती है, किन्तु दूसरी ओर इसका उत्तम गुण भी है और वह यह कि यह एक उपादान कारण की सृष्टि करती है और इस प्रकार ब्रह्म की पहचान को सम्भव कर देती है।" अनन्त तक पहुँचने के लिए सान्त की प्रक्रिया से गुजरना आवश्यक है। अर्थात् परमतत्त्व चिदात्मा से साक्षात्कार करने से पूर्व अविद्या की सीमा को पार करना आवश्यक है तभी उसकी अनन्तता का पूरा बोध हो सकेगा। इस प्रकार अपने इस पहलू में भी माया की अनिवार्यता सिद्ध हो जाती है।

जहां तक प्रत्यभिज्ञा दर्शन का सम्बन्ध है वहां तो माया है ही महेश्वर की अनिवार्य (अव्यतिरेकिणी) शक्ति और इसके बिना भेदावभासन अर्थात् अशुद्ध जगत् की सृष्टि सम्भव ही नहीं है।[70] यह अशुद्धाध्व की सर्वप्रथम अवस्था है तथा परमशिव की सबसे अधिक भेदकरी शक्ति है। अतः एक ओर तो बिना इसके सहकार के अशुद्ध विश्व का प्रकाशन ही नहीं हो सकता दूसरी ओर इसके बिना महेश्वर के अनेकत्व-प्रकाशन रूप स्वभाव की अभिव्यक्ति भी संभव नहीं होगी। अतः दोनों दृष्टियों से इसकी स्थिति अनिवार्य है। अशुद्धाध्वा

के अधिष्ठाता अनन्त के मन में जब भोग की इच्छा होती है तो वह माया में क्षोभ उत्पन्न करके नानात्वमय विश्व की रचना करते हैं।[71] अतः जब तक माया में क्षोभ नहीं उत्पन्न होगा तब तक विश्व का निर्माण संभव नहीं है।

सोमानन्द द्वारा बीज रूप में प्रस्तुत जिस माया की धारणा को उत्पल तथा अभिनवगुप्त ने विकसित किया उससे विश्वरचना-बोध में उसकी अनिवार्य भूमिका स्पष्ट हो जाती है। उत्पल की प्रणाली में अपोहन शक्ति तथा परि-मित आभासों के मूल कारण के रूप में अभिव्यक्त माया एक ओर तो महेश्वर की शक्ति के रूप में काम करती है और दूसरी ओर अशुद्धोध्वा की प्रथम अवस्था होने के नाते अशुद्ध सृष्टि के विकास में महत्त्वपूर्ण एवं रचनात्मक भूमिका निभाती है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में शक्ति तथा शक्तिमान् में पूर्ण सामरस्य है अतः शक्ति का भी उतना ही महत्त्व है जितना शक्तिमान् का। महेश्वर की शक्ति दो रूपों में प्रकट होती है—कर्तृत्व शक्ति के रूप में तथा ज्ञातृत्व शक्ति के रूप में। कर्तृत्व शक्ति तो उसकी व्यापक सर्जनात्मक पक्ष है किन्तु ज्ञातृत्व शक्ति का भी कम महत्त्व नहीं। वस्तुतः ये ही दोनों शक्तियां महेश्वर के सर्वकर्तृत्व एवं सर्वज्ञातृत्व को रेखांकित करती हैं। ज्ञातृत्व शक्ति के भी तीन पहलू हैं—स्मरणशक्ति, ज्ञानशक्ति तथा अपोहन शक्ति। इन्हीं तीनों शक्तियों द्वारा विश्व के समस्त व्यापार चलते हैं। इनमें अपोहन शक्ति महेश्वर की वह शक्ति है, जिसके द्वारा वह एक वस्तु को दूसरी वस्तु, अर्थात् 'घट' को 'अघट' से भिन्न रूप में आभासित करता है। इस भिन्न-वेद्य-प्रथा का कारण अज्ञान है। इसीलिए इस अपोहन पक्ष में माया को विमोहिनी शक्ति अथवा मोह कहा गया है। उत्पल इसी मोह को हटाने के लिए 'प्रत्यभिज्ञा' का उपदेश करते हैं। इस प्रकार उत्पल ने माया का प्रयोग मोह अथवा अज्ञान के अर्थ में किया है, जो भेदमयी दृष्टि उत्पन्न करता है तथा जिससे अभिन्न विश्व भिन्न जैसा प्रतीत होता है। उत्पल ने माया को जडाभासों का कारण भी माना है। इसके अनुसार यह अपने अन्दर अथवा इसके प्रभाव में आकर महेश्वर अपने अन्दर समस्त भावजात को छिपाकर रखते हैं और जब इच्छा होती है तो उसका प्रथन अथवा बाह्यरूप में अवभासन करते हैं, अर्थात् अहंतया प्रतीत होने वाले जगत् को इदंतया प्रस्तुत करते हैं। तत्त्वनिरूपण प्रसंग में वे इसे 'तिरोधानकरी' शक्ति कहते हैं। यहाँ तिरोधान से अभिप्राय पंच-कृत्य से सम्बन्धित विलयन से नहीं अपितु आत्मस्वरूपगोपन से है। यहाँ भी इसका विमोहन स्वभाव ही प्रकट होता है। यह विमोहन प्रमाता तथा प्रमेय दोनों को होता है, अर्थात् वेद्यभावोचित बाह्येतर पदार्थ की अहंतया अनुभूति में 'मैं दुर्बल हूँ' 'मैं जानता हूँ आदि रूपों का अभिमान होता है और अनात्म-

स्वरूप को आत्मतया देखने में। इन दोनों अर्थों में यह मोह ही है। विकल्प-शिल्पों की उद्भाविका होने के नाते इसे परानिशा भी कहा गया है।

वस्तु के रूप में माया परिमित है, क्योंकि परमशिव से भिन्न जो कुछ भी भासित होता है वह परिमेय होता है और इसका अपरिहार्य परिणाम है—भेदप्रथन। इसीलिए 'भिन्नतया बुद्धिरेव माया' कहा गया है। इस प्रकार उत्पल मानते हैं कि माया का विजृम्भण विषयी तथा विषय के क्षेत्र में चलता रहता है। वेत्ता अथवा प्रमाता भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता।

उत्पल माया की कल्पना में एक आयाम और जोड़ देते हैं। वह है—विकल्प। इसके अनुसार अपोहन व्यापार एक विकल्प प्रक्रिया है जो दो विपरीतधर्मी पदार्थों, जैसे वह्नि तथा अवह्नि अथवा घट तथा अघट में विनिश्चय की परिचायिका है। वह इस प्रक्रिया को 'अहं प्रत्यवमर्श' के साथ जोड़ते हैं। अहं प्रत्यवमर्श दो प्रकार का है—शुद्ध तथा मायीय। इसमें से शुद्ध अहं प्रत्यवमर्श का सम्बन्ध तो प्रकाशस्वरूप शुद्ध चेतन से है अतः इसे विकल्प नहीं कहा जा सकता। मायीय प्रत्यवमर्श को विकल्प कहा जा सकता है क्योंकि इसमें अशरीर, अबुद्धि, अप्राण तथा अशून्य रूपी प्रतियोगी विद्यमान है[72] जिनका व्यवच्छेदन अर्थात् भेदावभासन-प्रक्रिया में अपसारण किया जा सकता है। अहं प्रत्यवमर्श का यह पहलू माया शक्ति की देन है जो महेश्वर के अभेद-प्रकाशन रूपी मूलस्वरूप का प्रच्छादन कर देती है। शांकर वेदान्त में इसी आत्मप्रच्छेदन को भ्रान्ति माना गया है, किन्तु काश्मीर शैव दर्शन में माया को परमेश्वर की स्वातन्त्र्यशक्ति का ही रूप माना गया है अतः मायीय अहं-विमर्श को विकल्प कहना ही ठीक होगा। इस प्रकार आचार्य उत्पल माया का विभिन्न रूपों में विवेचन करके इसे 'दुर्घटसम्पादनसमर्थ' शक्ति के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इससे विश्वरचना-प्रक्रिया में इसकी अनिवार्य भूमिका स्पष्ट हो जाती है। कहना न होगा कि इनमें से अनेक बातों की चर्चा ऊपर अन्य प्रसंगों में की जा चुकी है, किन्तु यहाँ माया की अनिवार्यता के प्रसंग में उनका पुनर्विवेचन आवश्यक था।

अभिनव जहाँ उत्पल द्वारा प्रतिपादित माया के सभी स्वरूपों की पुष्टि करते हैं वहीं वह उसे महेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति में अन्तर्भूत कर देते हैं तथा इसे उसकी अनन्य शक्ति स्वीकार करते हैं।[73] वह परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति के एक अन्य रूप की चर्चा करते हैं जिसे वह 'दृक्क्रिया शक्ति' कहते हैं। यह मोह के आवरण को हटाती है और इदमित्थं बोध में सहायता करती है। माया शक्ति महेश्वर के यथार्थ स्वरूप का तिरोधान करती है और दृक्क्रिया शक्ति उसका प्रथन करती है। माया के विमोहनकारी प्रभाव के

कारण परमेश्वर की ज्ञातृत्व शक्ति तथा कर्तृत्व शक्ति का प्रकाशन नहीं हो पाता और उनका प्रकाशन तभी होता है जब दृक्क्रिया शक्ति सक्रिय होती है।

अभिनव जहाँ इसे दुर्घटकार्यसम्पादिका स्वातन्त्र्य शक्ति मानते हैं, वहीं वह इसे शिव की आवरण शक्ति भी कहते हैं।[74] योगराज इस बात को और स्पष्ट कर देते हैं तथा इसे शिव से अव्यतिरिक्त मानते हैं।[75] इस प्रकार हम देखते हैं कि अभिनव तथा अन्य व्याख्याकारों ने माया का जो स्वरूप प्रतिपादित किया है उसमें एक तो इसे परमेश्वर की अनन्य शक्ति स्वीकार किया गया है तथा इसे 'मोह' एवं 'परानिशा' आदि अभिधानों से परिभाषित करके आभासवाद की प्रक्रिया में इसकी अनिवार्य भूमिका स्वीकार की गई है दूसरे, तत्त्वों में प्रमुख स्थान देकर इसे अशुद्ध सृष्टि का मूल कारण स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार मोक्ष अथवा शैव समावेश की दृष्टि से भी प्रत्यभिज्ञा दर्शन ने इसकी अनिवार्य भूमिका स्वीकार की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काश्मीर शिवाद्वयवाद ने जो चिन्तन प्रणाली विकसित की उसमें एक ओर जीवन और जगत् तथा दूसरी ओर उसकी सर्जकशक्ति (महेश्वर) को भलीभांति समझकर उनके सम्बन्धों का युक्ति-परक विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है और इसमें माया की विशिष्ट भूमिका है। जैसा कि त्रिक साहित्य में 'माया' के प्रयोग के सर्वेक्षण के निष्कर्ष के रूप में कहा गया, 'सृष्टि से पूर्व शिव से तादात्म्य की स्थिति में यह 'माया-शक्ति' अर्थात् 'स्वातन्त्र्य' कहलाती है। विश्व के आभास के सन्दर्भ में इसे 'माया तत्त्व' कहा जाता है। जब विश्व नानात्व में परिणत होता है तो इसे 'ग्रन्थि माया' कहते हैं। इस प्रकार माया की यह धारणा जीवन और जगत् के प्रत्येक पहलू का संस्पर्श करती है तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों और उनके साथ सर्जक शक्ति के सम्बन्धों को समझने में अपनी अनिवार्यता को निर्विवाद बना देती है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियां

1. तर्काप्रतिष्ठानात्

शां० भा०

2. इति यज्ज्ञेयसतत्त्वं दर्श्यते तच्छिवाज्ञया।
मया स्वसंवित्सत्तर्कपतिशास्त्रत्रिकक्रमात्॥

तन्त्रा० 1, पृ० 149

3. परिणामो नाम उपादानसमसत्ताक कार्यापत्तिः विवर्तो नाम उपादान-विषमसत्ताक कार्यापत्तिः।

वेदान्त परिभाषा, 1

4. ......परमात्मनोऽवस्थाभयात्मनावभासनं रज्जेव सर्पादिभावेन...।

शां० भा० 2. 1. 22

5. शां० भा० 2. 1. 14

6. ज्ञानैकनिवर्त्यत्वम्।

शां० भा० 3. 2. 4

7. ब्रह्मभिन्नं सर्वमिथ्या ब्रह्मभिन्नत्वात्।

वेदान्त परिभाषा

8. सत्यानृते मिथुनीकृत्य

शां० भा०, प्रस्ता०

9. प्र० हृ० ने० प० हा०, पृ० 76

10. रियलिस्टिक आइडियलिज्म, डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय, अभिनवगुप्त ऐन हिस्टॉरिकल एण्ड फिलॅसॉफिकल स्टडी, पृ० 320

11. दर्पणबिम्बे यद्वन्नगरग्रामादिचित्रमविभागि।
भाति विभागेनैव च परस्परं दर्पणादपि च॥
विमलतमपरमभैरवबोधात् तद्वत् विभागशून्यमपि
अन्योन्यं च ततोऽपि च विभक्तमाभाति जगदेतत्।

प०सा० श्लो० 12, 13

12. आदर्शकुक्षौ प्रतिबिम्बकारि सबिम्बकं स्याद् यदि मानसिद्धम्।
स्वच्छंदसंविन्मुकरान्तराले भावेषु हेत्वन्तरमस्ति नान्यत्॥

प० च०; 5

13. अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह यद्वद् विचित्ररचना मुकुरान्तराले।
बोधः पुनर्निजविमर्शनसारयुक्त्या विश्वं परामृशति नो मुकुरस्तथा।

प० सा० में योगराज द्वारा उद्धृत, पृ० 39

14. चिदात्मैव हि देवान्तःस्थितमिच्छावशाद्बहिः।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्॥

ई० प्र० वि०, 1·5·7

15. जयदेव सिंह, प्र० हृ० हि० अ०, भूमिका, पृ० 20

16. कान्तिचन्द्र पाण्डेय, अभिनवगुप्त ऐन हिस्टॉरिकल एण्ड फिलॅसॉफिकल स्टडी, द्वि० सं०, पृ० 323

17. हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी, ईस्ट एण्ड वेस्ट, पृ० 410
18. अभिनवगुप्त, ऐन हिस्टॉरिकल एण्ड फिलॅसॉफिकल स्टडी, द्वि० सं०, पृ० 225
19. स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति ।

प्र० हृ० सू० 2

20. प्राक् निर्णीतं विश्वं दर्पणे नगरवत् अभिन्नमपि भिन्नमिव उन्मीलयति ।

प्र० हृ०, हि० अ०, ने० प० हा०, पृ० 76

21. अतोऽसौ परमेशानः स्वात्मव्योमन्यनर्गलः ।
इयत्तः सृष्टिसंहाराम्बरस्य प्रकाशकः ।।
निर्मले मुकुरे यद्वत् भान्ति भूमिजलादयः ।
अमिश्रास्तद्वदेकस्मिश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः ।।

तंत्रा०, 2 का० 3, 4

22. अभिनवगुप्त ऐन हिस्टॉरिकल एण्ड फिलॅसॉफिकल स्टडी, द्वि० सं०, पृ० 326
23. यदा स्वस्मिन् हृदयप्रकाशस्वरूप एव आत्मनि तिष्ठति, तथा विमर्शो शुद्धो विमर्श एव इत्येनं व्यवह्रियते, यदा तु विकल्पोपश्लेषणलक्षण क्षोभमनुभवति, तथा विश्वविस्तारः प्रपञ्चस्फुरणवैचित्र्यात्मा विमर्श इति ।

म० मं० पृ० 34

24. गोपीनाथ कविराज, हिस्ट्री ऑफ फिलॉसॅफी, ईस्ट एण्ड वेस्ट, पृ० 417
25. वही
26. ज्ञान-विमर्शानुप्राणितं विमर्श एव च क्रियेति ।

ई० प्र० वि० व्या०, 2, पृ० 161

27. मधुसूदन कौल, 'शंकर और शंकर की उपासना', कल्याण शिवांक' पृ० 234
28. भा० सं० सा०, पृ० 5
29. वही, पृ० 6
30. इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
स पश्यन् सततं युक्तो जीवमुक्तो न संशयः ।

स्पं० का० 3

31. आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निवृत चिद्वपुः।
अनिरुद्धइच्छा प्रसरः प्रसरदृक्क्रियः शिवः।

शि० दृ० 1.2

32. चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः॥

ई० प्र० वि० 1.5.13

33. सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालातिरेकिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः॥

ई० प्र० वि 1. 5. 14

34. चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः।

प्र० हृ०, सू० 1

35. अनन्यनिरपेक्षतेव परमार्थतः आनन्दः, ऐश्वर्यम् स्वातन्त्र्यम् चैतन्यम्।

ई० प्र० वि० 1, पृ० 255

36. स्वतन्त्रतः कर्त्ता।

अष्टा० 1·4.54

37. श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्णविश्वात्मक परमानन्दमय प्रकाशैकघनस्य एवं विधमेव शिवादिधरण्यन्तमखिलं अभेदेनैव स्फुरति। न तु वस्तुतः अन्यत् किंचित् ग्राह्यं ग्राहकं वा। अपितु श्रीगत्परमशिव भट्टारक एव इत्थं नाना वैचित्र्यसहस्रैः स्फुरतीति अभिहितप्रायम्।

प्र० हृ० ने० प० हा०, पृ० 79-80

38. अयुष्मात् संपूर्णात् रसमहोल्लाससरसात्।
निजां शक्तिं भेदं गमयति निजेच्छाप्रसरतः॥

क्र० स्तो०

39. विश्वस्वभावपटले परिजृम्भमाणविच्छेदशून्यपरमार्थचमत्कृतिर्या।

अ० स्तो०

40. डा० भीखनलाल आत्रेय द्वारा उद्धृत, कल्याण शिवांक, पृ० 489

41. तस्मादनपह्नवनीयः प्रकाशविमर्शात्मा संवित्स्वभावः परमशिवो भगवान् स्वातन्त्र्यादेव रुद्रादिस्थावरन्तरान्त प्रमातृरूपतया नील-सुखादि प्रमेयरूपतया च अनतिरिक्तयापि अतिरिक्तया इव स्वरूपानाच्छादिकया संविद्रूप नान्तरीयक स्वातन्त्र्य महिम्ना प्रकाश इति अयं स्वातन्त्र्यवादः प्रोन्मीलितः।

ई० प्र० वि० वि०, पृ० 9

42. तन्त्रा० 3, पृ० 100-101
43. पं० च०, 5
44. नमस्ते भवसम्भ्रान्त भ्रान्तिमुद्भाव्य भिन्दते ।
ज्ञानानन्दं च निर्द्वन्द्वं देव वृत्वा विवृण्वते ।।

स्त० चि० 71

45. इदं तु पारमार्थिकम् कूटस्थम्, नित्यम्, व्योमवत् सर्वव्यापि, सर्वविक्रियारहितम्, नित्यतृप्तम् निरवयम्, स्वयं ज्योतिः स्वभावम्, यत्र धर्माधर्मों सह कार्येण कालत्रयं च नोपावर्तन्ते तद् अशरीरं मोक्षाख्यम् ।

शां० भा०, 1 : 1, 4

46. वही, 1 : 2, 19
47. मा० का०, 25·19
48. स्वात्मन्यवस्थानम्

शां० भा०, 4·4, 1-3

49. वही, 3.2, 21 , बृहदा० उप० 4·5, 13
50. मिथ्याभिमानभ्रमनिमित्त एव दुःखानुभवः ।

शां० भा०, 2·3, 46

51. गृहीते त्वात्मैकत्वे बन्धमोक्षादिसर्वव्यवहारपरिसमाप्तिरेव स्यात् ।

वही, 1·2, 6

52. स सर्वात्मभाव : सर्वसंसारधर्मातीतब्रह्मस्वरूपत्वम् एव ।

शां० भा० तैत्ति० उप०, 2 : 1

53. शां० भा० 1·3, 19
54. सि० ले० सं०, 4
55. शां० भा० 4·1, 15
56. यावत् अनात्मनि शरीरादौ आत्मताभिमानात्मकम् अज्ञानमूलं ज्ञानमपि बन्ध एव।

शि० सू० वि०, पृ० 13

57. मलमज्ञानमिच्छन्ति संसारांकुरकारणम् ।

मा० वि० तं०, 23

58. प० सा०, पृ० 33
59. स्वतन्त्रस्य शिवस्येच्छा घटरूपो यथा घटः ।
स्वात्मप्रच्छादनेच्छैव वस्तुभूतस्तथा मलः ।

तंत्रा० 6, पृ० 59

60. ई० प्र० वि०, 1.6·1
61. मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि तत् ।
तंत्रा० 1, पृ० 192

62. यत्तु ज्ञेयस्य तत्त्वस्य ज्ञानं सर्वात्मनोज्झितम् ।
अवच्छेदैर्न तत्कुत्राप्यज्ञानं सत्यमुक्तिदम् ॥
तन्त्रा० 1, 72

63. देहप्राणविमर्शनधीः ज्ञानं नभः प्रपञ्चयोगेन ।
आत्मानं वेष्टयते चित्रम् जालेन जालकार इव ॥
प० सा०, 3

64. अ० गु०, द्वि० सं०, पृ० 314
65. अभिनवगुप्त, महेश्वरानन्द द्वारा महार्थमंजरी में उद्धृत, पृ० 25
66. एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते, नान्यो विज्ञानधातुरस्ति ।
शां० भा० 1 : 3, 19

67. शां० भा० 1·4, 3
68. अविद्यात्मिका हि सा बीजशक्तिव्यक्त शब्दनिर्देश्या तदेतद् अव्यक्तं क्वचिद् आकाश शब्द निर्दिष्टं क्वचिद् अक्षर शब्दोदितं क्वचिन्मायेति सूचितम् ।
शां० भा० 1·4, 3

69. अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिकापरा ।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यथा जगत् सर्वमिदं प्रसूयते ।।
विवेकचूडामणि, पृ० 108

70. माया च नाम देवस्य शक्तिरव्यतिरेकिणी ।
भेदावभासस्वातंत्र्यं तथा हि स तया कृतः ॥
तंत्रा० 6, पृ० 116

71. मायां विक्षोभ्य संसारं निर्मिमीते विचित्रकम् ।
तंत्रा० 6, पृ० 115

72. ई० प्र० वि० 1, पृ० 315-16
73. तंत्रा० 6, पृ० 116
74. प० सा०, 15
75. प० सा० टी०, पृ० 44

सप्तम उन्मेष

माया तत्त्व की काल एवं अकाल सिद्धांतों में परिणति

काश्मीर-शैव मत एवं अद्वैत वेदान्त दोनों ही प्रणालियों में माया के सिद्धांत के प्रतिफल के रूप में काल तथा कालातीत अथवा अकाल का निरूपण हुआ है। अद्वैत वेदान्त में, चूंकि निरुपाधिक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सभी सिद्धान्तों की पारमार्थिक सत्ता का सर्वथा निषेध कर दिया गया है जिससे देश और काल दोनों ही मानस-परिकल्पना बनकर रह जाते हैं; जो सर्वथा विदित है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में माया के सिद्धान्त की परिणति काल एवं अकाल की अवधारणाओं में होती है, अतएव हमने सप्तम तथा उपसंहारात्मक उन्मेष को काल एवं अकाल सिद्धान्त के विवेचनात्मक रूप में रखा है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन की प्रक्रिया वेदान्त की प्रक्रिया से मूलतः भिन्न है। यहाँ महेश्वर को अकाल के रूप में प्रतिष्ठापित करने का प्रयास किया गया है, जो इस दर्शन का चूडान्त तत्त्व है। इसके साथ ही त्रिक साहित्य में शिव की प्रख्या महाकाल के रूप में भी है, जो आपाततः परस्पर विरुद्ध प्रतीत होता है। अतः इसका सम्यक् रूप से ऊहापोह कर इनके सामंजस्य का सैद्धान्तिक रूप से प्रतिपादन अपेक्षित है।

भारतीय दर्शन के उषः काल में निखिल ब्रह्मांड के कारणभूत तत्त्वों की गवेषणा की प्रक्रिया में काल की चर्चा अपने आप में अत्यधिक महत्त्व रखती है। उपनिषदों में जिन्हें, निर्विवाद रूप से प्रायः सभी दार्शनिक प्रणालियों का मूलस्रोत माना जाता है, विश्व के परम कारणभूत तत्त्व की विधिवत् चर्चा इस बात का प्रमाण है कि उपनिषदों से पूर्व दार्शनिक चिन्तन उसी प्रकार स्वतन्त्र रूप से होते थे, जिस प्रकार आज पाश्चात्य जगत् में विज्ञान के सन्दर्भ में दार्शनिक चिन्तन हो रहे हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् का प्रारम्भ ही इस चर्चा से होता है कि हमारे समक्ष विद्यमान परम व्यापक विशाल ब्रह्मांड का कारण क्या है—'किं कारणं ब्रह्म ?' प्राणि-जगत् की उत्पत्ति किससे हुई है—'कुतःस्म जातः ?' वह कौन सा तत्त्व है जो निरन्तर परिवर्तमान सुख-दुःखात्मक इस जगत् में व्यवस्था बनाये हुए है—'अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ?' इन प्रश्नों के उत्तर में ऋषि ने ब्रह्मांड के मूल

कारण के रूप में सात तत्त्वों की सम्भावना प्रकट की है। वे हैं—काल, स्वभाव (प्रकृति), नियति (डेस्टिनी अथवा नेमिसिस), यदृच्छा (चान्स), पंच महाभूत, पुरुष तथा आत्मा। कभी-कभी इनकी समवेत भूमिका की कल्पना की गई है (संयोग एषां)।

यहाँ पर निखिल ब्रह्मांड के परम कारण-तत्त्वों में काल का परिगणन सर्वप्रथम किया गया है, जो इस बात का साक्षी है कि चिन्तकों का एक वर्ग ऐसा भी था जो काल को ही विश्वप्रक्रिया का मूल कारण तथा नियामक तत्त्व मानता था। इसकी झंकृति हमें महाभारत में भी मिलती है, जहाँ यह संवाद प्रकट किया गया है कि युगप्रवृत्ति का कारण काल है अथवा राजा—'कालो वा कारणं राजा'। महात्मा बुद्ध की उक्ति 'सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्' में भी काल के महत्त्व की स्पष्ट झलक मिलती है। भारतीय दार्शनिक चिन्तन-परम्परा के सर्वेक्षण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्रायः सभी दार्शनिक प्रणालियों में काल की मान्यता है और उसका विवेचन अपने-अपने सिद्धान्त के परिप्रेक्ष में किया गया है, जिसका सविस्तार विवेचन न तो यहाँ अभिप्रेत है, न ही सम्भव। हम केवल इतना कह सकते हैं कि समस्त वैदिक एवं वेदान्त वाङ्मय में काल की कल्पना शाश्वत एवं सोपाधिक इन दो रूपों में मिलती है तथा इसे एक प्रकार का सूक्ष्म द्रव्य माना गया है, जो दिक् को व्याप्त करता है। इन दोनों में मूल भेद यह है कि पहला तो अविभाज्य, निरवयवी तथा अनन्त है और दूसरा विभाज्य तथा परिमित। सोपाधिक अथवा सृष्ट काल विश्व के उस अधर भाग को व्याप्त करता है, जिसकी सृष्टि भौतिक रूप से हुई है और जो सूर्य के अधोभाग में स्थित है। शाश्वत काल दूसरी ओर के अभौतिक आयतनों को व्याप्त करता है। जैमिनीय ब्राह्मण के अनुसार 'सूर्य के दूसरी ओर जो कुछ है, वह अमृत है, किन्तु जो इस ओर है, वह दिव्य-रात्र से निरन्तर विनष्ट होता रहता है।' बृहदारण्यक उपनिषद् कहता है, 'जिसके नीचे संवत्सर की गति होती है, उस अमृत (प्रकाशों के प्रकाश) पर देवता उपासना करते हैं।'[1] मैत्रायणी उपनिषद् ब्रह्म के दो रूप मानता है—काल तथा अकाल 'जो सूर्य से प्राक् है, वह 'अकल' काल है; जो सूर्य से प्रारम्भ होता है, वह 'सकल' काल है। दूसरे शब्दों में शाश्वत अभौतिक तथा अनित्य भौतिक के बीच की सीमा देवताओं की उच्चकोटि है, जिस पर सूर्य चक्कर काटता है।'[2]

काश्मीर शैव दर्शन में काल तत्त्व की उद्‌भावना किस प्रकार माया से समुद्वेलित होकर होती है तथा उसकी ही चरम परिणति अकाल तत्त्व का बोध है, इसका निरूपण ही इस उन्मेष का विवेच्य विषय है।

काल सिद्धान्त

काश्मीर शैव प्रणाली में काल शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में किया गया है—(1) परम सत्ता की सर्वशक्तिमत्ता का एक रूप, (2) व्यक्ति प्रमाता के लिए एक अवच्छेदक तत्त्व तथा (3) एक मापक मान (स्टैंडर्ड आफ मेज़र)। परमसत्ता अर्थात् महेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता के रूप में यह वह शक्ति है जो विश्व में क्रमशीलता अथवा यौगपद्य उत्पन्न करती है। इस रूप में वह काल शक्ति कहलाती है।[3] शाक्त परम्परा में इस दार्शनिक अवधारणा को काली देवी के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। व्यक्ति प्रमाता के अवच्छेदक के रूप में यह वह परिमित शक्ति है जो क्रम का अनुभव करती है।[4] सर्वप्रथम उसको यह अनुभव उन वस्तुओं में होता है जिनके साथ यह तादात्म्य स्थापित करता है, जैसे प्राणवायु, बुद्धि, आदि। विषयरूप अनुभवगम्य वस्तुओं में क्रम का अनुभव तब होता है जब प्रमातृ रूप चेतना की शृंखला की किसी कड़ी के साथ-साथ बाह्य विषय का अनुभव होने के कारण प्रमाता में अनुभूत क्रम विषय पर आरोपित किया जाता है। जर्मन दार्शनिक कांट 'काल' को संवेदना (सेन्सिबिलिटी) का एक आकार (फॉर्म) मानता है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में इसे एक प्रकार का सूक्ष्म सविकल्पताजनक तत्त्व अथवा सम्बन्ध स्वीकार किया गया है, जो सहज निर्विकल्पक बोध के आकार में तथा हमारे प्रमातृ स्वरूप में व्याप्त रहता है। इसके अभाव में कोई भी वस्तु कालविशिष्ट नहीं कही जा सकती। इसका अस्तित्व स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में नहीं है। न ही यह वस्तुओं का कोई ऐसा सम्बन्ध अथवा विशेषण है जिसके अस्तित्व का बोध उस समय भी हो सके जब उनका प्रत्यक्ष न किया जा रहा हो।

मापक मान के रूप में काल एक एकानेक रूप वस्तु पर आधारित है। कुछ घटनाएं ऐसी होती हैं जो नियमित रूप से घटित होती हैं। वे हमारे लिए मापक मान के रूप में काम करती हैं। इसके अतिरिक्त कुछ घटनाएं ऐसी होती हैं जो नियमित रूप से घटित नहीं होतीं, अनियत होती हैं। इन अनियत घटनाओं को हम नियत घटनाओं से मापते हैं। इसके परिणामस्वरूप प्रतीति का यह रूप उभर कर आता है—'देवल सात वर्ष का बालक है।' यहां देवल नाम के व्यक्ति के वय का निर्धारण सूर्य की गति के आधार पर किया गया है।

इसको और स्पष्ट करने के लिए हमको अपने दैनंदिन जीवन की गतिविधि तथा सूर्य की क्रियाशीलता में तारतम्य के आकलन का अनुसंधान करना होगा।

मान लीजिए शलभ चक्रवर्ती नामक कोई व्यक्ति सूर्य को किसी स्थान पर उदय होते हुए तथा दूसरे स्थान विशेष पर अस्त होते हुए देखता है। ये घटनाएं पूर्ण रूप से नियत हैं तथा नियमित रूप से घटित होती हैं। शलभ लोकजीवन में अन्य कई घटनाएं देखता है जिनमें कोई तारतम्य अथवा नियमबद्धता नहीं है। उदाहरण के लिए वह किसी घरेलू नौकर को दुग्ध-केन्द्र से दूध लेने के लिए जाते हुए देखता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि वह नौकर को अनेक विभिन्न स्थानों से सम्बद्ध देखता है। इसमें कोई नियमबद्धता नहीं होती। किन्तु नौकर की इस गति की अनियमित क्रिया के विषय में दर्शक का कुतूहल जाग्रत होता है। वह यथार्थतः उसके स्वरूप को समझना चाहता है। अतः वह अपने मानस-चक्षु से सूर्य की नियमित गति तथा नौकर की अनियमित गति को एक साथ देखता है तथा सूर्य की नियमित गति के क्रम से सेवक की गति का मापन इस रूप में करता है—'यह सेवक 20 मिनट में दुग्ध-केन्द्र पर पहुंचता है।' इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि काल के प्रत्यय का आधार एक घटनाक्रम है, जो अनेकता में एकता है। अनेकता का अस्तित्व एक ओर एकाधिक स्थान-बिन्दुओं से सम्बन्धित सूर्य के क्रमागत रूपों में होता है और दूसरी ओर उसका अस्तित्व जाने वाले व्यक्ति के विभिन्न स्थान-बिन्दुओं से सम्बन्ध के रूपों में प्रकट होता है। एकता के अस्तित्व का बोध इस रूप में होता है कि पूरी परिस्थिति एक ही ज्ञेय वस्तु होती है। इस प्रकार के काल के सम्बन्ध में हम यह देखते हैं कि अनेकता बाह्य रूपों पर और एकता अन्तःकरण की वृत्ति पर आधृत होती है।

काल की अभिव्यक्ति के अनेक रूप प्रचलित हैं। जैसे हम सेकेण्ड, मिनट, घन्टा, दिन, सप्ताह, मास तथा वर्ष की बात करते हैं, उसी प्रकार शीघ्रता, मन्दता, पूर्वकाल, उत्तरकाल, भूत, वर्तमान, भविष्य आदि की चर्चा की जाती है। काल के सामान्य प्रत्यय की भांति इन उपप्रत्ययों का आधार भी उसी के समान मानसिक संव्यूहन है। उदाहरणार्थ, जब कोई यह कहता है कि बिन्दु 'चार घण्टे चित्र बनाती है' तो उसका अर्थ यह हुआ कि वह बिन्दु की चित्रांकन-क्रिया को सूर्य की क्रिया से मापता है। यहां यह बात मस्तिष्क में रखनी होगी कि दीर्घकाल से स्थापित एक लोक-परम्परा के आधार पर सूर्य के एक निश्चित दूरी के पार करने की अवधि को हम घंटा कहते हैं। इसी प्रकार जब कोई यह कहता है, 'अब बिन्दु का कार्य समाप्त हो गया है, वह अब जायगी। तो वह उस समय स्वयं अपनी ही प्राणवायु की संभावित क्रिया के साथ बिन्दु की संभावित गति को सम्बद्ध कर देता है। इस प्रकार निष्कर्ष

यह निकलता है कि काल की सभी प्रतीतियों में दो वस्तुओं की क्रियाएं जुड़ी रहती हैं।

शंकर यथार्थ सत्ता के नित्यस्वरूप की व्याख्या करना ही दर्शन का मुख्य कार्य मानते हैं तथा उसे ही विश्व का अन्तस्तम सारतत्त्व स्वीकार करते हैं। इसी को वह 'ब्रह्मविद्या' कहते हैं। उनकी दृष्टि में अस्तिरूप यथार्थ-सत्ता नहीं है। किसी घटना का घटित होना और उसका उचित मूल्यांकन करना दो भिन्न-भिन्न वस्तुएं हैं। किसी वस्तु को हम देखते हैं, इसीलिए वह सत्य भी है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि जो कुछ घटित होता है, अथवा जो कुछ हम देखते हैं वह सब कुछ सत्य होता तो मिथ्या अनुभव कभी होता ही नहीं। शंकर की दृष्टि में भ्रम में डालने वाले स्वप्न भी एक अन्तःस्थ जीवन की घटनाएं हैं। केवल होने मात्र के नाते सभी अनुभव एक ही कोटि के हैं। वे न तो सत्य हैं और न असत्य। तर्क-शास्त्र के अनुसार वे वस्तुएं, जो बुद्धिगम्य हैं, सत्य हैं तथा जो केवल व्यक्तिगत हैं, वे असत्य। शंकर का अनुभव के विषय में दृष्टिकोण यह है कि जो कुछ भी देश, काल और कारण से आबद्ध है वह यथार्थ नहीं हो सकता। हमारे अनुभव का सामान्य रूप देश से सम्बद्ध है, किन्तु यथार्थ सत्ता देश की अपेक्षा नहीं करती तथा वह अखण्ड है। जो भी देश में परिमित है, वह विभाज्य भी है और विभाज्य वस्तु सदा उत्पत्तिशील होती है, यथार्थ नहीं। चूंकि यथार्थ-सत्ता जन्मरहित तथा अविभाज्य है और इसीलिए उसमें देश का प्रतिबन्ध नहीं है। देश का विभुत्व केवल सापेक्ष है। जो कुछ देश से सीमित है वह काल मे भी सीमित है।[5] काल में अपने से दूर जाने की एक विचित्र प्रवृत्ति होती है, यद्यपि वह ऐसा कर नहीं पाता। यह आनुभविक जगत् में यथार्थ-सत्ता है। आनुभविक जगत् में काल का क्षेत्र सार्वभौम है। किन्तु जगत् की अनन्त कालावधि अपने आप में पर्याप्त नहीं है। ऐहलौकिक जगत् यथार्थ नहीं है। इस प्रकार शंकर काल को मुख्य रूप से अनुभव से सम्बद्ध करते हैं। आधुनिक दार्शनिक चिन्तन भी काल को एक प्रमाणमीमांसीय प्रक्रिया स्वीकार करता है। उनके अनुसार यदि ज्ञातृत्व व्यापार नहीं तो काल का प्रश्न नहीं उठता। चूंकि यह स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है अतः इसे सत्तामीमांसा की परिधि में नहीं रखा जा सकता। हेनरी बर्गसां काल को एक मूलभूत सिद्धान्त तथा निखिल ब्रह्मांड का सारतत्त्व मानता है। वह काल की यथार्थता का प्रबल पक्षधर है। वह यथार्थ को एक निरन्तर प्रवाह मानता है। उसके अनुसार यह एक प्रक्रिया है, ऐसी प्रक्रिया जिससे होकर एक महान् प्रेरक शक्ति (एलाँ विताल) संचरित होती है। वह कहता है कि 'समस्त यथार्थ एक प्रवृत्ति' है, बशर्ते कि हम प्रवृत्ति को दिशा का एक उदीयमान परिवर्तन मानने को

सहमत हों।[6] उसके अनुसार संसार में कोई भी वस्तु पूर्वतः विद्यमान नहीं है, अतः सभी वस्तुओं की रचना होती रहती है। वह यथार्थ की तुलना एक ऐसी नदी से करता है 'जिसमें न तलहटी है, न किनारे और वह बिना किसी निर्धारित शक्ति के एक ऐसी दिशा को बहती जा रही है जिसकी कोई परिभाषा नहीं की जा सकती।'[7] यथार्थ की इस प्रवाह-प्रक्रिया को ही वह जीवन मानता है। इसी को वह 'काल' तथा 'अवधि' की संज्ञा देता है। वह 'जीवन' एवं 'काल' को समानार्थक मानता है। मनुष्य इसी प्रवाहात्मक प्रक्रिया की देन है। मनुष्य में प्रवृत्ति, बुद्धि तथा अन्तर्ज्ञान की अद्‌भुत क्षमता है। उसमें प्रवृत्तियां पशुओं की भांति ही होती हैं, किन्तु उसमें बुद्धि का प्राधान्य होता है, फिर भी वह अन्तर्ज्ञान से सुपरिचित है। एक पूर्ण मनुष्य वह है जिसमें बुद्धि तथा अन्तर्ज्ञान पूर्णता को प्राप्त होते हैं।

डूने के विचार में भी 'काल' यथार्थ है। वस्तुतः वह काल की यथार्थता के विषय में पूर्ण आश्वस्त है तथा काल के स्वरूप के विषय में अपना जो दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है उसका आधार 'क्रम' है। वह अपना अनुसंधान जिस समस्या से प्रारम्भ करता है वह है—भविष्य का पूर्वज्ञान। इसी समस्या के समाधान के रूप में वह क्रमिक काल के सिद्धान्त की उद्‌भावना करता है। उसकी मान्यता है कि क्रम-बोध ही काल के स्वरूप का सच्चा बोध है तथा वह भविष्य के पूर्वज्ञान की स्वप्न अथवा जाग्रत अवस्था में व्याख्या करता है। घटनाओं का समस्त विस्तार हमारी आंखों के सामने होता है। काल का प्रथम आयाम हमें वर्तमान प्रदान करता है, दूसरा आयाम अथवा कालक्रम प्रथम आयाम का 'परिमित अतीत वर्तमान तथा परिमित भविष्य' प्रदान करता है। इस प्रकार प्रथम आयाम का 'भविष्य' दूसरे आयाम में 'वर्तमान' हो जाता है और इसी प्रकार यह क्रम चलता रहता है। मैक्टागार्ट की दृष्टि में 'काल' अयथार्थ है। वह अपनी धारणा की पुष्टि में जो कारण प्रस्तुत करता है वे न केवल विचित्र हैं, अपितु उनके साथ परिवर्तन सम्बन्धी प्रश्न भी जुड़े हुए हैं। वह एक ओर 'पूर्व एवं उत्तर' तथा दूसरी ओर भूत, वर्तमान तथा भविष्य में भेद करता है। उसके अनुसार 'अतीत, वर्तमान तथा भविष्य' का विचार 'पूर्ववर्ती तथा परवर्ती' की अपेक्षा काल के लिए अधिक मूलभूत तत्त्व है तथा वास्तव में 'पूर्ववर्ती तथा परवर्ती' के सम्बन्ध का आधार है। उसकी दृष्टि में कोई भी घटना स्थायी रूप से अतीत वर्तमान तथा अनागत नहीं है। कोई भी घटना जो अतीत थी वह वर्तमान बन जाती है और वही भविष्य भी बन जायेगी। सामान्यतया काल की गति भूत से भविष्य की ओर मानी जाती है। किन्तु मैक्टागार्ट की स्थिति भिन्न है। यह काल की गति भूत से भविष्य

की ओर न मानकर भविष्य से भूत की ओर मानता है। उसका तर्क यह है कि अनागत घटनाएं ही वर्तमान बनती हैं न कि अतीत घटनाएं। वर्तमान घटनाएं तत्काल अतीत बन जाती हैं और अतीत घटनाएं और भी अतीत।

जिस प्रकार नियत तथा अनियत घटनाओं के सम्बन्ध को लेकर 'काल' की कल्पना मापक मान (स्टैंडर्ड आफ मेज़र) के रूप में की गई है उसी प्रकार उसे घटनाओं का निर्देशक भी कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में घटनाएं काल में नहीं घटित होंगी प्रत्युत वे केवल काल द्वारा निर्दिष्ट होंगी। इस प्रकार काल को एक स्थिर बिन्दु तथा घटनाओं को गतिशील माना जा सकता है। घटनाएँ जब अग्रसर होती हैं तो उन्हें एक कालनिर्देश से होकर गुजरना पड़ता है जिसे हम सामान्य भाषा में इस प्रकार व्यक्त करते हैं—'घ' घटना 'क' काल में घटित हुई अथवा स्वयं काल को प्रवाहयुक्त माना जा सकता है; अर्थात् जब काल-निर्देश एक दिशा विशेष में अग्रसर होता है तो हम कहते हैं—'एक घटना घटित हुई।' काल के विषय में इस प्रकार की धारणा का अभिप्राय यह हुआ कि पदार्थों एवं काल में यदि सम्बन्ध है, तो वह बाह्य है न कि आभ्यन्तर। किन्तु उनका परस्पर सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं। काल की इस धारणा के आधार पर कालप्रवाह की दिशा की कल्पना या तो अतीत से अनागत की ओर की जा सकती है अथवा अनागत से अतीत की ओर, किन्तु दोनों प्रकार से नहीं। अथवा काल की कल्पना विन्दुवत् करने पर हम कह सकते हैं कि काल-बिन्दु तथा घटनाक्रम में यौगपद्य है, अर्थात् दोनों एक ही साथ सत्ता में आते हैं। अनागत काल तथा अनागत घटनाओं का कोई अस्तित्व नहीं होता; यही बात अतीत की घटनाओं तथा अतीत काल के विषय में भी लागू होती है। बर्गसां ने अपने काल-सिद्धान्त का विकास कुछ ऐसी-ही धारणाओं को आधार बना कर किया था।

अब प्रश्न यह उठता है कि काल क्या है? और यदि इसका अस्तित्व है, तो किस रूप में? आधुनिक दार्शनिक इन प्रश्नों का उत्तर अपने ढंग से देता है। यह तो स्पष्ट है कि काल पत्थर अथवा मेज़ की भति कोई भौतिक अथवा पार्थिव पदार्थ नहीं है। एक भौतिक पदार्थ का कोई-न-कोई रूप अथवा आकार होता है तथा उसमें कुछ ऐन्द्रिक तत्त्व होते हैं। काल में भौतिक पदार्थ के ये लक्षण नहीं होते। वस्तुतः जिस रूप में भौतिक पदार्थों की कल्पना की जाती है उसमें काल की गणना नहीं की जा सकती। किन्तु सभी भौतिक पदार्थ काल-निर्दिष्ट होते हैं क्योंकि उनका अस्तित्व एक विशेष काल-खण्ड में होता है। इस प्रकार काल का सादृश्य भौतिक पदार्थों के साथ सिद्ध नहीं होता किन्तु उसकी संगति सभी पदार्थों के साथ होती है। प्रत्येक भौतिक पदार्थ

देश को आवृत करता है अर्थात् एक स्थान घेरता है किन्तु काल देश को आवृत्त नहीं करता क्योंकि यह कोई मूर्त पदार्थ नहीं है ।

दोनों वक्तव्यों की तुलना कीजिए, 'मेज़ कमरे में है' तथा 'मेज़ काल में है।' प्रथम वक्तव्य का अभिप्राय यह हुआ कि कमरा अधिष्ठान है और मेज कमरे में अधिष्ठित है। मेज़ तथा कमरा दोनों में दैशिक तत्त्व हैं। किन्तु दूसरे वक्तव्य में भी क्या हमारा अभिप्राय यह होता है कि काल मेज़ का अधिष्ठान है अथवा आधार है ? पाश्चात्य जगत् में न्यूटन तथा पूर्व में न्याय प्रणाली ने यह प्रकल्पना की कि काल विश्व के सभी पदार्थों का आधार है—'सर्वाधारः कालः'। किन्तु यदि काल सभी पदार्थों का आधार है, तो क्या यह आवश्यक है कि उन पदार्थों में कालिक तत्त्व विद्यमान होने चाहिए ? जिस प्रकार हम दो दैशिक तत्त्वों से युक्त पदार्थों के लिए कह सकते हैं कि एक दूसरे में अधिठिष्त है, दो कालिक तत्त्वों से युक्त दो पदार्थों के बारे में हम नहीं कह सकते कि एक दूसरे में अधिष्ठित है। इस प्रकार की प्रक्रिया से कठिनाई पैदा हो जायेगी। एक काल दूसरे में समाविष्ट हो जायगा और यह क्रम चलता ही रहेगा। यह कठिनाई उस समय नहीं पैदा होती जब हम कहते हैं 'मेज़ कमरे में है।' यद्यपि मेज़ तथा कमरा दोनों में दैशिक तत्त्व हैं, तथापि उक्त वक्तव्य में कोई विसंगति नहीं है।

इस प्रकार कालिक तत्त्व के विषय में हमारे दृष्टिकोण के इस अन्तर के कारण ही दैशिक तत्त्वों जैसे, लम्बाई, चौड़ाई तथा मोटाई के विषय में हमारा व्यवहार काल अथवा कालिक तत्त्वों से भिन्न होता है। पहले जब कोई यह कहता था कि मेज़ कमरे में है तो इसमें उसका यह अभिप्राय नहीं होता था कि मेज़ का एक चौथा आयाम भी है, और वह है—कालिक। किन्तु सापेक्षता युग के परवर्ती काल में दार्शनिकों में यह धारणा घर कर गई कि काल तथा देश में परस्पर सामंजस्य है। इस दृष्टिकोण का एक परिणाम यह निकला कि वे पदार्थ जिनके बारे में हम कहते हैं, 'काल में हैं' कालिक हो गए, न कि काल-रहित। मेज़, कुर्सी जैसे पदार्थ कभी भी कालरहित नहीं हो सकते। इसी आधार पर विटजेन्टीन तथा राइल जैसे पाश्चात्य दार्शनिकों ने लगभग यह निष्कर्ष सामने रख दिया है कि जिन्हें हम पहले कालरहित अथवा अपरिवर्तनीय मानते थे, वे अवधारणायें मात्र हैं और उनको सत्तामीमांसीय श्रेणी में नहीं रखा जा सकता यद्यपि संचार तथा विचार के साधन के रूप में उनकी उपादेयता निःसंदिग्ध है।

इसी प्रकार स्थायित्व तथा अनुवर्तनशीलता अथवा सातत्य भी काल के अनिवार्य अंग हैं। किन्तु हम उनके विस्तृत विवेचन में न जाकर उस पहलू पर

आते हैं जिस पर विचार किए बिना प्रस्तुत सन्दर्भ अधूरा रह जाएगा। वह है—अकाल सिद्धान्त। जिस प्रकार माया-प्रक्रिया काल-सिद्धान्त से जुड़ी हुई है उसी प्रकार उसे अकाल-सिद्धान्त से भी पृथक् नहीं किया जा सकता। अतः हम नीचे की पंक्तियों में अकाल-सिद्धांत पर संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

अकाल सिद्धान्त

जिस प्रकार निगम-परम्परा में परम सत्ता (ब्रह्म) के दो रूपों, काल तथा अकाल, की कल्पना की गई है तथा एक को सूर्य से नियन्त्रित 'सकल' काल कहा गया है, और दूसरे को सूर्य, के नियन्त्रण से मुक्त (प्राक्) 'अकल' काल माना गया है।[8] उसी प्रकार आगम-परम्परा में अशुद्ध सृष्टि का नियामक काल को माना गया है तथा शुद्ध सृष्टि का कर्तृत्व परमशिव स्वयं अपने हाथ में रखता है अतः उस पर किसी अन्य तत्त्व के नियन्त्रण का प्रश्न ही नहीं उठता। वह तो परम स्वतन्त्र है, देश तथा काल की सीमा से परे है; कालातीत एवं विश्वोत्तीर्ण है। विश्व से अभिप्राय यहां भौतिक जगत् अथवा अशुद्ध सृष्टि से ही है, अतः इसके पदार्थों का सर्जन तथा नियन्त्रण जिस काल द्वारा होता है वह सकल, सावयवी एवं अशाश्वत है। इसके विपरीत महेश्वर की सृष्टि में 'काल' का नियम लागू नहीं होता अतः हम उसे 'अकल' काल अथवा 'अकाल' कह सकते हैं। अर्थात् वह निरवयवी एवं शाश्वत है। इसकी कोई इयत्ता नहीं है। चाहे वह शांकर वेदान्त का 'ब्रह्म' हो अथवा प्रत्यभिज्ञा दर्शन का 'महेश्वर' दोनों ही कालातीत अर्थात् अकाल हैं। शंकर ब्रह्म की यथार्थ सत्ता का निरूपण करते हुए कहते हैं कि वह प्रतीत रूप, दैशिक, भौतिक एवं चेतन जगत् से भिन्न है। ब्रह्म के बारे में यह प्रकल्पना कर ली जाती है कि वह मूलभूत तत्त्व है, यद्यपि उसे किसी भी रूप में द्रव्य नहीं कहा जा सकता। इसके अस्तित्व के लिए किसी देश अथवा काल की आवश्यकता नहीं, यद्यपि यह कहा जा सकता है कि यह सर्वत्र विद्यमान है; क्योंकि सभी वस्तुएं अपने अस्तित्व के लिए इसी पर निर्भर रहती हैं। चूंकि यह स्वयं कोई वस्तु या पदार्थ नहीं है अतः अन्य किसी भी वस्तु के साथ इसके दैशिक सम्बन्ध नहीं हो सकते। सामान्य अर्थों में हम इसे कारण भी नहीं कह सकते, क्योंकि इसका अर्थ होगा कालिक सम्बन्धों का समावेश।[9] शंकर जब ब्रह्म का निरूपण करते हुए कहते हैं कि वह न तो सत् है और न असत्, तो इसका अर्थ यह होता है कि यह प्रयोग उन अर्थों के दृष्टिकोण से है जिससे हम आनुभाविक जगत् की भावात्मक तथा अभावात्मक वस्तुओं को जानते हैं। अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि अमुक वस्तु ब्रह्म नहीं है, किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि

ब्रह्म है क्या। यह, स्थिरता अथवा परिवर्तन, समग्रता अथवा एक भाग, सापेक्ष अथवा निरपेक्ष, सीमित अथवा असीम आदि परस्पर विरोधी भावों के ऊपर आश्रित पदार्थों से अतीत है। सीमित वस्तु सदैव अपने से ऊपर की ओर बढ़ती है, किन्तु ऐसी कोई वस्तु नहीं जिस तक अनन्त पहुंच सके और यदि वह ऐसा करता है तो अनन्त नहीं रह सकेगा। यदि हम इसे अनन्त अथवा 'अकाल' कहें तो इसे सीमित के केवल निषेधात्मक रूप के समान नहीं मानना चाहिए।

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार अनुत्तर परमशिव सर्वश एवं सर्वदा संवित् रूप ही होता है। यहां तक कि जड वस्तुओं के आभास-काल में भी उसकी संविद्रूपता बनी रहती है। जड पदार्थ की सत्ता तभी सिद्ध होती है जब चेतन की संवित् के भीतर उसका आभास हो। इस प्रकार चेतन की संवित् में आभासित होता हुआ जड पदार्थ भी आभास-क्षण में चेतन ही होता है क्योंकि संवित् ही उस जड पदार्थ के रूप को धारण करती हुई उसको आभासित करती है। यदि ऐसा न होता तो जड का आभास होता ही नहीं। आभास संवित् का स्वभाव है, जड का नहीं। इस प्रणाली के अनुसार स्थावर तथा जंगम सभी पदार्थ वस्तुतः संवित् स्वरूप होते हैं, यद्यपि अज्ञानवश प्राणियों को ऐसा बोध नहीं हो पाता। इस प्रकार संवित्स्वरूप महेश्वर सदैव संवित् ही होता है। देशकृत, कालकृत अथवा आकारकृत कोई भी संकोच उस अनुत्तर संवित् पर लागू नहीं होता; बल्कि उसी संवित् के स्पन्दन से देश, काल तथा आकारों का आभास होता है। अतः वह इन तीनों संकोचों का आधार होता हुआ स्वयं इनके प्रभाव से सर्वथा मुक्त रहता है। इस प्रकार परमशिव सर्वात्मना असीम तथा कालातीत है। वह अकाल तथा परिपूर्ण है। प्रमाता, प्रमेय एवं प्रमाण के रूप में जो कुछ भी अवभासित होता है वह शुद्ध संवित् के भीतर सदैव विद्यमान रहता है।[10] परन्तु यह सब उसके अन्दर उस प्रकार नहीं रहता जिस प्रकार एक घर के लोग तथा घर का सामान रहता है, अपितु जिस प्रकार तिलों में तेल या दूध में मलाई तथा मक्खन आदि वस्तुएं विद्यमान होती हैं। जिस प्रकार तेल की तिल से पृथक् सत्ता नहीं होती अथवा मक्खन या पनीर आदि दूध से भिन्न नहीं होते, उसी प्रकार यह समस्त जगत् उस शुद्ध संवित् में अव्यतिरिक्त रूप से विद्यमान रहता है। इस प्रकार अनुत्तर संवित् अथवा महेश्वर अपने भीतर समस्त विश्व को धारण करता हुआ सदैव पूर्ण संवित् रूप में विद्यमान रहता है। जिस समय उसमें विश्व का सर्जन होता है उस समय भी वह संवित् पूर्ववत् परिपूर्ण रहती है। सृष्टि अथवा संहृति के कारण उसकी परिपूर्णता तथा सर्वकालता में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुत्तर परम शिव शुद्ध असीम तथा परिपूर्ण होता है तथा इस पर देश एवं काल आदि संकोचों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म भी यद्यपि कालादि संकोचों से मुक्त होता है किन्तु उसके अन्दर जगत् की स्थिति नहीं स्वीकार की गई है। इस प्रणाली के अनुसार अविद्या ही जगत् को व्यावहारिक सत्ता प्रदान करती है। ब्रह्म में ऐसा करने का सामर्थ्य नहीं होता क्योंकि वह विमर्शमयता से सर्वथा शून्य है। किन्तु शिव प्रकाशविमर्शमय है तथा वही इस विश्व को अपने से भिन्न रूप में प्रकट करता हुआ उसे व्यवहार भूमि पर प्रतिष्ठित करता है। इस प्रकार समस्त ब्रह्मांड को सत्ता प्रदान करने के कारण उसे जगत् का परिपूरक भी माना जाता है।[11]

परमशिव का कालमुक्त स्वभाव तथा विमर्शात्मकता ही उसकी परमेश्वरता है। इसी के प्रभाव से वह सदैव सृष्टि एवं संहार आदि के प्रति उन्मुख बना रहता है। यदि उसमें सृष्टि एवं संहारादि के प्रति उन्मुखता न होती तो वह शून्य गगन के समान जड, रिक्त तथा अनीश्वर होता। यह विमर्शरूपता अथवा शक्तिरूपता उसका स्वातन्त्र्य कहलाता है। अपने से भिन्न किसी भी वस्तु की अपेक्षा के बिना ही सृष्टि, स्थिति तथा संहार आदि क्रियाओं का चलते रहना भी उसके स्वातन्त्र्य का विलास है।

अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को शान्त एवं स्पन्दहीन माना जाता है। इसका कारण यह है कि यदि ब्रह्म में स्पन्दशीलता की सत्ता स्वीकार करें तो उसमें परिणमनशीलता की शंका हो सकती है। परन्तु प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार परिपूर्ण एवं स्वतन्त्र सत्ता में विकार के लिए कोई स्थान नहीं। परिपूर्ण में सब कुछ समा सकता है और स्वतन्त्र सब कुछ कर सकता है। अतः परमेश्वर अपने अद्वैत और अभिन्न महाप्रकाश के भीतर विश्वमयी लीला का अवभासन करता रहता है और शुद्ध प्रकाश बना रहता है। उसकी शुद्ध प्रकाशमयता में कोई अन्तर नहीं आता। सतत् गति से स्थिर रहने वाली उसकी शुद्धप्रकाशता उसका अचल स्वभाव है। इसी स्वभाव के कारण वह कालनिरपेक्ष होकर एक ही स्वरूप में स्थिर रहता है। उसके स्वभाव का एक दूसरा पहलू भी है। वह है उसकी परमेश्वरता की अनुपम, असीम तथा परिपूर्ण क्रीडा जिसके कारण पंचकृत्यों की लीला का अभिनय चलता रहता है। वस्तुतः ये दोनों उसकी परमेश्वरता अथवा स्वातन्त्र्य के दो छोर हैं। एक उसका प्रकाशरूप होने का अविचल पहलू है जिसके कारण वह 'शिव' कहलाता है तो दूसरा पंचकृत्य-विधान की दृष्टि से उसका सतत् प्रवृत्तिकारी पहलू है जिसके आधार

पर उसे 'शक्ति' कहा जाता है। शिवता उसकी ज्ञानात्मकता है और शक्तिता क्रियात्मकता। शिवता उसकी स्थिरता है और शक्तिता गतिशीलता। वह एक साथ ही स्थिर भी तथा अविचल भी है और गतिशील भी। शिवता की स्फुट अभिव्यक्ति में शक्तिता अस्फुट हो जाती है और शक्तिता की स्फुट अभिव्यक्ति में शिवता अस्फुट हो जाती है। सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो ये दोनों भाव सतत् गति से अभिव्यक्त होते ही रहते हैं। इनके बीच परस्पर कोई कालक्रम तो है ही नहीं। परमेश्वर एक साथ ही अविचल और विश्वोत्तीर्ण शिव भी है तथा गतिशील और विश्वमय शक्ति रूप भी। वस्तुतः इन दोनों पहलुओं में किसी प्रकार का भेदात्मक सम्बन्ध ठहर नहीं सकता; क्योंकि दोनों परस्पर सर्वथा अभिन्न हैं तथा एक दूसरे के अभिव्यंजक एवं परि-पोषक हैं।

महेश्वर की शक्तिमत्ता में क्रियात्मकता की अभिव्यक्ति होती है। इसी कारण वह गतिशीलता कहलाती है। गति शब्द से अभिप्राय यहां स्थूल पदार्थों की संचरणशीलता से नहीं लेना चाहिए। न ही इसे सुख, दुःख आदि मानस गति ही समझना चाहिए। इसी प्रकार शक्तिस्वरूपा गति को प्राण-सम्बन्धिनी क्षुत्पिपासा निद्रा आदि गति भी समझना उचित नहीं होगा। ये तीनों प्रकार की गतियां कल्पित गतियां होती हैं और इनका अवभास केवल द्वैत की भूमिका में सम्भव होता है। शुद्ध संवित् की शक्ति रूपा गति वस्तुत. चेतना के विमर्श की गति है। इसे चेतना का आनन्दात्मक चमत्कार कहा जा सकता है। शुद्ध, असीम तथा परिपूर्ण चेतना को सदैव स्वात्मविमर्श होता ही रहता है। उसका विमर्शन ही उसकी सूक्ष्मतर क्रिया है। यही उसकी गति-शीलता है। महेश्वर की इस गतिशीलता को त्रिकशास्त्र में स्पन्द नाम दिया गया है। यहाँ स्पन्द एक साथ चलने वाली अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी गति को कहा जाता है। इसी स्पन्द के प्रभाव से परमशिव सतत् गति से अपनी विश्वो-त्तीर्णता का विमर्श करता है और यह उस स्पन्द की अन्तर्मुखी गति होती है। साथ ही साथ वह इस स्पन्द ही की महिमा से अपनी विश्वमयता का भी सूक्ष्मतर विमर्श करता रहता है। यह उस स्पन्द की बहिर्मुखी गति होती है। इन दोनों विमर्शों का स्वरूप उस अभेद की दशा में केवल एकमात्र, शुद्ध, असीम और परिपूर्ण 'अहम्' ही होता है। विश्वमयता की अभिव्यक्ति के प्रति जो उसकी उन्मुखता का विमर्श होता है वही उसकी इच्छा का रूप धारण करता है। सारांश यह कि महेश्वर को अपनी शक्ति को पूर्णतया अभिव्यक्त करने की इच्छा सदैव होती रहती है। वह सदैव इस इच्छा से आवेष्टित रहता

है। यह इच्छा भी जब आगे स्पन्दन करती है, तो शुद्ध प्रकाश के भीतर एकमात्र 'अहम्' के रूप में ठहरा हुआ अखिल जगत् 'इदम्' के रूप में भी अवभासित होने लगता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'काल' एवं 'अकाल' दोनों ही विश्व-प्रक्रिया से अनन्य रूप से जुड़े हुए हैं। इनके बिना विश्व-व्यवस्था अथवा जीवन-संचार सम्भव नहीं है। प्रत्ययवादी तथा वस्तुप्रत्ययवादी प्रणालियों में माया की परिकल्पना दृश्यमान् जगत् की उत्पत्ति एव बोध को दृष्टि में रखकर की गई है। अब देखना यह है कि माया में 'काल' तथा 'अकाल' सिद्धान्त कहां तक विद्यमान हैं तथा विश्व-रचना-बोध में उनकी क्या उपादेयता एवं भूमिका है।

माया में काल तथा अकाल के उद्‌भावक तत्त्व

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में अशुद्ध सृष्टि का अधिष्ठाता अनन्त को माना गया है। अनन्त माया में क्षोभ उत्पन्न करके उसे पांच तत्त्वों में विभक्त करते हैं। इन पाँचों को माया का विस्तार कहा जा सकता है। इनमें पांचों तत्त्व कंचुक कहलाते हैं। इनमें से पांचवा कंचुक 'काल' कहलाता है। यह काल वस्तुतः प्रमाता के स्वरूप में संकोच उत्पन्न कर देता है। प्रमाता वास्तव में शुद्ध एवं असीम संवित् है। किन्तु माया जब उसके भीतर संकोच का अवभास उत्पन्न करती है तो वह इसके प्रभाव से ऐसी कल्पना करने लग जाता है कि 'मैं था', 'मैं हूँ', 'मैं होऊंगा' आदि। संवित्स्वरूप होने के कारण प्राणी वस्तुतः एक क्रमरहित तत्त्व है। परन्तु महेश्वर की उस काल शक्ति के प्रभाव से जो क्रम को आभासित करने के प्रति उन्मुख बनी रहती है और माया की भूमिका में अपने प्रभाव को अभिव्यक्त करती है, वह अपने ऊपर क्रम की कल्पना करता है और उस कल्पना को सुदृढ़ करके ऐसा समझ बैठता है कि 'मैं था', 'मैं हूँ', 'मैं होऊँगा' इत्यादि।[12] प्रमाता की क्रमरूपता के आभास का कारण होने के कारण उसका संकोच काल तत्त्व कहलाता है। व्यवहार में तो क्रमरूपता ही काल कहलाती है। क्रियाओं के वैचित्र्य के आधार पर तो कालक्रम की कल्पना की जाती है और मूर्तिवैचित्र्य के आधार पर देशक्रम की।[13] इन दोनों ही क्रमों का आधार सम्बन्धरूपता है। सम्बन्ध भी वस्तुतः कल्पना पर आधारित है। राजा पर स्वामित्व की कल्पना एक पृथक् कल्पना है और सेवक पर सेवकत्व की कल्पना पृथक्। सेवक स्वयं सेवक नहीं। वह राजा रूपी प्रभु की कल्पना की अपेक्षा से सेवक है। इसी प्रकार राजा का स्वामित्व भी राजा का नैसर्गिक स्वभाव नहीं कहा जा सकता। सेवक पर सेवकत्व की कल्पना ही राजा के स्वामित्व की कल्पना का आधार है। अर्थात् ये दोनों

सम्बन्ध अन्योन्याश्रित हैं। किसी कल्पना करने वाले प्रमाता की संवित् जब राजा और सेवक दोनों परस्पर भिन्न पदार्थों को व्याप्त करती हुई उन दोनों की परस्पर सापेक्ष और अनुसन्धानात्मक कल्पना को आभासित करती है तब राजा का आभास स्वामी के रूप में और सेवक का आभास सेवक के रूप में होता है।[14] वास्तव में इस सम्बन्ध-कल्पना में राजा और सेवक दो ही पदार्थों की सत्ता है। उनके परस्पर स्वामि-सेवक-भाव सम्बन्ध की कोई भी सत्ता नहीं। वह तो प्रमाता के मानस-पटल पर प्रकट होने वाला भाव है। प्रमाता जब अनेक पदार्थों को अपनी कल्पना-लोक में एक सूत्र में आबद्ध कर लेता है तो उन पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध का आभास हो जाता है।[15] इस प्रकार अनेकता में एकता का कल्पनात्मक विशेष विमर्श ही वस्तुतः सम्बन्ध कहलाता है। कल्पना के संसार में कल्पना ही के प्रकाश से आभासित होती हुई काल्पनिक सम्बन्धरूपता के आधार पर विश्व के समस्त व्यवहार चलते हैं। इस सम्बन्धरूपता के दो और प्रकार हैं—कालक्रम तथा देशक्रम। स्वय सम्बन्धरूपता तथा ये दोनों प्रकार के क्रम प्राणियों के स्वरूप पर इतने आरूढ़ हो चुके हैं कि वे इन तीन कल्पनाओं से मुक्त कोई भी व्यवहार करते ही नहीं। जो कुछ कर्तृत्व अथवा ज्ञातृत्व व्यापार है उस सब पर ये तीनों व्याप्त रहते हैं। काल-सम्बन्ध तो प्राणी के स्वरूप में ही ओतप्रोत होकर रहता है, किन्तु देश-सम्बन्ध उसे स्थूल या सूक्ष्म शरीर के द्वारा ही व्याप्त कर लेता है। हमारे ऊपर इन तीन कल्पनाओं के इस तरह से आरूढ़ होकर रहने के आधार पर कुछ अधुनातन भौतिक वैज्ञानिकों ने इन तीनों को नित्यसिद्ध पदार्थ मान लिया था। परन्तु अब यह धारणा शनैः शनैः परिवर्तित होती जा रही है।

इस प्रकार हम देखते है कि महेश्वर की कालशक्ति की अभिव्यक्ति द्वारा जो क्रिया-वैचित्र्य का आभास होता है, उसी के आधार पर कालक्रम की कल्पना की जाती है। जीवन में कुछ घटनाओं का क्रम नियत होता है, जैसे—सूर्योदय, सूर्यास्त आदि। किन्तु कुछ ऐसी अनेक घटनायें होती हैं जिनका कोई नियत क्रम नहीं होता, जैसे प्राणियों के जन्म तथा मरण, सुख-दुःख, गमनागमन, शयन-जागरण आदि। इस प्रकार लोक-जीवन में नियत घटनाओं के क्रम से अनियत घटनाओं का मापन करके ही हम कालिक व्यवहार करते हैं कि 'उषा दो घण्टे पढ़ती रही', 'मानस सौ वर्ष तक जीता रहा', 'पूरी रात आँधी चलती रही' आदि।[16] इस प्रकार क्रमरूपता ही कालिक व्यवहार का आधार है। किन्तु क्रम तो संकुचित पदार्थों में ही हो सकता है और संकोच का अवभास माया के कारण होता है। काल भी माया का विस्तार है जो

प्रमाता के स्वरूप में विस्तार उत्पन्न करके उसके अन्य कंचुकों, कला और विद्या, को भी व्याप्त कर लेता है। वह कला और विद्या द्वारा अपने प्रमेयों के भीतर भी कालक्रम का संचार करता हुआ उन्हें काल के भीतर ही इस प्रकार जानता और करता है कि अमुक वस्तु थी, अमुक है, अमुक होगी तथा अमुक कार्य को किया, अमुक को करता हूं, अमुक को करूंगा आदि। प्रमाता पर काल की कल्पना का परिणाम यह होता है कि माया के क्षेत्र में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं होती जो कालकलित न हो।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्त लोक-व्यवहार काल द्वारा संचालित, संक्रमित एवं नियन्त्रित है और उसके पीछे प्रेरक शक्ति है—माया। अपने भेदमूलक स्वभाव तथा तिरोधानकारी दृष्टि के कारण माया प्रमाता में भेद-दृष्टि अथवा संकोच उत्पन्न करती है, जिसके कारण उसे अपने से अभिन्न विश्व भिन्न जैसा प्रतीत होने लगता है, और इस संकोच की अभिव्यक्ति वह काल के माध्यम से करती है। इस प्रकार माया के अवच्छेदक तत्त्व के रूप में काल विश्व-प्रक्रिया में अनिवार्य भूमिका निभाता है। उसके बिना विश्व के कर्तृत्व अथवा ज्ञातृत्व व्यापारों की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं। जहां तक अकाल तत्त्व का प्रश्न है उसके अंकुर भी माया में विद्यमान हैं। माया परम-पूर्ण तथा अकाल परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति का नाम है। इसकी अभि-व्यक्ति वह कालनिरपेक्ष होकर करता है। यह स्वातन्त्र्य उसकी अनन्य इच्छा है, तथा यह विश्व उस इच्छा का प्रसार (अनन्य इच्छा प्रसरः)। अतः वह जब भी चाहता है इसकी अभिव्यक्ति कर देता है। यह इच्छा भी जब आगे स्पन्दन करती है तो शुद्ध प्रकाश के भीतर एक मात्र 'अहम्' के रूप में स्थित, विश्व, 'इदम्' के रूप में प्रकाशित हो उठता है। 'अहंभाव' प्रमातृता होती है और 'इदंभाव' प्रमेयता। शनैः शनैः इस प्रमेयता का आभास स्फुट एवं स्फुट-तर होने लगता है और प्रमातृता का आभास क्षीण होने लगता है। आगामी भूमिका में स्पन्दन के प्रभाव से प्रमेयता प्रमातृता से सर्वथा पृथक् रूप में आभासित होती है। यह दशा पूरे भेद की दशा होती है। इस स्फुट भेद की दशा में प्रमातृ तत्त्व को पुरुष और प्रमेय तत्त्व को प्रकृति कहते हैं। इस स्फुट भेद के अवभासन में माया का प्रभाव प्रकट होता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में संविद्रूवता का तिरोधान करने वाली एवं प्रमाता में भेद-दृष्टि उत्पन्न करने वाली शक्ति को माया कहा जाता है। उस माया की सृष्टि भी स्पन्द की आगे-आगे बढ़ने वाली बहिर्मुखी गति से होती है। स्पन्द की उसी गति के आगे प्रकृति का परिणाम होता है और क्रम से सांख्य शास्त्र के तेईस विकृति तत्त्वों की सृष्टि होती है। उन तत्त्वों से अनन्त प्रकार के भुवनों, भावों तथा

शरीरों की सृष्टि भी स्पन्द की ही गति से होती है। यह समस्त सृष्टि स्पन्द की बहिर्मुखी गति ही से होती है। उसकी अन्तर्मुखी गति से ये पच्चीसों तत्त्व और इन तत्वों से ऊपर के सभी तत्त्व भी क्रम से पुनः शुद्ध संवित् के भीतर विलीन हो जाते हैं।

इस सृष्टि और संहृति के क्रम में तीन मुख्य भूमिकायें अभिव्यक्त होती हैं। पहली भूमिका शक्ति भूमिका कहलाती है। यह सर्वथा अभेद की भूमिका होती है। दूसरी भूमिका में शुद्धप्रकाश रूपी प्रमाता के भीतर ही प्रमेय का भी आभास होने लगता है। परन्तु दोनों का अभेदभाव भी प्रकट होता रहता है। अर्थात् यह भेदाभेद की भूमिका होती है। दूसरे शब्दों में यह विद्या भूमिका कहलाती है। वेदान्त में विद्या का अभिप्राय 'अद्वैत ज्ञान' से होता है किन्तु शैव मत में इस शब्द से कई अर्थों की अभिव्यक्ति होती है। भेद और अभेद की मिली-जुली दृष्टि को यहां शुद्ध विद्या कहा जाता है। इस भूमिका के प्राणी जगत् तथा अपने आपको 'अहम् इदम्' अथवा 'इदम् अहम्' के रूप में देखते हैं। अर्थात् इस भूमिका में भेद और अभेद दोनों दृष्टियाँ बनी रहती हैं। तीसरी भूमिका सर्वथा भेद की भूमिका होती है। यह भूमिका माया-भूमिका कहलाती है। वेदान्त में माया ब्रह्म की मिथ्या उपाधि मात्र होती है जिससे युक्त होकर वह ईश्वर के रूप में प्रकट होकर सृष्टि संहार आदि व्यापारों का निष्पादन करता है। किन्तु काश्मीर शैव दर्शन में माया का परिप्रेक्ष भिन्न है। वह तत्त्वों का उपादान कारण होने के कारण माया तत्त्व है, स्वात्मस्वरूप की भेददृष्टि रूपी आवरण होने के कारण मायीय मल है, भेदप्रथा की विधात्री होने के कारण माया भूमिका है और अकाल एवं परिपूर्ण परमेश्वर का सामर्थ्य-भाव होने के कारण माया शक्ति है। इस प्रकार अनेक रूपों में अभिव्यक्त होकर माया विश्व का प्रथन तथा इसके अनेक व्यापारों का निष्पादन करती है। इसमें काल तथा अकाल दोनों ही तत्त्व अनन्य भाव से विद्यमान हैं और इनकी गतिशीलता अथवा स्पन्दन विश्व के नाना व्यापारों के रूप में अभिव्यक्त होता है। काल के माध्यम से यह भेद-दृष्टि तथा अशुद्ध सृष्टि एवं अकाल के माध्यम से अभेद-दृष्टि और शुद्ध सृष्टि उत्पन्न करती है, क्योंकि अकाल स्वयं परमेश्वर हैं और परमशिव के रूप में वह शुद्ध सृष्टि के अधिष्ठाता हैं।

इस प्रकार माया विश्व-प्रक्रिया के नियामक तत्त्व काल के शाश्वत एवं अशाश्वत दोनों रूपों की विनियोजना-शक्ति के रूप में अभिव्यक्त होकर विश्व-रचना-बोध एवं नाना वैचित्र्य का अवभासन करती है तथा भेद के माध्यम से अभेद की प्रतीति उत्पन्न करके पूर्णाद्वैत की प्रतिष्ठा करती है।

साथ ही विश्व के विषय में वह एक यथार्थमूलक व्यावहारिक एवं उपयोगितावादी दृष्टि को जन्म देती है जिससे जीवन, जगत् तथा जगदाधार तीनों के सम्बन्ध को सही परिप्रेक्ष में समझ कर हम जगत् के प्रति मिथ्यात्व अथवा भ्रम एवं वैयर्थ्य (शून्यता) की भावना छोड़ दें और विश्व को एक सार्थक एवं सारभूत सत्ता के रूप में स्वीकार करें।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियां

1. यस्मादर्वाक्संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते।
तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्।

बृहदा० उपनि०, 4.4.16

2. द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे कालश्चाकालश्चाथ यः प्रागादित्यात्सोऽकालोऽकलोऽथ य आदित्याद्यः स कालः सकलः·········।

मैत्रा० उपनि०, 6.15

3. तस्य क्रमाक्रमकलनैव कालः स च परमेश्वर एव अन्तर्भाति, तद्भासनं च देवस्य कालीनाम शक्तिः।

तं० सा०, पृ० 45-46

4. अध्वनः कलनं यत्तत्क्रमाक्रमतया स्थितम्।
क्रमाक्रमौ हि चित्रैक कलना भावगोचरे।।

तंत्रा०, 6.6

5. यद्धि लोकइयत्तापरिच्छन्नं वस्तु घटादि तद् अन्तवद् दृष्टम्।

शां० भा०, 2.2, 41

6. बर्गसां, क्रियेटिव माइन्ड, पृ० 14
7. बर्गसां, क्रियेटिव माइन्ड, पृ० 222
8. मैत्रा० उपनि०, 6.1.15
9. कार्यकारणव्यतिरिक्तस्यात्मनः सद्भावः·········अशनायादिसंसारधर्मातीतत्वं विशेषः।

शां० भा०, 3·2, 23

10. तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन्।
भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छया भासयेत् बहिः।।

ई० प्र०, 1.६.7

11. यावस्था भरिताकारा भैरवी भैरवात्मनः ।
तद्वपुस्तत्त्वतो ज्ञेयं विमलं विश्वपूरणम् ।।

वि० भै०, 16

12. काल : क्रममासूत्रयन् प्रमातरि विजृम्भमाणस्तदनुसारेण प्रमेयेऽपि प्रसरति । योऽहं कृशोऽभवं स स्थूलो वर्ते, भविष्यामि स्थूलतरः इत्येवमात्मानं देहरूपं क्रमवन्तमिव परामृशंस्तत्सहचारिणी प्रमेयेऽपि भूतादि रूपं क्रमं प्रकाशयति ।

ई० प्र० वि०, 3.1.9

13. मूर्ति वैचित्र्यतो देशक्रममाभासयत्यसौ ।
क्रिया वैचित्र्यनिर्भासात् कालक्रममपीश्वरः ।।

ई० प्र० वि०, 2.1.5

14. भेदाभेदात्मसम्बन्धसहसर्वार्थसाधिता ।
लोकयात्रा कृतिर्यस्य स्वेच्छया तं स्तुमः शिवम् ।।

सं० सि०, 1

15. स्वात्मनिष्ठा विविक्ताभा भावा एकप्रभातरि ।
अन्योन्यान्वयरूपैक्ययुजः सम्बन्धधीपदम् ।।

ई० प्र०, 2.2.4

16. ये इयत्तया परिनिष्ठिता आभासाः सिद्धाः तद्यथा चन्द्रसूर्यादीनां सहकारमल्लिकाकुटजादीनां शीतोष्णादेः परभृतभूदविलासादेः त एव कालः । यतोऽपरिनिष्ठितं गमनपठनादि तैरियत्तया परिनिष्ठीयते, परिवर्तकैरिव कनकम्, स एव च सूर्यादीनां स्वभावविशेषस्तत्त्वतः परमार्थतः क्रमो । नान्यः कश्चित् क्रमो नाम । क्रम एव च कालो, नान्योऽसौ कश्चित् ।

ई० प्र० वि०, 2.1.3

सन्दर्भ-स्रोत

आगम-ग्रन्थ

मालिनीविजयतंत्र, काश्मीर-संस्कृत-ग्रंथावली

विज्ञानभैरव (शिवोपाध्यायकृत टीका सहित), काश्मीर-संस्कृत-ग्रंथावली

स्वच्छन्दतन्त्र, काश्मीर-संस्कृत-ग्रन्थावली

प्रत्यभिज्ञादर्शन

अभिनवगुप्त, ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी—2 खण्ड, काश्मीर-संस्कृत-ग्रंथावली

अभिनवगुप्त, ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी 1-3 (प्रो० कु० अ० सुब्रह्मण्य-अय्यर तथा डा० कांतिचन्द्र पाण्डेय द्वारा प्रत्यभिज्ञाकारिकाओं एवं भास्करी सहित सम्पादित एवं अंग्रेजी में अनूदित), इलाहाबाद

अभिनवगुप्त, ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी, काश्मीर-संस्कृत-ग्रंथावली

अभिनवगुप्त, तन्त्रालोक 1-12, काश्मीर-संस्कृत-ग्रंथावली

अभिनवगुप्त, तन्त्रसार, काश्मीर-संस्कृत-ग्रंथावली

अभिनवगुप्त, परमार्थसार, काश्मीर-संस्कृत-ग्रंथावली

अभिनवगुप्त, परात्रिशिकाविवृति, काश्मीर-संस्कृत-ग्रंथावली

अभिनवगुप्त, महार्थमंरी (महेश्वरानन्द कृत परिमलव्याख्या सहित), काश्मीर-संस्कृत-ग्रंथावली

अभिनवगुप्त, मालिनीविजयवार्तिक, काश्मीर-संस्कृत-ग्रन्थावली

अभिनवगुप्त, नीलमत, चौखम्भा, वाराणसी

अभिनवगुप्त, नेत्र तंत्र, काश्मीर-संस्कृत-ग्रंथावली

उत्पल, शिवस्तोत्रावली (क्षेमराजकृत टीकासहित) चौखम्भा, वाराणसी

उत्पल, सिद्धित्रयी, काश्मीर-संस्कृत-ग्रंथावली

कृष्णद्वैपायन व्यास, श्रीमद्भगवद् गीता, गीताप्रेस, गोरखपुर

भट्ट कल्लट, स्पन्दकारिका, काश्मीर-संस्कृत-ग्रन्थावली

भट्ट नारायण, स्तवचिन्तामणि, काश्मीर-संस्कृत-ग्रन्थावली

वरदराज, शिवसूत्रवार्तिक, काश्मीर-संस्कृत-ग्रन्थावली

सोमानन्द, शिवदृष्टि (उत्पलकृत वृत्ति सहित), काश्मीर-संस्कृत-ग्रंथावली
क्षेमराज, प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, काश्मीर-सस्कृत-ग्रंथावली
क्षेमराज, प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (जयदेवसिंहकृत अंग्रेजीअनुवादसहित), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
क्षेमराज, प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (जयदेवसिंहकृत, हिन्दीअनुवादसहित), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
क्षेमराज, प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (विशालप्रसाद त्रिपाठीकृत हिन्दी-अनुवाद, विस्तृत भूमिका तथा टिप्पणियों-सहित), नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
क्षेमराज, शिवसूत्रविमर्शिनी, काश्मीर-संस्कृत-ग्रन्थावली
क्षेमराज, स्पन्दनिर्णय, काश्मीर-संस्कृत-ग्रंथावली
क्षेमराज, षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह, काश्मीर-संस्कृत-ग्रंथावली

शैवेतर मूल ग्रंथ

अल्लम प्रभु, प्रभुलिंगलीला
अप्पय दीक्षित, सिद्धान्तलेशसंग्रह, चौखम्भा, वाराणसी
अप्यय दीक्षित, उपनिषद् संग्रह, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, प्रो० ब्रजमोहन चतुर्वेदीकृत हिन्दी-अनुवाद एवं विस्तुत व्याख्या-सहित, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
कल्हण, राजतरंगिणी, हिन्दी प्रचारक-संस्थान, वाराणसी
नागार्जुन, माध्यमिक कारिका, विब्लिओथिका बुद्धिका
मधुसूदन सरस्वती, अद्वैतसिद्धि, बम्बई संस्करण
माधव, सर्वदर्शन-संग्रह, आनन्द आश्रम प्रेस, पूना
रामानुज, श्रीभाष्य, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
रेणुकाचार्य, सिद्धान्तशिखामणि
वाचस्पति मिश्र, भामती, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
शंकर, ब्रह्मसूत्र भाष्य, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
श्रीनिवास, यतीन्द्रमतदीपिका,

हिन्दी ग्रंथ

कान्तिचन्द्र पाण्डेय, स्वतन्त्रकलाशास्त्र, चौखम्भा, वाराणसी
गोपीनाथ कविराज, भारतीय संस्कृति और साधना, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
तिलक, गीता रहस्य, पुणे

बलजिन्नाथ पण्डित, शास्त्री, काश्मीर शैवदर्शन, श्री रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू
राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, 1, 2 राजपाल एण्ड संस, दिल्ली
रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, वैष्णव तथा शैवमत, पुणे
सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास 1-5, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ एकादमी, जयपुर

अंग्रेजी ग्रन्थ

अरविन्द, लाइफ डिवाइन, अरविन्द आश्रम, पांडिचेरी
अनिल कुमार राय चौधरी, द डॉक्ट्रिन ऑफ माया, कलकत्ता
बी० भट्टाचार्य, शैविज्म एण्ड द फैलिक वर्ल्ड, आई० बी० एच० कम्पनी, कलकत्ता
बर्गसाँ, क्रियेटिव इवोल्यूशन
सी० डी० शर्मा, ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ इन्डियन फिलॉसफी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
सी० हयवरन राव, श्रीकरभाष्य
डयूसन, सिस्टम आफ द वेदान्त, एडिनबरा
ई० बी० कोवेल एण्ड एच० ई० गफ, सर्वदर्शनसंग्रह (अंग्रेजी अनुवाद)
एफ० एच० ब्रैडले, अपियरन्स एण्ड रियलिटी, ऑक्सफोर्ड
हरीपाद चक्रवर्ती, पाशुपत-सूत्रम्,
एच० डी० लेविस, द स्टडी आफ रैलीजन्स,
एच० एन० कौल, ए सर्वे ऑफ द ओरिजन ऑफ द पिउपल ऑफ काश्मीर, काश्मीर टूडे, 3 . 1, सित० 1958
जे० क्लेटन फीवर एण्ड विलियम हीरोज़, रेलिजन इन फिलॉसाफिकल एण्ड कल्चरल पर्सपेक्टिव, न्यूयार्क
जदुनाथ सिन्हा, स्कूल्स ऑफ शैविज्म
जदुनाथ सिन्हा, प्राबलेम्स ऑफ पोस्ट शंकर अद्वैत वेदान्त,
जे० रुद्रप्पा, काश्मीर शैविज्म, प्रसरंग, यूनिवर्सिटी ऑफ मैसूर
जे० डब्ल्यू० डूने, ऐन एक्सपेरीमेन्ट विद टाइम
कान्तिचन्द्र पाण्डेय, अभिनवगुप्त, ऐन हिस्टॉरिकल एण्ड फिलॉसॉफिकल स्टडी, चौखम्भा, वाराणसी
एल० एन० शर्मा, काश्मीर शैविज्म, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी
मेक्टागार्ट, द नेचर ऑफ एक्जिस्टेन्स

एम० एस० स्टीन, राजतरंगिणी (अंग्रेजी-अनुवाद)

एन० मृगेश मुदलियार, द रेलेवेन्स ऑफ शैव सिद्धान्त फिलॉसॅफी, अन्नमलाई यूनिवर्सिटी

आर० डी० रानाडे, ए कन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलॉसॅफी, भारतीय विद्याभवन

आर० डी० रानाडे, वेदान्त द कल्मिनेशन ऑफ इन्डियन थाट, भारतीय विद्याभवन

राधाकृष्णन, हिस्ट्री ऑफ फिलासफी : ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न, लन्दन

रूथ रीना, द कान्सेप्ट ऑफ माया फ्राम वेदाज़ टू द ट्वेंटियथ सेन्चुरी, एशिया पब्लिशिंग हाउस

रसेल, बी, प्रॉबलम्स ऑफ फिलॉसॅफी, लन्दन

रसेल, बी, आवर नालेज ऑफ द एक्सटर्नल वर्ल्ड, लन्दन

सर जान मार्शल, मोहन-जो-दड़ो एण्ड द इन्डस वैली शिविलाइजेशन

एस० सी० साखरपेकर, प्रोसीडिंग्स एण्ड ट्रान्जेक्सन्स ऑफ सेवेन्थ आल इण्डिया ओरियंटल कान्फ्रेन्स, 1953

एस० सी० रे०, दी अर्ली हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ काश्मीर

एस० एस० सूर्यनारायण शास्त्री, शिवाद्वैत ऑफ श्रीकण्ठ

स्वामी श्री कुमार, द लिंग ऑफ वीर शैविज़्म, 'प्रबुद्ध भारत' अप्रैल, 1942

नामपदानुक्रमणी